UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182381

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—390—29-4-72—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 891.83 P19A Accession No. G.H 2542

Author पं० गोविंदवल्लभ पंत

Title अंजनी

This book should be returned on or before the date last marked below

अनुरागिनी

पं० गोविंदवल्लभ पंत

[वरमाला, राजमुकुट, अंतःपुर का छिद्र, अंगूर की बेटी,
सुहाग-बिंदी, प्रतिमा, मदारी, जूनिया, तारिका,
संध्या-प्रदीप, एकादशी आदि के रचयिता]

प्रकाशक

शिवाजी प्रकाशन-मंदिर,

लखनऊ।

प्रथम बार एक हजार | जून १९४४ | मूल्य ४॥)

प्रकाशक :
राधाबाई पंडित,
शिवाजी प्रकाशन-मंदिर,
लखनऊ।

मुद्रक :
गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,
हिंदी साहित्य प्रेस, प्रयाग।

मुख्य पात्र

१. गोपाल बाबू	::	एक धनपति सुधारक
२. सुंदरी	::	उनकी स्त्री
३. लीला	::	उनकी कन्या
४. विनायक शर्मा	::	एक पेंशनर
५. देवकी	::	उनकी स्त्री
६. वसंत	::	उनका पुत्र
७. भीखू	::	एक चमार
८. चुनिया	::	उसकी स्त्री
९. रमइ	::	उसका लड़का
१०. मिस जगदंबिका	::	स्त्री कॉलेज की प्रोफ़ेसर

पहला पर्व

	पृष्ठ
१. जून १८५७	१
२. प्रकाश की संधि	६
३. दो कुटुंब	२१
४. भ्रम बढ़ा	३७
५. वियोग-शृंगार	५४
६. घर छोड़ा	७०

दूसरा पर्व

१. मज़दूरी की जय	६४
२. पॉलिशवाला	११५
३. गीता का स्वप्न	१३८
४. हड़तालिए	१६५
५. उसका विवाह	१६८

तीसरा पर्व

१. प्रतिहिंसक	२४८
२ प्रथम मिलन	२७०
३. शुक्रास्त	३०२
४. रंग का वैराग्य	३२६
५. दीवार पर का लेख	३६२

अनुरागिनी

पहला पर्व

पहला परिच्छेद

जून १८५७

लखनऊ की रेज़ीडेंसी के गिरजे मे उसी दिन उनका विवाह हुआ था। वैसे संशय के भरे हुए वातावरण में! विवशता थी। वधू आसाम के एक चायबग़ीचे के मालिक की कन्या, और वर के कंधे पर तीन सितारे—एक अँगरेज़ी पलटन में कैप्टेन् था। दार्जिलिंग में दोनों की भेंट हो रही थी और एक का रूप-गुण दूसरे को विमुग्ध कर रहा था। कैप्टेन् सहसा तार द्वारा छुट्टी समाप्त होने के पहले ही बुला लिया गया। वह अपने साथ वधू और उसके चाचा को भी लखनऊ ही ले गया। वहाँ विवाह के लिए समय नहीं निकल सका था, इसलिए लखनऊ आकर ही परिणय के सूत्र में ग्रंथि दे देनी निश्चित की गई थी। वधू के चाचा के मन में भी उत्तरी भारत के सैर की इच्छा बहुत दिनों से प्रतिपालित हो रही थी।

रेज़ीडेंसी में अफ़सरों के मेस के निकट ही एक छोटी-सी कॉटेज में कैप्टेन् रहते थे। सिपाहियों के विद्रोह की आशंका बहुत दिनों से की जा रही थी। वधू के चाचा सुबह विवाह के बाद ही अपनी सैर का विचार स्थगित कर आसाम को लौट गए थे। उनके जाने की संध्या के समयतक आशंका-विश्वास में बदल गई थी। खुले विद्रोह के तीन-चार उदाहरण अफ़सरों को मिल चुके थे। मेस में रात को विराट् भोज और नृत्य था, खाने-पीने का सामान लाने के लिए जो नौकर सुबह बाज़ार गए थे, वे आठ घंटे बीत जाने पर भी नहीं लौटे!

उस नववधू का नाम था एलिस, एलिस के फूल-बासर के स्वप्न चूर-चूर होकर बिखर गए थे। वह उस घर में अकेली ही थी। पति अफ़सरों की एक बैठक में शामिल होने के लिए बुला लिए गए थे। दो नौकर—बैरा और ख़ानसामा, वे उन बाज़ार जानेवाले नौकरों में ही थे।

एकाकिनी! उस नए नगर और नवीन गृह में केवल एकाकिनी! बिचारी एलिस, विवाह के बाद ऐसा जगत उसके देखने में आया। द्वार बंदकर बहुत सतर्क हो रहने की आज्ञाएँ रेज़ीडेंसी में घुमा दी गई थीं। बाहर खिंची संगीन और भरी बंदूक़ लिए गोरे सिपाहियों के दस्ते पहरा दे रहे थे। नगर काले और सफ़ेद दो स्पष्ट विभागों में बँटने लगा था।

कभी घबराई हुई दौड़कर ड्रॉइंग रूम के काँच से प्रत्येक आहट को लौटते हुए पति के पगों की चाप समझती कभी किचन की ओर दौड़ती और समझती नौकर लौट आए बाज़ार से। उसने विवाह के वस्त्र अभी नहीं उतारे थे। समय की गंभीरता और भविष्य की भयानकता के कारण उधर उसका ध्यान ही नहीं जा सका था। सफ़ेद रेशम की कमर से गुल्फ़ों तक स्लीट पड़ी हुई गॉउन उसने पहन रक्खी थी। वह श्वेत गुलाब के फूलों का गुच्छा, जिसने प्रभात-समय उसका परिणय देखा था, ग्रीष्म के उत्तप्त मध्याह्न में झुलसकर नतमस्तक हो गया

था। और वह गिरि-शीतल पवन के झकोरों में पली कन्या, लू लपट कभी देखे ही न थे उसने, न जाने किस प्रकार उस कारागार में साँस ले रही थी!

खिड़की का परदा गिराकर वह कोच में बैठ गई। हारकर, आश्रय खोई हुई नवकोमला लता की भाँति। छाती पर का वस्त्र खींचकर उसने पंखा झला। रूमाल से कपोलों पर का पसीना सुखाया। उसके पंखा झलते हुए हाथ की गति मंद पड़ती गई और अंत में वह पंखे-सहित निश्चेष्ट होकर उसके वक्षस्थल पर विश्राम करने लगा—उसकी आँखें लग गई थीं। सड़कों पर पहरा देते हुए सैनिकों के बूटों की ध्वनि, काल में नियमित बँधी हुई, नींद लाने में सहायक हुई।

फिर खटका हुआ, बहुत भारी, धड़ाका! तोप का गोला फटा, कहीं समीप ही। एलिस का सारा कमरा काँप उठा, वायुताड़ित पत्ते के समान। दीवार पर की एक काँच-जड़ी तसवीर मुँह के बल फ़र्श पर गिर पड़ी, उसका शीशा टूट गया। एलिस भय-त्रस्त होकर उठी, किस ओर भागे, निश्चय न कर सकी। सहसा उसने बरामदे में किसी के बूटों की ध्वनि सुनी, उसमें बड़ा वेग था। एलिस द्वार की ओर बढ़ी। उसके पति-देवता! द्वार खटखटाते हुए उन्होंने पुकारा—"एलिस! एलिस! प्रिये! द्वार मुक्त करो।"

एलिस ने द्वार खोल दिया था, बोली—"शत्रु चढ़ आया?"

"हाँ, घबराने की बात नहीं है। इन्हीं पैरों से चलो।"

एलिस घर के भीतर को जाने लगी थी।

कैप्टेन् ने उसे रोककर कहा—"हर वस्तु का मोह छोड़ दो। ये जीवन से प्रिय नहीं हैं।"

एलिस की दोनों आँखों के कोने सजल हो उठे थे। रुद्ध कंठ से उसने आधे-आधे शब्दों में कहा—"मेरे जवाहिरात का बक्स?"

"जीवित रहने पर फिर जोड़ लिए जावेंगे।"

"कहाँ चलूँ?"

"बहुत तीव्रता के साथ मेरा अनुसरण कर जहाँ मैं कहूँ। द्वार लगाने का भी कोई अवकाश नहीं।" कहते हुए एलिस का हाथ पकड़कर कैप्टेन् दौड़ा।

एक हाथ से एलिस अपनी गॉउन सँभाले हुए थी। उसे चलने में बड़ा कष्ट हो रहा था। उसने कुछ रुककर पूछा, मार्ग में—"अभी और कितनी दूर ?"

"अब समीप ही। वहाँ तहख़ाने में कुछ स्त्रियों और बालकों की रक्षा का प्रबंध किया गया है।"

गोलियों की वर्षा हो रही थी, पर उनके मार्ग में वृक्षों और इमारतों की ओट थी।

दौड़ते-दौड़ते एलिस के हाथ से उसकी गॉउन का सिरा छूट गया। वह गिरते-गिरते बची। कैप्टेन् उसे गोद में उठाकर दौड़ा।

दोनों तहख़ाने के द्वार पर आ पहुँचे। सैनिकों ने मार्ग छोड़ दिया। कैप्टेन् ने धीरज बँधाते हुए एलिस से कहा—"ऐसा बालकों-सा अज्ञान मन में उत्पन्न न करो, मैं शीघ्र तुम से मिलूँगा। जाओ छिपकर अपने प्राणों की रक्षा करो।" भीतर की ओर उसका हाथ दिखकर कैप्टेन् चल दिया था।

एलिस ने फिर मुड़कर देखा। उसे मृत्यु कुछ भी भयावनी मालूम न दी। उसका पति साहस के साथ दौड़ा जा रहा था। एलिस बाहर आकर उसे फिर देखने लगी। मन में विचारने लगी, एक बंदूक़ लेकर मैं भी पति के साथ क्यों नहीं चली जाती!

एक हाथ ने पीछे से बढ़कर उसे खींच लिया। वह एक दूसरी मेम थी, बोली—"कुछ ठीक थोड़े है, कोई तोप का गोला यहाँ पर गिर सकता है। चलो नीचे।" वह एलिस को तहख़ाने में खींच ले चली।

कैप्टेन् ने अपनी टुकड़ी के पास पहुँचकर देखा, रेज़ीडेंसी के फाटक पर गोलियों की भयंकर बौछार हो रही थी। उधर कुमक भी कम थी। उसने सैनिकों को उधर ही चलने का हुक्म दिया।

बड़ी तीव्रता और बल के साथ वह सिपाहियों का कॉलम फाटक की ओर बढ़ा। कैप्टेन् पीछे था। इसी समय गोमती की ओर से एक गोली उसकी जाँघ को पार करती हुई निकल गई और दूसरी ने उसके पेट को छेद डाला। कैप्टेन् ने गिरते-गिरते अपने सैनिकों को रुक जाने का हुक्म दिया।

कैप्टेन् के पैर की हड्डी छिद गई थी। वह लाख कोशिश करने पर भी खड़ा नहीं रह सका। उसने पीठ के बल धरती पर पड़कर आगे को खिसकने की चेष्टा की। बड़ी मुश्किल से पास की एक इमारत की दीवालतक जा सका फिर अक्षम हो गया। वह दीवाल के सहारे किसी प्रकार उठ खड़ा हुआ, एक पैर से, उसने आज्ञा दी—"गोली छोड़ो।"

कैप्टेन् फिर भू-पतित हो गया। उसके मुख पर कर्त्तव्य पूरा कर सकने की आभा थी। उसको अब अपनी नवविवाहिता पत्नी की स्मृति हुई। उसने पास ही पड़ी हुई अपनी तलवार उठाई। उसकी नोक से उसने दीवार पर कुछ लिखना आरंभ किया। बड़ी कठिनता से उसने दीवाल पर अपनी पत्नी के नाम के अक्षर खुरचे—

'एलिस'

अवश्य ही वह कुछ और भी आगे को लिखना चाहता था। कदाचित् उसके लिए कोई सदेश, कोई सांत्वना के शब्द पर वह थक गया था, उसकी चेतना जवाब देने लगी थी। तलवार उसकी पकड़ से छूटने लगी। आसन्न मृत्यु उसके हाथ को, हाथ की तलवार के ही समान, जड़ और शीतल करने लगी। उसकी दोनों आँखों में आँसू भर आए, उसने प्राण त्याग दिए!

उस अतिकरुण दृश्य को रात ने अपना अंधकार डालकर छिपा दिया। जब प्रभात हुआ तो कुछ ऑफीसरों की दृष्टि वहाँ पर गई—दीवार पर 'एलिस' लिखकर मानो कैप्टेन् सोच रहा था, अब और आगे क्या लिखूँ? उसकी छाती पर पड़ा हुआ एक हाथ था और

उसके दूसरे हाथ पर थी पड़ी तलवार।

उस प्रेम और वियोग को साकार बहुतों ने देखा। एक प्रहरी वहाँ पर नियुक्त किया गया कि किसी को आगे न बढ़ने दे। एलिस अपने पति से अंतिम भेंट करने के लिए बुलाई गई। मार्ग में उसे अनेक मृत और अचेत मनुष्य दिखाए गए कि उसका कोमल हृदय अपनी गहरी चोट को सह लेने में अभ्यस्त हो। उसने अपने संज्ञा-शून्य पति को देखा और प्राचीर पर खुदी हुई पढ़ी अपनी संज्ञा। उसने दर्शकों की ओर दृष्टि की और वह बेहोश हो गई। वह वहाँ से ले जाई गई और डाक्टर उसे होश में लाने के उपचार करने लगा।

मृत्यु का वह आकर्षक-दृश्य स्थायीत्व प्रदान किए जाने योग्य था। ऑफ़ीसरों ने उसकी फोटो खींच ली। फोटो को इनलार्ज कर एक चित्रकार ने उसकी सहायता से एक जीवन-प्रतिम तैलचित्र बनाया। उसकी असल रेजीमेंट के ऑफ़ीसरों ने धन एकत्र कर ख़रीदी और अपने सहयोगी एवम् मित्र की वह सम्मानित स्मृति एलिस को समर्पित की। उस तैलचित्र की एक प्रतिलिपि राष्ट्रीय आर्ट गैलेरी में रक्खी जाने योग्य समझी गई और अच्छी रक़म ख़र्च कर उसके लिए तैयार की गई। कुछ समय बाद उसी पलटन के एक अवसर-प्राप्त ऑफ़ीसर ने 'लखनऊ की रक्षा' नामक अगरेज़ी में एक पुस्तक लिखी। उसमें उसने आँखों-देखा सचित्र वर्णन किया। उस पुस्तक के आरंभ में वह कैप्टेन की मृत्यु का चित्र दिया गया है।

एलिस को अच्छी पेंशन मिली। उसने इंगलैंड के एक गाँव में ज़मीन मोल ली, वहीं घर बनाकर खेती और अध्ययन में कालयापन करने लगी। आरंभ के दिनो में वह बड़ी देरतक पति के चित्र में, उस प्राचीर के लेख में; जो नहीं लिखा गया, उसे पढ़ने की चेष्टा करती।

समय के प्रवाह में कई दशक बह गए। जिस दीवाल पर 'एलिस' का नाम अंकित था, उस पर एक ने अपना प्रिय नाम भी बेत की नोक से खुरच दिया। यह क्रम फिर रुका नहीं, एक के बाद दूसरा

नाम उस प्राचीर पर खुदता चला। सैकड़ों पर्यटकों, तमाशबीनों, युवकों और छात्रों ने अपने या अपने प्रियजन के नामों से उस परिमित क्षेत्रफल की दीवार को ढक दिया। उनके रेखा-जाल में, वह एलिस का नाम खो गया! मानो मंत्र और मुद्राओं में प्रतिमा लुप्त हो गई! जैसे वृक्ष में बीज और बीज में वृक्ष खो जाता है।

अँगरेज़ों की बीसवीं सदी के पहले चतुर्थांश में हम आते हैं, उसके उत्तरांग में, पश्चिम के महाभारत ने राज्य बदल दिए, प्रणालियाँ बदल दीं। देश बदल दिए, उनके नक़्शे बदल दिए। भारत में भी इस लहर ने विचार को परिवर्तित किया, रहन-सहन, गृह-वस्त्र, मत-मति, फ़ैशन-रुचि, शिक्षा-दीक्षा सब में एक दूसरा ही रंग चढ़ाया।

गोमती के तट पर घूमते हुए वसंत को रेज़ीडेंसी के उस सुरक्षित भग्नावशेष ने अपनी ओर खींचा। वह अक्सर वहाँ घूमने चला जाता था, जब उसे उजड़े हुए एकांत की आवश्यकता होती। वह सामने के फाटक से उसके अंदर गया। शरद के निरभ्र-निर्मल आकाश में, मुख्य इमारत के ऊपर, यूनियन जैक फहरा रहा था। वसंत नीचे रक्खी हुई लोहे की पार्क-बेंच पर बैठ गया।

वसंत ने ध्यानपूर्वक उस भग्न भवन को देखा, मरम्मत कर जिसकी विकृति सँभाली गई थी। वसंत की कल्पना जाग्रत हो उठी, वह अपने मन में सोचने लगा—"रात के अंधकार में यह स्थान भयानक लगता होगा।" फिर उसको अपने नौकर की कही हुई बात याद आई—"अमावास्या की रात को वहाँ भूत उठते हैं। अँगरेज़ सिपाहियों के और मेमों के। कभी वे बंदूक लेकर परेड करते हैं और कभी खाना-पीना होता है, नाच होता है, बैंड बजता है।" वसंत ने विचार किया, मैं तो विश्वास नहीं करता इसमें। एक बात मेरे मन में आती है, यदि इन भवनों की मरम्मत कर उन्हें मनुष्य के निवास के योग्य बना दिया जाता तो क्या बुरा था। मैं अर्थशास्त्र का विद्यार्थी न होकर भी यह कह सकता हूँ, यह स्थान का जातीय अपव्यय है। किसी शिक्षा या

उसके दूसरे हाथ पर थी पड़ी तलवार।

उस प्रेम और वियोग को साकार बहुतों ने देखा। एक प्रहरी वहाँ पर नियुक्त किया गया कि किसी को आगे न बढ़ने दे। एलिस अपने पति से अंतिम भेंट करने के लिए बुलाई गई। मार्ग में उसे अनेक मृत और अचेत मनुष्य दिखाए गए कि उसका कोमल हृदय अपनी गहरी चोट को सह लेने में अभ्यस्त हो। उसने अपने संज्ञा-शून्य पति को देखा और प्राचीर पर खुदी हुई पढ़ी अपनी संज्ञा। उसने दर्शकों की ओर दृष्टि की और वह बेहोश हो गई। वह वहाँ से ले जाई गई और डाक्टर उसे होश में लाने के उपचार करने लगा।

मृत्यु का वह आकर्षक-दृश्य स्थायीत्व प्रदान किए जाने योग्य था। ऑफ़ीसरों ने उसकी फोटो खींच ली। फोटो को इनलार्ज कर एक चित्रकार ने उसकी सहायता से एक जीवन-प्रतिम तैलचित्र बनाया। उसकी असल रेजीमेंट के ऑफ़ीसरों ने धन एकत्र कर ख़रीदी और अपने सहयोगी एवम् मित्र की वह सम्मानित स्मृति एलिस को समर्पित की। उस तैलचित्र की एक प्रतिलिपि राष्ट्रीय आर्ट गैलेरी में रक्खी जाने योग्य समझी गई और अच्छी रक़म ख़र्च कर उसके लिए तैयार की गई। कुछ समय बाद उसी पलटन के एक अवसर-प्राप्त ऑफ़ीसर ने 'लखनऊ की रक्षा' नामक अगरेज़ी में एक पुस्तक लिखी। उसमें उसने आँखों-देखा सचित्र वर्णन किया। उस पुस्तक के आरंभ में वह कैप्टेन की मृत्यु का चित्र दिया गया है।

एलिस को अच्छी पेंशन मिली। उसने इंगलैंड के एक गाँव में ज़मीन मोल ली, वहीं घर बनाकर खेती और अध्ययन में कालयापन करने लगी। आरंभ के दिनो में वह बड़ी देरतक पति के चित्र में, उस प्राचीर के लेख में; जो नहीं लिखा गया, उसे पढ़ने की चेष्टा करती।

समय के प्रवाह में कई दशक बह गए। जिस दीवाल पर 'एलिस' का नाम अंकित था, उस पर एक ने अपना प्रिय नाम भी बेत की नोक से खुरच दिया। यह क्रम फिर रुका नहीं, एक के बाद दूसरा

नाम उस प्राचीर पर खुदता चला। सैकड़ों पर्यटकों, तमाशबीनों, युवकों और छात्रों ने अपने या अपने प्रियजन के नामों से उस परिमित क्षेत्रफल की दीवार को ढक दिया। उनके रेखा-जाल में, वह एलिस का नाम खो गया! मानो मंत्र और मुद्राओं में प्रतिमा लुप्त हो गई! जैसे वृक्ष में बीज और बीज में वृक्ष खो जाता है।

अँगरेज़ों की बीसवीं सदी के पहले चतुर्थांश में हम आते हैं, उसके उत्तरांग में, पश्चिम के महाभारत ने राज्य बदल दिए, प्रणालियाँ बदल दीं। देश बदल दिए, उनके नक़शे बदल दिए। भारत में भी इस लहर ने विचार को परिवर्तित किया, रहन-सहन, गृह-वस्त्र, मत-मति, फ़ैशन-रुचि, शिक्षा-दीक्षा सब में एक दूसरा ही रंग चढ़ाया।

गोमती के तट पर घूमते हुए वसंत को रेज़ीडेंसी के उस सुरक्षित भग्नावशेष ने अपनी ओर खींचा। वह अक्सर वहाँ घूमने चला जाता था, जब उसे उजड़े हुए एकांत की आवश्यकता होती। वह सामने के फाटक से उसके अंदर गया। शरद के निरभ्र-निर्मल आकाश में, मुख्य इमारत के ऊपर, यूनियन जैक फहरा रहा था। वसंत नीचे रक्खी हुई लोहे की पार्क-बेंच पर बैठ गया।

वसंत ने ध्यानपूर्वक उस भग्न भवन को देखा, मरम्मत कर जिसकी विकृति सँभाली गई थी। वसंत की कल्पना जाग्रत हो उठी, वह अपने मन में सोचने लगा—"रात के अंधकार में यह स्थान भयानक लगता होगा।" फिर उसको अपने नौकर की कही हुई बात याद आई—"अमावास्या की रात को वहाँ भूत उठते हैं। अँगरेज़ सिपाहियों के और मेमों के। कभी वे बंदूक लेकर परेड करते हैं और कभी खाना-पीना होता है, नाच होता है, बैंड बजता है।" वसंत ने विचार किया, मैं तो विश्वास नहीं करता इसमें। एक बात मेरे मन में आती है, यदि इन भवनों की मरम्मत कर उन्हें मनुष्य के निवास के योग्य बना दिया जाता तो क्या बुरा था। मैं अर्थशास्त्र का विद्यार्थी न होकर भी यह कह सकता हूँ, यह स्थान का जातीय अपव्यय है। किसी शिक्षा या

कोई और लोकोपकारी संस्था के लिए यहाँ अच्छा स्थान था।

उस विचार-क्रम में उसका मन न लगा फिर। बेंच के साथ उसे छोड़कर वह उठ खड़ा हुआ और पथ के निकट की हरियाली को देखता हुआ कहने लगा, मन-ही-मन—"पिताजी की संध्या-पूजा को मैं आडंबर कहूँगा। उनके छोटे-बड़े के विचार को केवल अहंकार की भावना। उनके ऊँच-नीच की कल्पना को उन्नति न करने और न करने देने का मूढ़ परिश्रम।" वह मार्ग में आगे को बढ़ गया।

वसंत यूनिवर्सिटी का विद्यार्थी, मधु-वसंत की नई कोंपल के नवीन पुष्प के समान ही उसकी नई अवस्था है, रागरंजित-अनुराग-सिक्त। चारबाग़ रेल के स्टेशन के पास उसके पिता का बनवाया हुआ घर है। उसके स्वभाव में कुछ चपलता है अवश्य। पिता के साथ उसके विचार मिलते हैं नहीं। माता उसको पिता के कोप से बचाने को सदा यही कहती आई है—"क्या हुआ फिर अभी लड़का ही तो है। बड़ा हो जायगा, समझने लगेगा।" वैसे पढ़ने-लिखने में वह होशियार है। समझदार विद्यार्थी है। पिता उसको संस्कृत पढ़ाने का विचार रखते थे, पर स्कूल से ही उसने ऐच्छिक विषय साइंस ही लिया। आठवें दरजे में जब वह स्कूल से कुछ काँच की नलियाँ लाकर साबुन के पानी में से बबूले उड़ाता तो उसके पिता उससे अत्यंत क्रुद्ध होकर कहते—"यह लड़का अवश्य भ्रष्ट हो जायगा, कैसी अपवित्र वस्तु में इसने मुँह डाला।" वह माता से कहता—"माँ, साबुन, यह चर्बी का साबुन नहीं है। इसमें तेल और सोडा है, बस, जब दोनों अलग-अलग अशुद्ध नहीं तो मिलकर भी अपवित्र नहीं। मैं बड़ा होकर हवाई जहाज़ बनाऊँगा, उसी का यह अभ्यास है। देखो, देखो, यह बबूला कितना सुन्दर, सातो रंगों को पहने हुए कैसा हवा में तिर रहा है।"

वसंत आगे बढ़ा। रेज़ीडेंसी के दूसरे फाटक की ओर। मार्ग में उसे वह दीवाल मिली जिस पर कैप्टेन् ने एलिस का नाम लिखा था। पर अब उस दीवाल में चूने-बजरी का पलस्तर कर दिया गया था। वसंत

उस दीवाल के पास रुका। न जाने कौन सी अज्ञात प्रेरणा उसके मन में उदित हुई। लगभग साठ वर्ष बाद, घटना अपने को दुहराने लगी। वसंत ने जेब से चाक़ू निकाला और उसकी नोक से उसी दीवाल पर लिखा—

'लीला'

कुछ दूर पीछे हटकर वसंत ने उन अक्षरों को फिर देखा। वह फिर दीवाल की ओर बढ़ा और उन अक्षरों को फिर कुछ गहरा खुरच कर शहर की ओर चला गया।

दूसरा परिच्छेद

प्रकाश की संधि

अट्ठारहवीं सदी में कोई कहते हैं राज्य-क्रांतियों के कारण और कोई कहते हैं तीर्थ दर्शन के लिए गोपाल बाबू के पूर्वज विंध्यगिरि का अतिक्रमण कर मथुरा में आ बसे।। ज्योतिष के वे अच्छे पंडित गिने जाते थे और नगर में उनका अच्छा मान था।

अँगरेज़, अँगरेज़ी भाषा और अँगरेज़ी शैलियाँ भारतवर्ष में बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ रही थीं। गोपाल बाबू के पितामहतक अपने को उस रंग से बचाए रहे। उन्होने बटन-विहीन बंददार, कमरतक का अंगा पहना, अँगरेज़ी पढ़ने की छूत मानी, नियमित समय पर त्रिकाल संध्या-वंदन किया, शूद्र की छाया पड़ने पर सिर से स्नान किया और वेद तथा शास्त्र के वाक्यों में कभी कोई शंका नहीं की।

पर गोपाल बाबू के पिता उस नवीन रुचि की ओर आकृष्ट हो गए थे। पिता की दृष्टि बचाकर उन्होने चुपके-चुपके अँगरेज़ी भाषा पढ़ना

आरम्भ किया, एक ईसाई पादरी के पास। बात छिपी न रह सकी। एक दिन उनकी लिखी हुई अँगरेज़ी वर्णमाला की कापी उनके पिता के हाथ लग गई। पिता ने पूछा—"यह क्या है ?"

पुत्र ने नीची दृष्टि की, मूक रहा और अपराध स्वीकार किया।

पिता बोले—"मैं समझ गया, यह वही भाषा है। इसे पढ़ना तुम्हारे लिए हितकर नहीं। यह तुम्हारे विचारों को बदलकर तुम्हें विधर्मी बना देगी।"

पुत्र देखने में चुप था पर उसके मस्तिष्क में उथल-पुथल हो रही थी, वह मन में सोच रहा था, पिताजी सठिया गए हैं। समय के प्रवाह और संसार की गति का इन्हें पता ही नहीं है।

"इस कापी को फाड़कर जला दो, यह न कहूँगा मैं। यह हिंसक विचार ब्राह्मण की शोभा नहीं है। हमारे लिए यह अनिष्टकर होने पर भी यह किसी की भाषा है, उसके लिए हितकर हो सकती है। जाओ, जिसके पास से लाए हो, उसी को दे आओ।" पिता ने बहुत शांत भाव से कहा।

पुत्र ने कापी उठाई और चुपचाप जमनाजी में बहा आया।

पुत्र के लौट आने पर पिता ने पूछा—"दे आए ?"

क्षीण स्वर में पुत्र ने उत्तर दिया—"हाँ पिताजी।"

"मैं अपने पिता से कभी झूठ न बोलूँ, ऐसी भगवान् से प्रार्थना करता था। तुम भी न बोले होगे।"

"नहीं पिताजी।"

"मैंने सुना है हमारी संस्कृत का विशुद्ध अनुवाद अँगरेज़ी नहीं कर सकती।"

"मैं इसे मानने को प्रस्तुत नहीं।"

"तुमने पहली बार अपने पिता की बात का विरोध किया। मैंने समझ होने पर कभी नहीं किया था।"

"पिताजी, सत्य हमारे संबंध से बड़ा है।"

पिता ने फिर पुत्र के साथ विवाद में पड़ना उचित नहीं समझा, वह चुप हो गए। उन्होंने प्रकरण बदलने के लिए कहा—"कल से दिन में तुम दो घंटे मेरे पास बैठोगे, मैं तुम्हें ज्योतिष पढ़ाऊँगा।"

"भट्टजी की पाठशाला में तो मैं नित्य ही जाता हूँ। रघुवंश प्रायः समाप्ति पर है।"

"केवल साहित्य ही से क्या होगा। ज्योतिष अपने कुल-परंपरा की विद्या है। उसे सीखना मुख्य है।"

"एक-दो काव्य और समाप्त कर लेने के पश्चात् पिताजी।"

"यही सही।"

पर पुत्र ने हमेशा पिता से ज्योतिष पढ़ने में आनाकानी की। उसका मन ही ज्योतिष पढ़ने में नहीं लगता था। वह अँगरेज़ी भी नहीं पढ़ सका, पिताजी के जीवन पर्यंत। उसके पश्चात् उनके अँगरेज़ी सीखने का फिर समय रहा नहीं। पिता के मरने पर उन्होंने अपने पुत्र गोपाल को अँगरेज़ी पढ़ाने का दृढ़ निश्चय किया। एक कारण था, लोगों का ज्योतिष पर से विश्वास उठने लगा था। दूसरा कारण था समय की गति।

पिता की जीवितावस्था में गोपाल बाबू के पिता अपने जीवन की कुछ शैलियों को बदलना चाहते थे, नहीं बदल सके। कुछ उनकी वेनम्रता थी और कुछ, अधिकांश, था उनके पिता का कट्टरपन। उस कट्टरपन में पुत्र को कोई छिद्र नहीं दिखाई दिए थे, पिता का स्नान-ध्यान, भोजन-वस्त्र, कार्य-कलाप, बाहर-भीतर एक ही सा था, उनमें कोई आडंबर, कोई दिखावा और कोई विज्ञापन की भावना न थी। इस भीतर-बाहर की एकता के कारण बेटा पिता के सामने सिर उठा नहीं सका था।

पितामह की मृत्यु के समय गोपाल बाबू की अवस्था थी, दस वर्ष। उनके पिता अपना परिच्छद नहीं बदल सके थे पर गोपाल बाबू को अँगरेज़ी छाँट का कोट और कफयुक्त कमीज़ पहना दिए गए थे।

पितामह ने गोपाल बाबू के उपनयन संस्कार तक के लिए यह अपवाद मान लिया था। पर वह उपनयन-संस्कार के पहले ही चल बसे थे।

पिता के वार्षिक श्राद्धतक पुत्र ने अत्यंत श्रद्धा और संयम-पूर्वक नित्य स्नान-ध्यान कर पितरों का तर्पण किया। गोपाल बाबू की भाँति वह अपने पिता की एकमात्र संतान थे। पिता, किसी राजा से मिली हुई कुछ माफ़ी ज़मीन, शहर में एक पक्का मकान तथा कुछ नक़दी-आभूषण पुत्र के लिए छोड़ गए थे और छोड़ गए थे नगर और उसके बाहर अपने भक्तों का एक अच्छा समुदाय, जिनसे उनको पर्याप्त आमदनी होती थी। लेकिन उन भक्तों को सँभालकर स्थिर रखना गोपाल बाबू के पिता के लिए सरल-संभव नहीं था।

मुख्य कारण था उनके ज्योतिष-ज्ञान का अभाव। कहनेवाले तो यहाँ तक कहते हैं कि उन्हें राशि-नक्षत्रों का साधारण परिचय भी नहीं था। लग्न नहीं निकाल सकते थे, कुंडली बनाना दूर की बात थी। एक बार उन्होंने सोचा था कि किसी ज्योतिषी को नौकर रखकर उसकी सहायता से भक्तों के लिए लग्न-मुहूर्त्त, जन्म कुंडली, वर्षफल आदि बनवा लिए जायँ। परंतु देश में एक दूसरा ही वातावरण बन रहा था। उसका कारण केवल अंगरेज़ी का प्रसार ही नहीं, आंतरिक प्रतिक्रिया के रूप में हमें अपनी वस्तु का अविश्वास और उसकी घृणा होने लगी थी।

ज्योतिषी बने रहने के लिए पुत्र के लिए पिता के पदांकों का अंधानुकरण आवश्यक था। पुत्र ने उसे व्यथा का बंधन समझा इतने समयतक वह अपने को एक घने वृक्ष की शरण में उगनेवाले दुबले-पतले, शुष्क-पीत पौधे के समान समझता आया था। अब वृक्ष के अभाव में वह पूरी शक्ति से फैलने के लिए छटपटा उठा!

पिता का वार्षिक श्राद्ध धूमधाम के साथ कर पुत्र ने पिता के प्रति अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री की और उनकी समस्त स्थावर-जंगम संपत्ति का अपने को एकमात्र अधिकारी समझा। उन्होंने देखा, लोक-प्रचलि

किसी भी कार्य को करने में कोई उन्हें टोकनेवाला अब नहीं। उनका यह अर्थ कदापि न था कि पिता से मिली हुई थोड़ी-बहुत संपत्ति, वह दो-चार दिन में उलटे-सीधे ख़र्च कर समाप्त कर दें।

पिता की मृत्यु के समय उनकी अवस्था थी पैंतीस वर्ष की। सबसे उत्कट इच्छा उनके अंदर थी अँगरेज़ी पढ़ने, और बटनदार कोट पहनने की। अँगरेज़ी पढ़ने के लिए अब बहुत देर हो गई थी। स्वयम् पढ़ना था असंभव और मास्टर रखकर परिहासजनक। वह मन मसोस कर सोचते, यदि पिताजी ने अँगरेज़ी पढ़ने दी होती तो इस समय कहीं अच्छी सरकारी नौकरी में होता। कैसा व्यर्थ का भ्रम हो गया था उन्हें, इतने लोगों ने अँगरेज़ी पढ़ ली है, क्या वे सब नास्तिक ही हो गए हैं। मेरी बुआ का लड़का, उतना बड़ा ऑफ़ीसर है, कितने शुद्ध उसके विचार हैं, और आचरण कैसा पवित्र।

बटनदार कोट पहना उन्होने, अँगरेज़ी पढ़ने की इच्छा-पूर्त्ति के लिए उनकी दृष्टि पड़ी गोपाल पर—उनका ग्यारह वर्ष का लड़का। उन्होंने उस दिन, जब वह पितामह के सिखाए हुए अभ्यास पर चल रहा था, उसके हाथ से अमरकोष छीन लिया।

गोपाल ने चौंककर पिता की ओर देखा।

"नहीं, अब तुम्हें इसको रटने की आवश्यकता नहीं।"

"क्यों?"

"मैं तुम्हें अँगरेज़ी पढ़ने के जिए आगरा भेजूँगा। अपने मामा के यहाँ रहोगे।"

"अँगरेज़ी, वह कठिन होती है।"

"सीखने से कुछ कठिन नहीं रह जाता। परिश्रमपूर्वक चलने से कोई मार्ग दुर्गम नहीं।"

"उसे सीखकर क्या होगा?"

"ऑफ़ीसर बनोगे। सैकड़ों-हज़ारों तुम्हारी आज्ञा के अनुचर होंगे। धन और मान प्राप्तकर जीवन सफल करोगे।"

"साहब बनूँगा ? वैसे ही जैसे उस दिन रेल के स्टेशन में देखे थे ?"

"हाँ।"

"वैसी ही टोप बनवा देंगे आप मेरे लिए ? एक बात और पूछता हूँ पिताजी। शाम को रामरक्षा स्तोत्र और बाबाजी के याद कराए हुए प्रभात-स्मरण पढ़ूँगा या नहीं।"

पिताजी को कुछ क्षण विचार करना पड़ा।

पुत्र बोला—"अब मुझे वह सब श्लोक याद हो गए हैं। अब उनको दुहराने की ऐसी क्या आवश्यकता है।"

"नहीं बेटा, वह बाप-दादाओं का धर्म है, मानना ही पड़ेगा।"

"आप कहाँ मानते हैं। बाबाजी बाज़ार की बनी हुई अनाज की मिठाइयाँ नहीं खाते थे, पान भी नहीं। आप तो दोनों चीज़ें सेवन करते हैं।"

पिता के तमोगुण में एकाएक उफान आया। उन्होंने उसके सिर में एक चपत मारकर कहा—"चुप चांडाल, पिता का अपमान करता है। एक बार कह दिया, अगर फिर दुहराया तो गरम चिमटे से दोनों होंठ लाल कर दूँगा।"

रंग में भंग ! रस में एकाएक विष का वह संयोग ! बालक चीत्कार छोड़कर रुदन करने लगा।

पिता ने पास पड़ी हुई एक टूटी हुई खड़ाऊँ उठा ली, और महाकाली के खड्ग के समान उसे अपने सिर से ऊँचा कर कर्कश स्वर में बोले—"चुप ! चुप ! चुप ! यदि फिर दूसरी आवाज़ रोया तो यह खड़ाऊँ तेरे सिर पर पड़े बिना न रहेगी।"

गृहिणी भीतर आटा सान रही थीं, रसोईघर में। छत पर की यह घटना है। केवल एक दीवाल थी बीच में। बच्चे का रोना सुनकर वह हाथ रोक, कान खोल उधर ध्यानस्थ हुई थीं। पति की रोषभरी वाणी सुन, आटे के हाथ लेकर बाहर आ धमकीं।

पति ने उन्हें देखते ही हाथ नीचा कर लिया, स्वाभाविक स्वर में कहने लगे—"देखो न बड़ा दुष्ट हो गया है यह लड़का।"

बालक सिसकते हुए माता के आश्रय में चला गया।

गृहिणी तमककर बोलीं—"तुम्हें और कोई काम तो है नहीं। दिन भर बेकाम घर पर बैठे-बैठे कुछ दूसरी बात सूझती नहीं। खड़ाऊँ से मार दिया! बच्चा मेरा! कहाँ लगी गोपू! सिर में?" गोपाल के सिर पर हाथ फेरा उन्होंने। एक जगह हाथ रोक कहने लगीं—"हैं, कितना बड़ा गोला पड़ गया कोमल मस्तक में बच्चे के।"

पति देवता अपनी हँसी न रोक सके। खड़ाऊँ छत पर फेंक दी। और पत्नी के सामने दोनों हाथ जोड़ बोले—"धन्य हो गोपाल की माँ! इतनी बुद्धि लेकर ही न्याय करने को चली आई थीं। खड़ाऊँ की चोट है यह? सिर की हड्डी!"

"तो क्या बिना लगे ही सिसक रहा है यह? क्रोध भी ऐसा क्या कि मनुष्य अंधा हो जाय और उसे ठौर-कुठौर कुछ दिखाई ही न दे।"

हँसी छोड़कर वह अब गंभीर हो गए थे। झिड़ककर बोले—"पूछ क्यों नहीं लेती हो इसी से। क्यों रे! मैंने क्या तुझे खड़ाऊँ से मारा?"

गोपाल कोई उत्तर न देकर चुप हो गया। उसने रोना बंद कर दिया।

उसकी माता ने आटे के सने हुए हाथ बचाकर कोहनी से हटाकर उससे पूछा—"बताता क्यों नहीं?"

"मैं तो इसे आगरा भेजकर इसके पढ़ने-लिखने का प्रबंध करने में हूँ, और यह मूर्ख रोने लगा।"

आगरे का नाम सुनते ही गृहिणी की रिस हवा हो गई। हँसती हुई बोलीं—"सच? भइया वहीं हैं मेरे।"

"हाँ आदमी बन जायगा पढ़-लिख लेगा तो। हमारा जीवन तो समय की विद्या का अर्जन न कर सकने के कारण व्यर्थ ही चला गया।"

"कब भेजेंगे ?"

"इसी नए वर्ष से। मैं आज ही पत्र लिखता हूँ।"

गोपाल बाबू आगरा अँगरेज़ी के स्कूल में भरती कर दिए गए। रहने का प्रबंध उनके मामा के यहाँ किया गया। मामा उनके इंजीनियर थे। घर से भी उनके लिए जब जितना ख़र्च उन्होंने माँगा भेजा जाता था। इंजीनियर साहब ने गोपाल बाबू को अप-टू-डेट बनाने में कोई कसर शेष नहीं रक्खी। घर पर भी पढ़ाने को उनके लिए मास्टर रक्खा गया।

आगरा के स्कूल में पढ़ते-पढ़ते गोपाल को पाँच वर्ष हो गए। उन्हें कपड़े पहनने का बड़ा भारी शौक़ था। पढ़ने-लिखने में अधिक मन नहीं लगता था। हॉकी और फ़ुटबॉल में ख़ूब। लंबी और ऊँची कूद में स्कूलभर में सबसे आगे और ऊँचे। स्कूल में भरती होते ही वह स्कूल और उसके आस-पास गोपाल बाबू के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

स्कूल की दूसरी टीम के वह कैप्टेन् थे। अच्छा मौसम पाकर प्रायः सदैव ही उनकी मैचों की योजना लगी रहती थी। स्कूल के प्रबंध के अतिरिक्त भी वह मैचे खेलते थे। एक टीम उनकी अपनी भी थी। उसमें उनके बहुत से ऐसे साथी थे, जो स्कूल में नहीं पढ़ सकते थे। उन मैचों में गोपाल बाबू अपनी जेब से जलपान के लिए ख़र्च करते थे। उस टीम के अनेक खिलाड़ियों के लिए उन्होंने एक-एक चंपई और काले रंग का कुरता भी अपने ख़र्च से बना दिया था। छुट्टी के दिन अपने मित्रो को लेकर आस-पास के वनों या नदी के किनारे चले जाते। किसी की जेब में होती तेल की बोतल, किसी के पास बेसन, नमक-मसाले-आलू। कोई कड़ाई लादकर ले जाता, कोई थाली। जंगल में जाकर वे लोग ख़ूब तेज़ मिर्च डालकर पकौड़ियाँ पकाते और खाते थे। ताश खेलते, बातचीत करते और कभी-कभी कोई उपद्रव भी करते थे।

इंजीनियर साहब के गृहस्थ में पश्चिमी संस्कृति धीर-अविराम गति से प्रवेश कर रही थी। वह मूर्तिपूजा को बच्चों का खेल समझते थे।

बाहर दावतों में शरीक होना परस्पर की प्रीति को बढ़ाने का एक सामाजिक साधन। पिता उनके पहले ही मर गए थे, जबतक माता जीवित रही, तबतक इंजीनियर साहब चौके में ही भोजन के लिए जाते रहे। उनकी मृत्यु के बाद फिर उन्होने कभी उसका मुँह नहीं देखा। खुल्लमखुल्ला मेज़ पर कच्ची-पक्की रसोई उड़ाते। स्त्री के कारण देवताओं का अस्तित्व सुरक्षित था उनके घर में। हिंदुओ के पर्व-त्योहार आते-जाते ज्ञात होते थे। इंजीनियर तो पूरे साहब थे। राम और कृष्ण को मानते थे कवि-कल्पित महापुरुष। गीता को कहते थे एक अमर पुस्तक, पर कभी उसका एक अक्षर पढ़ा था नहीं।

गोपाल बाबू के कोमल मानस-क्षेत्र में इन सब संस्कारों के बीज जड़ पकड़ने लगे थे। इंजीनियर साहब बच्चों को खिलाड़ी बनाने के बड़े पक्षपाती थे। वह कहते थे खेल से बालकों को स्वास्थ्य और सुंदरता तो प्राप्त होती ही है, उनमें साहस बढ़ता है। संसार में साहसवाले ही कुछ कर सकते हैं। गोपाल बाबू को मामा के निकट खूब उत्साह मिलता था।

आठवें दर्जेतक गोपाल बाबू किसी प्रकार हर साल दरजा बदलते रहे। नवें दरजे में जाकर फ़ेल हो गए! अब इंजीनियर साहब का माथा ठनका और वह समझने लगे गोपाल बुरी संगति में पड़ गया। इंजीनियर साहब के सामने गोपाल बहुत खुला हुआ था। था वह बुद्धि का बहुत तीव्र। बात करने में बहुत होशियार। मामा के सामने ऐसे ढंग से बातें करता कि वह कभी उसे गंभीर होकर डाँट ही न सकते। जब कभी कुछ कहते तो वह उसे अपनी हँसी और उजड्डता में ही उड़ा जाता था। गोपाल ने अपनी असफलता का मुख्य कारण स्कूल से ली गई वह छुट्टी बताई, जब उसे अपने उपनयन-संस्कार के लिए घर जाना पड़ा था। लगभग एक महीना उसका इसमें लग गया था। सुबह, मध्याह्न और साँझ का संध्या-वंदन वह अलग बाँध लाया था साथ में। पिता और माता का तीव्र अनुरोध था, उसके पालन के

लिए। कुछ दिन तक तो वह उस लकीर को पीटता रहा, फिर ननिहाल में उन सब बातों के लिए अनुकूल जलवायु न पाकर, वह केवल एक स्वाँग मात्र रह गया।

नवें दरजे की सालाना परीक्षा में जब गोपाल बाबू दूसरी बार बैठे तो चोरी करते हुए पकड़ लिए गए। वह जूते की तली में कुछ सवाल हल किए हुए छिपाकर रख ले गए थे। स्वयम् हेडमास्टर साहब ने उन्हें पकड़ा। स्कूल के प्रबंध में शिथिलता न आने देने के लिए हेडमास्टर को बाध्य होकर उन्हें सालभर के लिए स्कूल से निकाल देना पड़ा।

गोपाल बाबू ने मामा से कहा—"मेरे जूते में एक कील चुभ रही थी। मुझे परीक्षा के लिए देर हो चुकी थी। मार्ग में वह मुझपर विदित हुई। मोची के पास जाने का समय था नहीं। घर से चलते समय ज्ञात होता तो मैं दूसरा जूता पहन ले जाता। मैंने कापी का पेज फाड़कर जूते में रख लिया था। वही उन्होंने मेरी चोरी बताई। जड़ में इसके वह मास्टर हैं, जिन्हें आपने रोज़ देर में आने के कारण मेरी ट्यूटरी से निकाल दिया था।"

मामा को इस बात का शायद ही विश्वास हुआ हो। उन्होंने अद्भुत हँसी हँसकर कहा, उसमें कुछ दुःख और कुछ घृणा मिली थी—"सालभर यह व्यर्थ ही चला गया। क्या करोगे अब? मैं बराबर तुमसे कहता था स्कूल की किताबों पर ध्यान दो, ध्यान दो। तुम एक कान से सुन दूसरे से निकालते गए। बड़ी बदनामी की बात हो गई यह। हेडमास्टर मिलेंगे तो मुझे लज्जित होना पड़ेगा उनके सामने।"

गोपाल बाबू न जाने कहाँ सुन आया था, हेडमास्टर साहब की कुछ कमज़ोरियों की चर्चा। उसे लज्जा भी नहीं आई और छूट इंजीनियर साहब के सामने नग्न शब्दों में कह दिया। वह मुँह फेरकर हँसने लगे। गोपाल कहता जा रहा था—"बहुत लोग जानने लगे हैं उसे। उसने

जब समस्त स्कूल को जमाकर मेरा स्कूल-निकाला सुनाया तो मैंने आँखें नीची नहीं कीं। ताल ठोककर कहा—'मेरी चोरी के साबित किए जाने की ओट में कई बातें हैं। यदि एक को भी मैं यहाँ पर खोलूँ तो कई मास्टरों की प्रतिष्ठा में बट्टा लगेगा। अवश्य ही स्कूल के गौरव में भी, वह मुझे कदापि इष्ट नहीं। मै ख़ुशी से अपने एक वर्ष की बलि दूँगा। तब तक के लिए मित्रो, तुम्हारी विदा चाहता हूँ।' मेरी बातों से मेरे कई साथियो ने शोर मचाया और स्कूल के अधिकारियो के न्याय का विरोध किया। गड़बड़ हो जाने से स्कूल में छुट्टी दे दी गई।"

इंजीनियर साहब ख़ूब ज़ोर से हँसे और कहने लगे—"गोपाल बाबू, यह आपका नैतिक साहस हो सकता है। यदि पढ़ने-लिखने में मन लगा होता तो क्या बात थी।"

सालभर के इस अवकाश में गोपाल बाबू एक दिन के लिए भी घर नहीं गए। वहीं रहे। छावनी की ओर उनके कई खिलाड़ी मित्र थे, वहाँ चले जाते, मामा की मुसाहबी करते, बाज़ार से उनके घर का सौदा-पत्ता ख़रीद कर लाते। नौकर-चाकरो के वेतन का भुगतान करते और मामा के सामने सिगरेट न पीते।"

इंजीनियर साहब ने विचारा, लड़का मुँहफट है, कुछ उजड्ड भी। पढ़ना-लिखना इससे न होगा। व्यवहार में बड़ा चतुर है। यदि अयुक्त होकर दिन भर बैठा रहेगा तो ठीक न होगा, एक मेसोनिक लॉज बन रहा था, उसका ठेका उसे दिला दिया। अनेक जान-पहचान के कुली-बेलदार, राज-मज़दूर, बढ़ई-लोहार उसके लिए जुटा दिए। कुछ मामा के दिए हुए धन और कुछ उनकी साख पर गोपाल बाबू का काम आरंभ हुआ।

बड़ी कुशलता-पूर्वक गोपाल बाबू ने वह राज-मंदिर बना दिया। अधिकारियो को भी उन्होंने प्रसन्न कर दिया और राज-मज़दूरों को भी संतुष्ट। इंजीनियर साहब की प्रसन्नता का तो ठिकाना ही न था, सबका

दे दिलाकर अच्छी-ख़ासी रक़म गोपाल बाबू ने अर्जित की। घर से विवाह के लिए चिट्ठी पर चिट्ठी आ रही थी। ठेका समाप्त होने पर मामा और मामी दोनों ने गोपाल बाबू को समझा-बुझाकर विवाह के लिए घर भेजा।

विवाह के बाद फिर गोपाल बाबू ने स्कूल की दिशा न देखी। छावनी में अनेक छोटी-बड़ी गोरो के रहने की बैरकें उन्होंने बनवाईं। ऑफ़ीसरो में उनकी अच्छी धाक जमने लगी थी। सात-आठ वर्ष बाद महामारी में उनके माता-पिता दोनों चल बसे। मथुरा का मकान बेच अपनी स्त्री को लेकर वह आगरा ही चले आए। मामा के मकान के समीप ही एक किराए का घर लेकर उसमें रहने लगे। सालभर बाद उनके एक लड़की हुई। आदर्श उनके मस्तिष्क में साहबी ही जमा हुआ था। जिस मट्टी में हाथ डालते वहीं सोना जमा करने लगे थे। पैदा होते ही लड़की नर्स को सौंप दी गई और आया पिरेंबुलेटर में सुलाकर वन और पार्कों में उसे घुमाने लगी।

लड़की के पैदा होते ही उन्हें एक बहुत बड़ा ठेका, रेलवे डिपार्टमेंट का लखनऊ में मिल गया। वहीं जाकर रहना उनके लिए आवश्यक हो गया। चारबाग़ रेल स्टेशन के पास, वसंत के यहाँ, इंजीनियर साहब की ससुराल थी। वसंत के पिता उनके ससुर के चचेरे भाई थे। मकान का अन्यत्र प्रबंध होने तक गोपाल बाबू उन्हीं के यहाँ रहे, वह स्थान गोपाल बाबू को बहुत पसंद आया। स्टेशन, जहाँ उनके काम का अधिकांश था, निकट ही था।

विनायक शर्मा—वसंत के पिता—से गोपाल बाबू ने कहा—"अगर यहाँ कोई भूमि का टुकड़ा मुझे मिल जाय तो मैं अपना मकान बनवा लूँ। आपके सौजन्य का भी साथ रहेगा।"

विनायक शर्मा ने उत्तर दिया—"यह कोई कठिन बात नहीं है। यह सामने का मकान बिकाऊ है, आपके पसंद हो तो सौदा करा दिया जायगा।"

मकान उनकी रुचि के अनुकूल निकला। कुछ ही दिनों में ख़रीद लिया, उसी में जाकर रहने लगे। अपनी सुविधा के अनुसार उसे कुछ घटा-बढ़ा लिया।

वसंत के पिता, विनायक शर्मा बड़े सरल स्वभाव और पुरानी चाल के थे। जप-माला श्राद्ध-तर्पण, बलि वैश्वदेव, शिव-शक्ति, वेद-पुराण में विश्वास रखनेवाले थे। रेल में कई जगह स्टेशन मास्टर रह चुके थे। अब अवसर प्राप्त हो, अपना मकान बना लखनऊ ही रहने लगे। लोग उनके पास बहुत रुपया बताते हैं। पर वह कहते हैं, जो कुछ मेरे पास था, सब कुछ मेरा यह मकान खा गया। गोपाल बाबू के शैशव पर थी पिता की अतृप्त साहबी ठाट की आकांक्षा और यौवन में साक्षात् इंजीनियर साहब का शिष्यत्व।

लीला नाम था गोपाल बाबू की उस कन्या का।

तीसरा परिच्छेद

दो कुटुंब

लीला अवस्था में वसंत से प्रायः दो वर्ष छोटी थी। जब वसंत सात वर्ष का था तब वह पाँच साढ़े-पाँच वर्ष की। लीला की माँ का नाम था सुंदरी और देवकी गोपाल की माँ कही जाती थी।

गोपाल बाबू को लखनऊ आए पाँच वर्ष पूरे हो गए। विनायक शर्मा उनसे अवस्था में बहुत बड़े थे। एक ही बिरादरी के ये दो कुटुंब, जिनके सूत्रधार दो भिन्न-भिन्न आदर्शों की ओर आकृष्ट थे। पर स्त्रियाँ—लीला की माँ जब वसंत के यहाँ आती तो उसकी माँ से कहती—"जब यहाँ आती हूँ, तब बड़ी विश्रांति-सी अनुभव करती हूँ।

तुम्हारा साथ यदि यहाँ न होता तो लखनऊ मेरे लिए एकांत कारागार के समान होता।"

गोपाल बाबू बहुत सफ़ाई-पसंद आदमी थे। नियम-सुसज्जित उनका ड्राइंग रूम। फ़र्श के क़ालीनो पर एक तिनका नहीं, खिड़कियों के परदों पर कोई धब्बा नहीं। प्रत्येक वस्तु अपने नियत स्थान पर स्थित। बिजली के प्रकाश से उद्भासित उनका बँगला था। विनायक शर्मा भी स्वच्छता के परिपोषक थे, पर भारतीय ढंग के, आवश्यकता से अधिक नहीं। उनकी बैठक में एक लैंप जलता था। एक लालटेन शयन-कक्ष में और एक रसोईघर में। ठाकुर-गृह में पीतल के कमलाकृति दीपाधार में सौम्य-मधुर शिखा से जलता हुआ सरसों का तेल।

सब कुछ होते हुए भी आरंभ में गोपाल बाबू को शर्माजी के यहाँ जाने में कोई संकोच नहीं होता था। शर्माजी में उनको एक अद्भुत व्यक्तित्व के दर्शन हुए थे। वह साहबी ठाठ के पूरे होने पर भी शर्माजी में कोई अपूर्णता नहीं देखते थे। शर्माजी की वाणी और व्यवहार में उन्होने कभी अधिक अंतर नहीं पाया था। वह बहुत ही स्पष्ट थे। बात ऐसी करते थे, जिसे निभा सकें। मित्रता इतनी ही करते थे, जो बहुत दिन तक चल सके।

अपने अहंकार की कम चर्चा करते थे वह। अधिक उल्लेख करते अपनी दुर्बलता का ही। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह एकदम ऋणात्मक मनुष्य थे। कैसा ही हीन-उत्साह और निराश मनुष्य उनके पास जाता, उत्साह लेकर लौटता।

गोपाल बाबू भारतीय संस्कृति को विजेताओं की पादाक्रात, सदियो की जंग-लगी, दासता की धूल-भरी समझते थे। वह जब विनायक शर्माजी के निकट जाते तो विनयपूर्वक उनके पैर छूकर प्रणाम करते। ध्यान से उनके आध्यात्मिक, सामाजिक और सामयिक राजनीति के विचार सुनते। उन्हें कभी उनके विचारों का विरोध करने का साहस नहीं हुआ, न उन्होंने कभी दो-दो तीन-तीन घंटे उनके पास बैठे रहने

पर भी जेब से सिगरेट निकाल कर भी। बहुत अधिक आदत थी उनको सिगरेट पीने की।

विनायक शर्मा में सब से बड़ी बात थी उनके चरित्र की सहिष्णुता, पराए गुणों में दोष देखने का स्वभाव उनका न था। गोपाल बाबू को उनकी यह बात बहुत पसंद आई थी। उनके लखनऊ के नवपरिचितों में विनायक शर्मा सब से पहले व्यक्ति थे। उनके स्वभाव को रुचिकर समझकर ही गोपाल बाबू ने उनके निकट बँगला ख़रीदा। उनकी बिरादरी के यद्यपि वहाँ और भी कई घर थे, पर सब दूर। गोपाल बाबू उधर कम जाते थे।

कहते हैं, शर्माजी पहले कुछ और तरह के थे। धार्मिक भाव इतना जगा हुआ न था उनका। नौकरी के कारण, भगवान् की चिंता के लिए समय न था उनके पास, वृत्ति भी न थी वैसी उनकी। सुबह-शाम, भोजन के समय चौके में ही यज्ञोपवीत हाथ में अवश्य लपेटते थे। उससे अधिक और कुछ नहीं। भगवान् हैं—ऐसा भय था उन्हें, विश्वास नहीं। रुपया आवे उनके पास, ऐसी इच्छा थी उनकी, पर उन्होने उसके लिए कभी अनुचित उपाय बरते नहीं।

उनके स्वभाव को गंभीर कर दिया एक रेल की दुर्घटना ने। उनकी स्टेशन मास्टरी में एक पैसेंजर टकरा गई मालगाड़ी से, स्टेशन में ही। पुलिस ने उसका उत्तरदाता स्टेशन मास्टर को ही ठहराया। वह ससपेंड किए गए, ज़मानत पर छूटे। उनपर अभियोग चला। दुःख-संकट में भगवान् हमें बड़ी तीव्रता के साथ अपनी ओर खींचते हैं। स्त्री-पुत्र के अतिरिक्त और भी दो-चार अनाथ-दुखियों के पालन-पोषण का भार था उनके ऊपर। वह अपने को निर्दोष समझते थे। समय के चक्र में पड़कर यदि उन्हें कोई कठिन दंड सहन करना पड़ गया तो उन आश्रितों का क्या होगा? ऐसे भविष्य की कल्पना कर वह अधीर हो उठे! अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के उनके समस्त परिश्रम व्यर्थ ही हो गए थे। पर वह बहत प्रसन्न और उत्साह-भरे हए मन से उन

दुर्दिनों को ठेलते हुए चले जा रहे थे।

अंत में उनपर से दोषारोपण उठा लिया गया। वह फिर अपनी नौकरी पर बहाल कर दिए गए। शर्माजी कभी-कभी कहते हैं—"उसी दिन से मुझे भगवान् का विश्वास हुआ, और मैंने नियमित रूप से उसको स्मरण रखने की प्रतिज्ञा की।" कुछ लोग कहते हैं, उसी दिन से शर्माजी में कुछ-कुछ सनक-सी हो गई। और कुछ कहते हैं—"उसी दिन से वह धर्म-भीरु, भक्त और श्रद्धावान् हो गए।"

शर्माजी की संगति पाकर गोपाल बाबू ने यद्यपि अपने मार्ग में कोई दिशा नहीं बदली थी, तथापि वह कभी-कभी किंकर्तव्य विमूढ़ होकर यह विचारने लग गए थे कि क्या सचमुच में मेरा पथ ठीक और सही है? पैसे की प्राप्ति और कुटुंब के छत्र हो जाने के कारण उनकी उजड्डता कुछ कम हो गई थी। शर्माजी के सामने तो वह बिलकुल ही छिप जाती थी। बहुत-सा ऐसा आचार, जिसे वह आगरे में खुला रखते थे, शर्माजी के मुहल्ले में आकर उन्हें छिपा देना पड़ा।

गोपाल बाबू फ्रीमेसन थे। बड़े-बड़े साहब लोगों के साथ उनका भाईचारा था, खूब धारा-प्रवाह अँग्रेज़ी बोलते थे। ग्रामर की टाँग ज़रूर टूटती थी, पर उनका भाव समूचा ही दूसरे पर प्रकट हो जाता था। वह बहुत ही रिज़र्व्ड प्रकृति के थे। सही और साफ़ कपड़ा पहनते थे। मुहल्ले में किसी के भी यहाँ नहीं जाते थे। केवल शर्माजी का गृह अपवाद था। घर से आते-जाते लोगो के हाथ जोड़ने का उत्तर बड़ी मोहक हँसी के साथ देते थे। शर्माजी के घर भी वह बहुत नहीं जाते थे। हफ़्ते-पखवारे में एक दिन, कुछ देर के लिए। जब उनके मन में यह विचार उठता था कि शर्माजी सोचते होंगे, नहीं आया। उनके यहाँ जाने की प्रेरणा-स्मृति मिलती थी उन्हें बारबार गृहिणी से।

गोपाल बाबू के भाईचारे की नियमित सभाएँ होती थीं। द्वार बंद कर उनका कार्य-क्रम बहुत गोपनीय रक्खा जाता था। नए भाई भरती होते थे, पुराने भाइयों का पद-संस्कार होता था। मासिक चंदा जमा और ख़र्च होता था। कभी-कभी नाच और दावत तथा टी-कनसर्ट भी हुआ करते थे। गोपाल बाबू ने अपनी इस धार्मिक संस्था की चर्चा शर्माजी से कभी नहीं की। शर्माजी को कुछ मालूम था अवश्य। एक दिन जब गोपाल बाबू का नौकर सत्यनारायणजी का प्रसाद उनके यहाँ लाया था, तब शर्माजी के पूछने पर नौकर ने उत्तर दिया था—"नहीं, बाबू साहब मकान पर नहीं हैं, जादूघर गए हैं, उसके मेंबर हैं वह।"

शर्माजी ने जिज्ञासा की—"क्या करते हैं वहाँ वे लोग?"

"भगवान् जाने। पर सुनता हूँ, मुरदों की खोपड़ियाँ लड़ाई जाती हैं वहाँ।"

अधिक मेल था उन दोनों कुटुंबों की दोनो स्त्रियों में। लीला की माँ अधिक नए विचारों की न थी। दो-तीन साल एक कन्या-पाठशाला में गई थी वह, अँगरेज़ी वहाँ पढ़ाई जाती न थी। गोपाल बाबू उसे अपने ही समान ज्योति-स्नात करा देना चाहते थे, सफल न हो सकते थे। उसे अँगरेज़ी का अक्षरारंभ कराने की दो-तीन बार चेष्टा की उन्होंने, पर वे अक्षर उसके मानस पर गड़ते ही न थे। बारबार अकुलाकर छोड़ देती थी।

एक दिन गोपाल बाबू अपनी स्त्री को एक फ़ौजी ऑफ़ीसर की स्त्री से भेंट कराने को ले गए। उस मेम का बड़ा आग्रह था बहुत दिनों से। वह कुलीन, परदेवाली हिंदू स्त्री का अध्ययन करना चाहती थी। उसने पूरे आभूषण और विशुद्ध जातीय परिच्छद में उनकी स्त्री को देखने की इच्छा की थी। गृहिणी किसी प्रकार सम्मत नहीं होती थीं। सदैव उनसे यही कहतीं—"क्या हो गया तुम्हें, वसंत की माताजी सुनेंगी तो क्या कहेंगी।"

अंत में गोपाल बाबू की विजय हुई। एक दिन राज़ी हो गईं श्रीमतीजी। दिया जलने को था। शृंगार कर वह चलने को तैयार हुईं, बोली—"लेकिन मैं कोई चीज़ न खाऊँगी वहाँ, फल भी नहीं।"

"न खाना। चलो तो सही, मै कह दूँगा यह बीमार है।"

"अधिक न ठहरूँगी। मेरी संध्या की आरती विलंबित हो रही है।"

"यह भी स्वीकृत है। पैर तो रक्खो बाहर।"

"तुम उसे फ़ोटो खींचने में बड़ी दक्ष बताते हो। मैं उसे अपनी फ़ोटो न खींचने दूँगी। यदि उसने हठ किया तो मैं उसकी दोनो आँखों में अपनी दो उँगलियाँ कोच दूँगी।"

"पगली हो तुम रात को भी कहीं फोटो खींची जा सकती है।"

"तुम्हें मेरी सौगंध?" पत्नी ने व्यथा मिली मुसकान से कहा।

"हाँ, हाँ, तुम्हारी शपथ।" पति ने मार्ग में अग्रसर होते हुए कहा।

पत्नी ने संकुचित पदो से उनका अनुसरण किया। मानो उनके मस्तक पर पर्वतो की गुरुता थी और पैरों के नीचे काँटो की तीक्ष्णता।

मार्ग में गोपाल बाबू ने सिखाया—"मिलने पर जब मेम तुमसे हाथ मिलाने को बढ़े, तो उससे 'गुड ईवनिंग' कहना।"

"हाँ।"

"क्या कहोगी?"

"गुडीविनिग।"

"नहीं, बिल्कुल मूर्खा हो तुम। गुड ईवनिंग, गुड ईवनिंग। खूब याद कर लो।"

"गुडइवनिंग।"

"और दुहरा लो। कोई चीज़ दें तो कहना थैंक यू।"

"यह तो याद है, थैंक यू।"

पर जब गृहिणी मेम साहिबा से मिलीं तो उन्होंने गुड ईवनिंग के स्थान में उनसे कहा—'थैंक यू।" और जब उन्हें लीला के लिए एक गुड़िया और एक क्रूशिया की बनी हुई टोपी मिली तो उन्होंने कहा—"गुड इवनिंग।"

मेम मन-ही-मन हँसी और गोपाल बाबू बहुत लज्जित हुए।

सुंदरी भोजन अपने ही हाथ से बनाती थी। गोपाल बाबू चाहते थे, वह खाना बनाने में अपना समय नष्ट न करे, किसी और उपयोगी काम में लगावे। पर वह आवश्यकता पड़ने पर छोटे-मोटे बर्तन भी अपने हाथ से धो लेती थीं। एक महाराज भी उनके यहाँ थे, पर सुंदरी उसके हाथ की पकी रसोई न खाती। किचन बँगले से विभक्त था। उसमें विलायती ढंग का चूल्हा था। महाराज वहीं दावतों और गोपाल बाबू के लिए अतिरिक्त प्लेटें तैयार करते थे। आने-जानेवालो के लिए चाय और नाश्ता भी प्रस्तुत करते।

उसी किचन से मिला हुआ दूसरी ओर था रसोईघर। लीला की माँ ने किचन को विभक्त करने के लिए बीच में खूब ऊँची दीवार बनवाई थी। वह काँच के एक दो गिलासो का उपयोग करती थीं, कभी-कभी लीला को दवा पिलाने में, पर उन्हें चीनी के बर्तनों से आतरिक घृणा थी। उनके रसोईघर, पूजाघर, उनकी बैठक और उनके शयनकक्ष में उनको ले जाने का कठोर निषेध था। बाबूजी जब उनकी बैठक में चाय पीते तो उन्हें जर्मन सिलवर के प्याले में मिलती थी। वह उनके चीनी से इस वैर-भाव की बड़ी हँसी उड़ाते, कहते—"काँच की शीशियो में भरे मुरब्बे, अचार, शर्बत, दवा सब गटक जाती हो लेकिन चीनी का प्याला घोर अपवित्र है। जो काँच, वह चीनी।"

शर्माजी के यहाँ चीनी का कोई भी बर्तन न था। चाय भी वह केवल जाड़ो में पीते थे। शर्माजी नवीन रुचि के मैदान मे बढ़ जाने पर ठहर गए फिर लौट चले, पूर्वजों की स्मृति की ओर। दाढ़ी बढ़ा कर मुँह ढक लिया और कोट का कॉलर बंद कर डाला। परंतु देवकी

में यह बात न थी। वह कहीं वस्त्रों पर जो नया कफ-कॉलर देखती, उसे बनवाकर छोड़ती, मुहल्ले में जो नवीन गढ़न का आभूषण देखती उसके लिए अपना पुराना ज़ेवर गला डालती। पति के निवारण का उत्तर इस प्रकार देतीं—"तुम बूढ़े हो गए हो, मैं नहीं, कौन जाने कब मर जाऊँ। खाने-पहनने ही का तो संसार है।"

वह वसंत के लिए नए-से-नए फ़ैशन का कपड़ा बनवातीं। उसके पिता कहते थे कि तुम लड़के का दिमाग़ ख़राब कर रही हो। माता मुहल्ले-भर के समस्त बालकों के उदाहरण सामने रखतीं और कहतीं—"यदि यह सब लड़के बिगड़ जावेंगे तो एक यह भी सही। गोपाल बाबू तुम्हारी ही बिरादरी के हैं, उन्होंने लड़की कैसे फ़ैशन में रक्खी है, और तुम लड़के के लिए चार पैसे कपड़ेवाले को और दो पैसे दरज़ी को देते हुए डरते हो। जैसे मुहल्ले के और लड़के हैं मैं वैसा ही अपने लड़के को भी बनाऊँगी, नहीं तो यह सब मेरी हँसी उड़ावेंगे।"

पिता नाराज़ होकर कहते—"तुम भी सिर और कंधे पर से ओढ़नी हटाकर मेम बन बाज़ार घूमने जाओ। मैं क्या मना करता हूँ।"

यह तीखा व्यंग बेचारी के प्राणों में छिद जाता। उनके समकक्ष घरों की स्त्रियों में जो फ़ैशन चल जाता उसी के लिए हठ करती थी। वैसे वह पैर में कहीं बाहर जाने पर भी जूता नहीं पहनती थी। जप-पूजा करती, उपवास रखती, रामायण का पाठ करती। भिन्न-भिन्न समय और दशा में स्त्रियों और उनके कुल में प्रचलित जितने भी विश्वास और अंधविश्वास वह सुरक्षित रख सकी थी, उन सबका यत्नपूर्वक पालन करती थी। लीला की माता के पूजाघर में गोपाल बाबू का प्रवेश न था और वसंत के पिता के पूजाघर में था शर्माजी का एकाधिकार।

सुंदरी जब कोई नया व्रत या नियम ग्रहण करती तब देवकी की सलाह अवश्य लेती। अपनी बिरादरी में प्रचलित आचार-विचारों का ज्ञान भी प्राप्त करती उन्हीं से। वसंत की माँ को जब कोई नया वस्त्र

नया आभूषण बनाना होता तो लीला की माँ से पूछे बिना नहीं बनाती थीं। उन दोनों कुटुंबों की स्त्रियों में बड़ी विशुद्ध मैत्री बढ़ गई—उस पाँच वर्ष की अवधि में। एक के यहाँ जो भी नया फल-फूल आता दूसरी के यहाँ भेजे बिना न रहती। दूसरी जो भी विशेष खाद्य-पदार्थ बनाती पहली के यहाँ दिए बिना सुखी न होती।

देवकी जिस दिन शर्माजी से लड़ती उस दिन सुंदरी के यहाँ अवश्य जाती और उससे सारी घटना का वर्णन कर सिर हलका करती थी। वह अच्छी स्त्री थी, बहुत कुछ अपने मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन करती, उनके समस्त क्रोध को मिटाकर, पति के लिए सुमधुर भावों से परिपूर्ण कर उन्हें घर भेज देती थी।

देवकी थी कुछ अद्भुत प्रकृति की। शर्माजी की आवश्यकता और सुविधा की अधिक चिंता रहती न थी उन्हें। "भूल जाने का स्वभाव है मेरा" इस एक सूत्र में वह अपनी सारी त्रुटियों को गूँथ लेती थीं। कभी शर्माजी की धोती के साथ अँगोछा अनुपस्थित रहता। कभी उनके पाठ करते समय दीपक में तेल नदारद। कभी उनके पीने का दूध उबलता हुआ और कभी हिम-शीतल। इन्हीं छोटी-छोटी बातों पर प्रायः कलह बढ़ जाता और शर्माजी भोजन न करते। गृहिणी कुछ खा-पी लेती, लड़के को खिलाती और शेष महरी के लिए रख देती। मन-ही-मन कहती—"इनका तो स्वभाव ही ऐसा है। मुझसे नहीं रहा जाता भूखा।"

सबसे अधिक प्रीति बढ़ी उन दो गृहस्थों के दो बालकों में—लीला और वसंत। वे दोनों साथ-साथ बैठक की दरी पर टिन की रेल-मोटर दौड़ाते; हरी दूब के ऊपर गेंद खेलते और रबर के बैलून उड़ाते; बँगले के बरामदे में फूलों, कलियों और पत्तों की पलटन निकालते थे। वे जितना खेलते उतना रोते न थे, वे जितना मेल से रहते उतना झगड़ते न थे।

नौकर की जहाँ ज़रा आँख बची नहीं कि दोनों, जहाँ उनको न

जाने की आज्ञा होती, वहीं पहुँचते। नल पर जाते तो सब कपड़े भिगा लाते और सड़क पर पहुँच गए तो धूल-भरे लौटते।

वसंत की मा पूरी चेष्टा करती कि वह वसंत को लीला के ही अनुरूप सुसज्जित करे। दोनो दिन-दिन रूप, गुण, बल और कांति में वय के साथ बढ़ रहे थे। वसंत अधिक खिलाड़ी और बातून था, लीला अधिक अचपल और अधिक कल्पनाशील। लीला एक ही खिलौने के साथ देर तक खेलती रह जाती थी। वसंत लिखते-लिखते पढ़ने लगता, पढ़ते-पढ़ते गेंद खेलने लगता, खेलते-खेलते लाठी का घोड़ा हाँकने लगता।

लीला को पढ़ाने एक मास्टरनी आने लगी थी। वसंत स्कूल जाता था, घर पर शर्माजी ही उसे कुछ बता देते थे। गृहिणी इससे संतुष्ट न हुई। उसने लड़-झगड़ कर एक मास्टर वसंत के लिए भी रखवा दिया।

संध्या-समय बहुधा वसंत लीला के यहाँ पहुँच जाता। अक्सर लीला भी अपनी माता के साथ उनके यहाँ जाती थी। लीला डरपोक स्वभाव की थी, वसंत निर्भय और बिहारप्रिय। वह बहुत बढ़ा-बढ़ाकर बाते बनाता था, लीला के सामने कि उसको आकर्षित करे। एक दिन लीला ने उससे कहा—"तुम फाटक की दीवाल पर चढ़कर उससे नीचे कूद सकते हो?"

वसंत ने वैसा करके दिखा दिया।

लीला बोली, कोठी के हाते में के एक कनेर के वृक्ष को दिखाकर, "वह चोटी पर का फूल!"

"उसे तोड़ने के लिए कहती हो?"—वसंत ने जूते खोल दिए, कोट खोल दिया।

लीला ने मंद स्वर में कहा—"हाँ।"

वसंत दौड़कर उस पेड़ पर चढ़ने लगा। अविभावक या नौकर कोई भी उसको निषेध करने के लिए वहाँ पर न थे।

लीला वसंत के वेग और उत्साह को देखकर तुरंत वृक्ष के नीचे आकर बोली—"नीचे उतर आओ वसंत, मुझे भय लगता है, कहीं गिर पड़ोगे।"

"नहीं, नहीं, तुमने कहा क्यों मैं अवश्य उसे तोड़ लाऊँगा।"—वह बड़े परिश्रमपूर्वक ऊपर चढ़ते-चढ़ते बोला।

"वह नहीं, नीचे उतरो मैं दूसरी बात बताती हूँ।"

"पहले इसे ले आता हूँ, नहीं फिर मेरी हँसी उड़ाओगी।"—कहते हुए उसने एक ऊपर की डाली पकड़ने को हाथ बढ़ाया।

"गिर पड़ोगे वसंत, यही हाथ के समीप का फूल तोड़ कर ला दो।"

गिर पड़ा वसंत! लीला ने भय का आभास देकर उसकी एकाग्रता तोड़ दी थी। वसंत ने जिस डाली को पकड़कर उचकने के लिए पैर उठाए थे, वह डाली टूटकर वसंत के साथ भूमि पर गिर पड़ी। लीला, वसंत को गिरता देख चिल्लाती हुई पेड़ के नीचे से बँगले की ओर भागने लगी थी।

लेकिन वसंत भूमि पर गिरा नहीं, वैसे ही खड़ा रह गया। उसने हँसते हुए लीला से कहा—"व्यर्थ का शोर न करो।"

"तुम्हारे कहाँ चोट लगी?" लीला ने सचिंत होकर पूछा।

हँसते हुए उसने उत्तर दिया—"कहीं भी नहीं।"

लीला ने देखा, उसका पैर खुरच गया था। गाल पर भी एक रेखा पड़ गई थी। लीला दौड़कर घर के भीतर गई। दोनों बालकों की माताएँ, रसोईघर में बैठी-बैठी बातें कर रही थीं।

लीला को सकपकाते हुए कमरे के भीतर से आते-जाते देखकर उसकी माता ने पूछा—"क्या है लीला?"

"कुछ नहीं माँ।"

उसकी माँ बातों में इतनी डूबी हुई थी कि उसने उसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। उसके एक हाथ में थी एक रबर की गुड़िया

और दूसरे में टिंक्चर की शीशी। वह दौड़ी-दौड़ी वसंत के पास पहुँच गई। उसने देख लिया था, वसंत ने कमर में हाथ रखकर विकृत मुख किया था। लीला को देखते ही उसके पास दौड़ा आया यह प्रकट करने को कि उसे कुछ भी चोट नहीं लगी।

"तुमने डरा दिया लीला।"

लीला ने वसंत के पैर में टिंक्चर लगाया।

वसंत ने पूछा—"तुमने किसी से कह तो नहीं दिया?"

"नहीं, मै छिपाकर ही यह शीशी लाई हूँ। और कहाँ? मुँह में?"

"नहीं, बुरा दिखाई देगा। माताजी पूछेंगी फिर? उनसे सब कुछ कहना पड़ेगा। पिताजी तक बात चली जायगी तो वे पीटेंगे भी।"—वसंत ने पीठ की ओर हाथ कर उसका एक भाग उँगली से दबाया।

लीला बोली—"कहीं और भी लगी है?"

"नहीं।"

"अवश्य, पीठ की ओर, दिखाओ।"

लीला के विशुद्ध आग्रह पर वसंत ने कमीज़ हटा, गर्दन पीठ की ओर करते हुए कहा—"नहीं तो।"

लीला के उधर देखने के साथ ही उसने कुरता गिरा दिया—"कहीं कुछ नहीं। चोट बिना देखे भी हमें ज्ञात हो जाती है।"

पर लीला ने देख ही लिया था। वह बोली—"खरोंच पड़ी है, बहुत बड़ी। कुछ उछल भी गया है और लाल भी हो रहा है। तुम्हें कष्ट नहीं जान पड़ता?"

"नहीं तो।" कहकर वसंत ने उधर देखा, हँसकर बोला—"यह भी कोई चोट हुई। नीचे गिरते समय उस पीछे की डाली से खुरच गया।"

"यहाँ पर भी टिंक्चर लगा देती हूँ।" कहकर लीला ने एक स्तर वहाँ भी लगा दिया। "तुम बड़े दुष्ट हो, अब से मैं तुमसे ऐसी बात न कहूँगी। अगर कहीं पेड़ पर से गिर गए होते।"

"तो क्या तुम उसे उतरना कहती हो ?"

"मेरा मतलब है यदि कहीं तुम्हारा हाथ टूट गया होता तो—"

"यदि वह दाहना होता तो सवालों से छुट्टी मिल जाती क्यों ?" वसंत अपने कोट और जूते की ओर जाना चाहता था, लीला की बाँह से पकड़ी हुई गुड़िया को देखकर बोला—"यह वही गुड़िया है ?"

"हाँ, इस पर न जाने तुम क्या मोहित हुए हो। लो मैं आज अपनी माया छोड़कर यह तुम्हें दे दूँगी।"

"नहीं लीला !" उदास स्वर में वसंत ने कहा और उस कनेर के पेड़ के नीचे रक्खे हुए अपने वस्त्र पर दृष्टि डाली।

लीला समझती थी, वसंत अपनी चिरइच्छित गुड़िया को पाकर सुख से उछल पड़ेगा। वह कई बार उसे माँग चुका था। "नहीं लीला !" वाणी का यह वैराग्य पाकर लीला उदास पड़ गई। उसने कहा—"क्यों वसंत ! तुम तो इसे बहुत चाहते थे। मैं सच कह रही हूँ, मैं यह तुम्हें देने ही को तो लाई हूँ।"

लीला की निष्क्रांति ने उसकी माता के मन में कुछ भ्रम डाल दिया। दोनों माताएँ बातें समाप्त करना चाहती थीं। वसंत की माँ ने बाहर दृष्टि कर कहा—"अब तो जाने का भी समय हो गया। रात नौ-दस बजेतक आवेंगे बाबूजी दावत से लौटकर ?"

"हाँ।" लीला की माता ने कहा—"नौकर को भी मैंने बाज़ार भेज रक्खा है।"

दोनों उठ खड़ी हुईं। वसंत की माँ ने पुकारा—"वसंत !"

प्रत्युत्तर नहीं आया, दूसरी पुकार का भी।

लीला की माँ बोली—"कोठी के सामने खेल रहे होंगे, हरी दूब पर, भीतर चलो, वह कपड़े का नमूना भी तो ले जाओगी।"

दोनों कोठी के भीतर चलीं। सुंदरी अपने कमरे में उन्हें ले गई। खिड़की से बाहर उसने देखा, लीला जैसे वसंत को मना रही है। सुंदरी ने लीला की माँ से चुपचाप उन दोनों की बातें सुनने का संकेत किया।

दोनों ओट से बाहर उन दोनों बालकों की बातें सुनने लगीं।

"नहीं, लीला मैं ऐसे ही थोड़े माँगता था इसे।"

"फिर कैसे माँगते हो?"

"विवाह में दे दो इसे, मेरी गुड़िया के।"

दोनों माताएँ भीतर कमरे में मुसकाईं।

"विवाह में ही ले लो, मुझे कब अस्वीकार है।"

देवकी ने भीतर सुंदरी से कहा—"क्यों?"

"हाँ, हाँ, मुझे भी कब अस्वीकार है।"

"सच?" वसंत ने पूछा—"सोच लो, फिर बाद को नहीं न करना।"

"सोच लिया, फिर नहीं न कहूँगी।"

भीतर देवकी ने फिर सुंदरी की ओर देखा और धीरे-धीरे कहा—"सोचा?"

"हाँ, हाँ, कब से सोच रही थी। तुम नहीं न कहो तो धन्यभाग्य समझूँगी।"

"हाथ मिलाओ।" वसंत ने कहा।

लीला ने हाथ दिया।

भीतर दो सुवर्ण के कड़ों की अधीनता में काँच की चूड़ियों के कई जोड़े खनक उठे, दोनों माताओं ने भी हाथ मिलाए।

विनायक शर्मा उस समय अपने घर पर भागवत् पढ़ने के लिए अपना चश्मा ढूँढ़ रहे थे और मन-ही-मन गृहिणी से कुढ़ रहे थे—"मैं इस तकिए के नीचे ही रोज़ अपना चश्मा रखता हूँ कि वह आवश्यकता के समय मुझे मिल जाय। श्रीमती ने आज यहाँ बुहारी दी है। उसे उठाकर न जाने कहाँ रख दिया।"

मेज़ पर देखा, नहीं मिला। मेज़ की दोनों दराज़ों में, वहाँ भी नहीं। तख्त के नीचे अलमारी में, कानस पर, वसंत के डेस्क में कहीं भी उसके दर्शन नहीं हुए। घर के बाहर सब लोग यही जानते थे कि

शर्माजी बड़े शांत व्यक्ति हैं। गृहिणी कुछ और ही कहती हैं। चश्मा न मिलने पर क्रोध निकाला उन्होंने अलमारी के द्वारों पर, बड़ी ज़ोर से उन्हें बंद किया और बोले—"मैंने हज़ार बार उससे कह दिया है, तू मेरी चीज़ों को यदि वहीं पर नहीं रख सकती, तो स्पर्श न किया कर।" वह तखत पर बैठ गए। फिर कुछ याद आई। फिर तकिया उठाया, उसके नीचे की चादर उठाई, उठाई उसके नीचे की दरी, चश्मा मिल गया! प्रसन्न हो उठे। पुस्तक उठाई, उसे खोलकर पेज इधर-उधर कर कुछ खोजने लगे—डाकख़ाने के एक बिना लिखे कार्ड का स्मृति-पत्र बनाकर पुस्तक में खोंस रक्खा था, नहीं मिला। फिर रोष उमड़ पड़ा—"एक चीज़ मिली तो फिर दूसरी नहीं। यह सुख से नहीं रहने देना चाहते मुझे। जहाँ श्रीमतीजी नहीं पहुँच सकतीं तो वहाँ चिरंजीव धँस पड़ते हैं।" पुस्तक के पन्ने लौटते हुए बोले—छठा स्कंध पढ़ रहा था। हाँ याद आया—इंद्र और वृत्रासुर की कथा।" अनुक्रमणिका खोलकर अध्याय ढूँढ़ लिया और लगे पढ़ने। पढ़ते-पढ़ते याद आ गई—"हाँ, कार्ड तो पिछले इतवार को परेश बाबू को निकालकर दे दिया था। व्यर्थ ही मुझे क्रोध आया वसंत पर।" कुछ आत्मग्लानि होकर उन्होंने अपने को और अपने क्रोध को धिक्कारा, भविष्य में कभी क्रोध न करने का फिर विचार कर वह पुस्तक पढ़ने में लीन हो गए।

"अच्छी बात है लीला। चलो, विवाह की विधि पूर्ण हो जाय।"

"अभी? तुम्हारी गुड़िया? लाए हो?"

"हाँ।" वसंत ने लीला का हाथ अभी तक छोड़ा न था। दोनों दौड़े-दौड़े उस कनेर के वृक्ष के पास गए, हाथ में हाथ दिए।

वसंत ने जूते पहने। कोट की जेब में से अपनी गुड़िया निकाली, कोट पहना। फूलोंवाली दो कनेर की छोटी-छोटी दो डालें तोड़ीं। एक लीला को दी, दूसरी अपने पास रक्खी। आप गुड़िया को ले, डाली सिर से ऊँची कर बीच में खड़ा हो गया और लीला से कहने लगा—"तुम अपनी गुड़िया को लेकर मेरे चारों ओर सात फेरे करो।"

बीच में स्थित वसंत ज़ोर-ज़ोर से मुँह से बाजा बजाने लगा और लीला उसके चारों ओर परिक्रमा करने लगी। सामने बरामदे में वसंत की माता—देवकी, और लीला की माता—सुंदरी यह दृश्य देख-देख-कर प्रफुल्लित हो रही थीं।

सात की गिनती पूरी कर लीला ने पूछा—"हो गया विवाह ?"

"हाँ।"

"तो यह तुम्हारी हुई। इस पर कृपा रखना। इसे आदर-पूर्वक अपने गृह में स्थान देना।" कहकर लीला ने वह गुड़िया वसंत को दे दी।

"हाँ, हाँ, मैं बीच-बीच में इसे तुम्हें भी दे जाऊँगा।"

देवकी ने पुकारा—"वसंत !"

दोनों ने बरामदे की ओर देखा। माताओं के मुखों पर उदय हुई हँसी देखकर दोनों उधर चले। दोनों के पैर संकोच से भारी थे।

देवकी ने फिर कहा—"जल्दी चलो, देर हो गई।"

वसंत दौड़कर आ गया। लीला मंद गति से आ रही थी। जितना वह टिंक्चर की शीशी को छिपाना चाहती थी, उतनी ही प्रकट हो रही थी वह।

देवकी ने कहा—"यह क्या है जेब में ?"

"गुड़िया, लीला ने दी। मेरी गुड़िया के साथ इसका विवाह कर दिया।"

देवकी—"क्यों लीला ?"

लीला भी आ पहुँची थी। मूक-विनत हो गई वह। कुछ भी उत्तर उसके मुँह से नहीं निकला।

सुंदरी ने सहास्य पूछा—"लीला, तुम्हें पसंद हुआ वह वर ?"

लीला ने माँ का अंचल पकड़कर मुँह ढक लिया।

दोनों माँ-बेटे प्रणाम कर बिदा हुए। सुंदरी उन्हें पहुँचाने को फाटक तक गई। बिदा होते समय देवकी ने कहा—"आज की यह

बात याद रहेगी न ?"

मार्ग में वसंत ने पूछा—"कौन सी बात माँ !"

माता हँसी में ही टाल गई। घर पर आकर उन्होंने देखा शर्माजी श्रीमद्भागवत् के पढ़ने में दत्तचित्त हैं। वसंत ने धीरे से अपना डेस्क खोलकर उसमें दोनों गुड़ियों को रखना चाहा। शर्माजी ने उधर दृष्टि की, पूछा—"क्या रख रहे हो यह ?"

"कुछ नहीं बाबूजी, रबर की गुड़ियें हैं।" हँसते हुए उसने कहा।

"लज्जा की बात है वसंत ! अब तुम पर्याप्त बड़े हो गए हो। ऐसे छोटे-छोटे बच्चों के खिलौनों से खेलते हुए तुम शोभित नहीं होते।"

वसंत दोनों गुड़ियों को डेस्क में से निकालकर भीतर चला गया और उनको अपने ट्रंक में रख दिया।

चौथा परिच्छेद

भ्रम बढ़ा

बारह वर्ष का अंतर देकर हम अपनी कथा का सूत्र पकड़ते हैं। रेज़ीडेंसी की दीवाल पर लीला का नाम अंकित कर वसंत अमीनाबाद आया, पैदल ही। उसका एक सहपाठी उसकी साइकिल माँग कर लाया था। मार्ग में वसंत सोचने लगा, कदाचित् एक भूल कर आया हूँ, जो दीवाल पर उसका नाम खुरच आया। वैसा कर भला मेरा क्या मतलब सिद्ध होगा ? यदि उसके पढ़ने में आ गया तो वह बड़ी लज्जा अनुभव करेगी। चलूँ जाकर उसे मिटा आऊँ। मित्र के यहाँ से साइकिल लेकर उसने रेज़ीडेंसी की ओर ज्योंहीं दो-चार पैडल चलाए थे कि उसे एक साथी मिल गया। उससे पीछा छुड़ाकर फिर वसंत ने मन में सोचा, नहीं न मिटाऊँगा उसे। वह केवल एक उसी का नाम नहीं है। दीपक जल चुके थे। वसंत घर की ओर चलने लगा।

अब वसंत उस सरलता, उस स्वतंत्रता तथा वैसे एकांत में लीला से नहीं मिल सकता। उसे याद नहीं है यह प्राचीर किस प्रकार उसके और लीला के बीच में बन गई। भेंट होती है अब भी उसकी लीला के साथ, पर गोपाल बाबू की उपस्थिति में, उनके ड्राइंग रूम के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं।

लीला ने घर ही शिक्षा प्राप्त कर स्कूल की सर्वोपरि परीक्षा पास की है। उसने कॉलेज में भी नाम लिखाया था, बीमार पड़ गई। दो महीने कॉलेज न जा सकी। फिर अच्छी होने पर माता ने मना कर दिया। शिक्षा ने लीला में माता का विद्रोह नहीं उपजाया, न अपनी वस्तु की घृणा। पिता के सामने तो उसका सिर भी नहीं उठ सकता। वह बहुत कम कहीं घूमने जाती है। वसंत फिर सोचने लगा, जाकर मिटा आऊँ, कोई लाभ नहीं। उसकी कल्पना बोली—"वसंत! एक दिन गोपाल बाबू और लीला के साथ यदि घूमने जाओ तो उस दीवार से होकर जाना और किसी प्रकार लीला की दृष्टि उधर आकर्षित कराना। देखना, कहती क्या है।" वसंत ने मन में सोचा, "यदि गोपाल बाबू ने देख लिया तो—" वह ठिठका और हँसा—"मैं स्पष्ट ही कह दूँगा, मेरी कोई भी दुरभिसंधि नहीं है। लीला ने मेरी कल्पना को खींचा है। यह नाम मुझे सुंदर लगा है। एक दिन जैसे इस दीवार ने मेरे मन के भीतर लिखे गए इस नाम को खींचकर जगत की आँखों पर रख दिया।"

शर्माजी संध्या-पूजा कर भोजन के लिए चौके में बैठकर आचमन करने के पश्चात् बोले—"वसंत नहीं आया अभी?"

गृहिणी दिन से ही आज कुछ रिस में थीं। गोपाल बाबू व्रती थे, चतुर्दशी के। दिन भर के भूखे, फलाहार मानस में घूम रहा था। उसको पकाने और परोसनेवाला भी प्रियतर प्रतीत हो रहा था। उसके मन की थाह लेने के लिए, उसे मनाने को ही पहले बोले थे वह। नहीं तो वसंत किसी विशेष कार्य को नहीं गया था। संध्या समय वह

सदैव ही घूमने को निकल जाता था।

गृहिणी पतीली में से आलू की रसदार भाजी निकाल रही थीं। वह शर्माजी से बोलना न चाहती थीं, इसलिए उन्होंने ज़ोर से कलछुल चलाकर उसके रव में शर्माजी के प्रश्न को डुबा दिया।

शर्माजी कुछ देर चुप रहे। गृहिणी ने थाली परोसकर उनके सामने रक्खी। गृहिणी का विचार उनकी समझ में आ गया। वह इस बार और भी मधुर वाणी में बोले—"वसंत घूमकर वापस आ गया क्या अपने कमरे में?"

"मैं क्या जानूँ, आया या नहीं?" देवकी ने भ्रूयुगल में ग्रंथि देकर कहा। स्पष्ट था अभी वह शांत नहीं हुई है।

शर्माजी ने एक टुकड़ा सिंघाड़े की पूरी का तोड़कर उसमें एक टुकड़ा भिंडी का लेकर मुख में डाला, विरस ज्ञात हुआ। धीरे-धीरे दाँतों से चबाया। शर्माजी का दाँत अभी कोई गिरा न था, दाढ़ पर के कुछ ढीले होने लग गए थे अवश्य। वह ग्रास उन्हें फिर फीका ही मालूम दिया। सोचने लगे, दिनभर के उपवास से जीभ का स्वाद विकृत हो गया है। इस बार उन्होंने दो-तीन टुकड़े भिंडी के ही मुँह में डाले—फीके बिलकुल, नमक का पता ही नहीं। वह चुप रहे। अब आलू के रस में पूरी के टुकड़े को स्नान कराकर जीभ पर रक्खा, नमक-ही-नमक उसमें! उन्होंने भूमि पर उसे थूक दिया!—"खाऽऽक् थू!"

देवकी अभी तक मुँह फुलाए ही बैठी हुई थी। उसकी आदत थी, नित्य शर्माजी के भोजन आरंभ करते समय पूछने की, नमक ठीक है या नहीं। न पूछा आज। जब पति-देवता ने घोर तिरस्कार के साथ भूमि पर मुख का ग्रास थूका तो देवकी की नाड़ियों में शांति आई। उसने कुछ विनम्र होकर पति की ओर देखा, बोली—"जीरे में होगा, बड़ा बुरा आप लाए हैं अबके। मैं कहती हूँ, जब अपने पास नगद पैसा है, तो आँखों का उपयोग कर लेने में क्या बुराई है। जिसकी दूकान में अच्छा सौदा मिले वहाँ से लाया जाय।"

उन्होने जब देखा पति का हाथ लाइन क्लियर न मिली हुई गाड़ी की भाँति अचल है तो अपने व्याख्यान को कुछ ढीला करने लगी—"खरा पैसा लेकर भी ऐसा माल देते हैं, क्या भलाई उपजेगी भला ऐसे लोगों के लिए। रहने दीजिए भिंडी को ऐसे ही।"

शर्माजी मुँह ताकते ही रह गए गृहिणी का। मन के भाव दुःख की हँसी में फूटना चाहते थे या क्रोध की ज्वाला में! भूख ने सत्य की ओर संकेत किया, बोले वह—"तुम तो रखती हो सबसे निराली बुद्धि!" मद मुसकान फूट पड़ी उनके मुख पर!

पत्नी खिल उठी। पति की ओर से सभी भाव शुद्ध हुए। वह सम पर आईं, बोलीं, ईषत् अधर खिंचे—"कहो भी तो सही। बात क्या हो गई?"

"नमक छोड़ा था भिंडी में?"

बहुत स्थिरता से कहा उन्होने—"हाँ, हाँ, क्यों नही? सैंधा नमक पिसा हुआ रक्खा है घर में। वही छोड़ा था इसमें भी। व्रत के दिन भी यदि मनुष्य की शांति बनी न रह सके तो क्या बात हुई।"

"मैं कहता हूँ, नहीं छोड़ा तुमने इसमें नमक।"

"भूलती हूँगी फिर, न छोड़ा होगा। इससे ही ग्रास क्या इतना अपवित्र हो गया, थूकने के योग्य! और नमक ले लीजिए। नमक की कमी तो सरलता से सुधर सकती है।" कहते हुए देवकी ने उनकी कटोरी में पिसा हुआ नमक बुरका दिया और कुछ पतीली में छोड़कर, उसे चलाने लगीं।

"आलू में छोड़ा था नमक?" शर्माजी ने दूसरा ग्रास तोड़ा और उससे कटोरी में की भिंडी को इधर से उधर करने लगे।

"निस्संदेह! उसकी तो खूब पक्की याद है। उस समय आप आरती कर खूब ज़ोर से शंख बजा रहे थे।" देवकी ने करछी में कुछ भिंडी उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा—"इसमें नमक मिल गया, इसे लीजिए।"

शर्माजी ने कटोरी कुछ आगे को खिसकाते हुए कहा—"छोड़ा था नमक, ठीक है। कै बार ?"

श्रीमतीजी चकराईं। उन्होंने भूल को देखा। अपने को बहुत तुच्छ दिखाते हुए कहने लगीं—"ऐसी ही पागल हो गई हूँ मैं, अधिक बना दिया है, तुमने ही मुझे ऐसा। भिंडी के बदले भी नमक आलू में ही छोड़ दिया। दही डाल देती हूँ इसमें।"

"उतने से क्या होगा ?" शर्माजी ने ग्रास निगलकर कहा।

एक कटोरी में थोड़ा सा दही था। देवकी ने वह शर्माजी की थाली में रख दिया।

शर्माजी आनंद के साथ जीमते हुए बोले—"सुनो बसंत की माँ! लड़का तुम्हारे केवल एक ही है तो इससे क्या। तुम बूढ़ी हो गई हो। तुम्हें इस प्रकार फैशन के पीछे भागते हुए देखकर मुहल्लेवाले क्या कहते होंगे।"

शर्माजी अक्सर देवकी से बूढ़ी कह देते थे। बहुत चिढ़ जाती थीं वह इससे। शर्माजी पाँच की दहाई के अंतिम भाग में थे। देवकी उनके दूसरे विवाह की स्त्री थी। होगी उनसे आयु में दस वर्ष छोटी। सिर के बाल शर्माजी से अधिक पक गए थे उनके, पर स्वास्थ्य में शर्माजी से बहुत अच्छी थी।

"क्या फैशन के पीछे भाग रही हूँ मैं ? क्या कर दे रहे हो तुम मेरे लिए ? तुम बूढ़े हो गए हो। तुम्हें पैबंद पड़ा हुआ कपड़ा पसंद है। मैं तो कभी नहीं पहनूँगी वैसा। तुम्हारी हँसी नहीं उड़ाते होंगे मुहल्ले-वाले। एक कानी कौड़ी ख़र्च करते हुए तुम्हें डर लगती है।"

"इतना बड़ा मकान मैंने बिना ख़र्च किए ही बनाया है न ? मैं फटा हुआ सीकर पहनता हूँ तो क्या यह भी कोई लज्जा की बात है ? मुझे दिखावा पसंद नहीं है। यह कोई अपराध नहीं है। अरबी अधिक मिला दी तुमने सिंघाड़े के आटे में। यह पूरी कोहड़े की है ?"

देवकी ने देखा, पूरी का अंतिम ग्रास खाते हुए शर्माजी ने वह

वाक्य कहा था। उन्होंने कोंहड़े की दूसरी पूरी उठाकर बड़ी विनय के साथ समर्पित की और दूसरा प्रकरण छेड़ने को कहा—"कचनार का रायता दूँ और ?" उसने रायता परोसा। "भिंडी में अब नमक ठीक हो गया होगा ?"

"हाँ।" पर उस "हाँ" में शत-प्रति-शत संतोष न था। "कुछ तुम्हारी दृष्टि ऊँची हुई है, उनकी संगति से।"

"किनकी ?" देवकी ने तीव्रता के साथ पूछा।

"उनकी, उन साहब लोगो की, गोपाल बाबू की स्त्री की।" शर्मा-जी ने सौम्यतापूर्वक कहा।

"तुम क्या जानते हो उसे ? मैं तो तुम्हारे पल्ले बँधकर आई हूँ। बुरा-भला जो भी कहो सब सुनती और सहती हूँ। तुम्हारा उसे कुछ कहना ठीक नहीं। यदि उसके कानोंतक बात चली जायगी तो भला क्या कहेगी वह ? क्या बुरी है वह ? हिंदुओं की रीति-नीति सब बरतती है। व्रत-उपवास रखती है, देवता-पितरों को उनका भाग देती है, अतिथि-अभ्यागतों को विमुख नहीं जाने देती, गो-ब्राह्मण का मान करती है, छोटे-बड़े का ध्यान रखती है, खान-पान के मामलों में भी कट्टर है।"

"और उसके पति देवता गोपाल बाबू ?"

"किसी की धरोहर का हरण किया है उन्होंने ? किसी की चोरी की है क्या ?

"वह संध्या-गायत्री, छुआछूत कुछ नहीं मानते।"

"अपने दिनो में तुम कौन सी संध्या-गायत्री के उपासक थे ?"

"वह साहब लोगों के साथ खाना खाते हैं।"

"तुम्हें कहीं मिला होता तब न ? साहब लोगों से उनका सदा काम रहता है। उनसे मिलजुल कर रहने की आवश्यकता होगी। अपने बिरादर बनारसवाले जज साहब के बारे में तुम ही कहते थे, जब तुम गया जाते समय अपनी आँखों से देख आए थे, कि वह पूरे क्रिस्तान

हैं। तुम्हीं ने बताया था कि वहाँ जाकर मुझे बड़ी घृणा हुई और मैं पेट के दर्द का बहाना कर अपने पुरोहित के यहाँ बिस्तर खिसका ले गया था।"

"उनकी लड़की लीला अब वयस्क हो गई, उसको मुँह खोले, लड़कों के कॉलेज में जाने की क्या आवश्यकता है?"

"वह नहीं जाती अब। लेकिन मैं आपसे पूछती हूँ यह कहाँ का न्याय है, पुरुष प्रकृति और समाज के समस्त वरदानों को प्राप्त करे और बेचारी कन्या घर और अविद्या के दोहरे अंधकार में बंदिनी बनाकर रक्खी जाय। सुंदरी एक आदर्श महिला है, और लीला शील और गुण की भरी कन्या। जिस घर में बहू बनकर चली जायगी, अपनी ज्योति से उसे प्रकाशित कर देगी।"

"वसंत के ले आओ न?" शर्माजी ने व्यंग्य किया।

"यदि केवल मेरा ही वश चलता तो मैं अवश्य ले आती। वे सम्मत हो जावेंगे, बड़ी सरलता से। आपके हाथ जोड़ती हूँ, आप आज्ञा दे दीजिए। ऐसी बहू दीपक लेकर खोजने से न मिलेगी।"

"और दहेज, उस पर भी लार टपकी है न तुम्हारी?"

"भगवान् जानता है, मुझे बहू ही पसंद है। मेरे क्या कमी है, जो मैं ऐसा लालच बढ़ाऊँ।"

"अरी पगली, ब्याह-संबंध बराबर स्थिति के ही लोगों में ठीक होता है। वह साहब लोग—टाइ-पतलून-टोप पहननेवाले और मैं धोती-टोपी-धारी, किस प्रकार हम उस ऊँची एड़ी की जूती पहननेवाली लड़की को निभा सकेंगे?"

"जो उसे लावेगा, वह तो टाइ-पतलून दोनों पहनता है, टोप भी सिर में देता है। रह गई बहू की बात, जिस दिन वह इस घर में प्रवेश करेगी, आप जो भी आज्ञा देंगे, उसी प्रकार वह रहेगी। मैंने तो कभी नहीं देखा उसे ऊँची एड़ी की जूती पहने।" कहकर देवकी ने दो पूरियाँ उठाकर उनकी थाली में परोसीं।

"लीला की माँ ने तुमसे कहा है क्या कभी ?"

"कहना क्या वह तो वचन हार चुकीं।"

"कब ?"

"कई साल हो गए तब।" देवकी ने सारी कथा विस्तार-सहित कही।

"तब की बात गई। इधर कुछ कहा ?" शमाजा न सब कुछ सुनकर कहा।

"इधर भी कहा। मैं बीच-बीच में उनको याद दिलाती रहती हूँ।"

"कोई अर्थ नहीं तुम्हारी बात का। गोपाल बाबू ने तो मुझसे इस बात का कभी कुछ भी उल्लेख नहीं किया।"

"तुम स्वीकृति दो। अच्छा है तुम्हीं उनसे कहो, वह अवश्य स्वीकार करेंगे।"

"मैं ? कदापि नहीं। मुझे लड़के का विवाह करना है और मेरा लड़का, उसकी प्रशंसा सारा कॉलेज करता है। मुझे क्या पड़ी है, जो मैं उसके लिए कन्या माँगता फिरूँ।"

"ऐसा घमंड भी ठीक नहीं। मेरी बात मानो, बड़ी अच्छी लड़की है।"

"लड़की अच्छी है, मैंने क्या देखा नहीं है उसे।"

"अब जब वह यहाँ आवे तो फिर उसकी परीक्षा कर देख लेना। अँगरेज़ी पढ़ने से ही कोई अशुद्ध नहीं हो जाता। बड़ी गंभीर और शांत लड़की है। उतने नौकर-चाकर हैं उनके, फिर भी पूजाघर में अपने हाथ से बुहारी देती है, पूजा के बर्तन अपने हाथ से साफ़ करती है। नियमपूर्वक रोज़ रामायण का पाठ करती है। एक दिन उनके यहाँ चले जाओ, बातों ही बातों में वसंत के विवाह की चर्चा छेड़ देना। मैं कहती हूँ, मेरा सोलहों-आने विश्वास है वह बड़ी प्रसन्नता से "हाँ" कह देंगे।

"मैं नहीं जाता मूर्ख बनने उनके पास। यदि उन्होंने नहीं कह

दिया तो फिर मेरे लिए बड़ी मुश्किल हो जायगी। वह अब मेरे यहाँ जितना पहले आते थे, उतना नहीं आते। कुछ-कुछ हमें मालूम हो गया है कि हम दोनो के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। मैं भी अब उनसे उस निष्कपट भाव से नहीं मिल पाता।"

"जब तुम्हारे वह समधी हो जावेंगे तो फिर घनिष्टता बढ़ जायगी।" देवकी ने पूरियाँ उनकी थाली मे परोसनी चाही थीं, पर—

शर्माजी बोले—"हो गया बस।"

गृहिणी ने परोस ही दीं—"खाई जावेंगी, बातें करते-करते।"

"देखो, वसंत की माँ, तुम हो जन्म की मूर्ख। वे लोग किसी जज-कलक्टर के लड़के से उसका विवाह करेंगे या तुम्हारे बेटे से। उनके कोठी है, उपवन है, नौकर-चाकर हैं, मोटर है, जहाँ ये सब होंगे, वहाँ लड़की न देकर, तुम्हारा जूठा उठाने और तुम्हारी धोती धोने के लिए अपनी एक मात्र संतान दे देगे?"

"मैं क्या किराए के घर में रहती हूँ? सुंदरी क्या अपने गृह का भार नहीं उठाती? इन सब तुच्छ बातों का उन्हें ध्यान ही नहीं है। वसत इस साल बी० ए० पास हो जायगा। सुंदरी कह रही थी, दो-तीन बड़े-बड़े ऑफ़ीसरो के साथ गोपाल बाबू की बहुत अच्छी जान-पहचान है, वह वसंत को कहीं अच्छी नौकरी दिला देगे। यदि वसंत उनका जामाता हो जायगा तो क्या वह उसके लिए कोई कसर करेगे?"

"यही अफ़ीमचियो के से स्वप्न देखती रहो।" शर्माजी ने भोजन शेष कर पानी के गिलास की ओर हाथ बढ़ाया। "वे बड़े लोग हैं, मैं कभी उनसे वसत के लिए कन्या न माँगूँगा अपनी ही स्थिति के किसी गृहस्थ से लाऊँगा।" वह जल पीने लगे।

"अच्छा तुम न कहो कुछ उनसे। मुझे वचन दो कि तुम लीला को वसंत के लिए वधू पसंद करते हो।"

शर्माजी उठ खड़े हुए, नल पर को चले। देवकी ने एक चुटकी में कुछ आटा लिया और तिपाई पर से लालटेन उठाकर उनका अनु-

सरण किया। लालटेन दीवार पर रख दी, नल खोल दिया और शर्माजी को वह आटा दे दिया। शर्माजी हाथ धोने लगे।

देवकी ने फिर कहा—"अब क्या सोच-विचार है। मैं सब कुछ अपने आप कर लूँगी, इस समय तुम मुझसे "हाँ" कह दो और जब गोपाल बाबू तुमसे पूछने आवें, तो उनको स्वीकृति दे देना!"

"बिना बिचारे ही मैं तुमसे हाँ कैसे कह दूँ? मेरे केवल एक लड़का इस प्रकार जल्दी में ही कहीं गंभीर बातों के लिए हाँ कह दिया जाता है?" शर्माजी एक सींक लेकर आँगन में पड़े हुए तखत पर बैठ गए, नल से कुछ ही दूरी पर। उनके हाथ-मुँह धोने का पहला भाग समाप्त हो चुका था।

आँगन के प्रवेश-द्वार पर की साँकल बाहर से झनझना उठी। साथ ही बाइसिकिल की घंटी भी।

शर्माजी ने सींक से दाढ़ के दो दाँतों के बीच में फँसा हुआ जीरे का दाना निकालकर उसे थूका और बोले—"वसंत अब आ गया, द्वार खोल दो।"

माता ने द्वार खोल दिए। वसंत ने साइकिल-सहित प्रवेश किया। साइकिल एक ओर खड़ी कर दी। माता ने द्वार बंद कर दिए।

"क्यों वसंत बड़ी देर से आने लगे हो आजकल।"

"अमीनुद्दौला पार्क में व्याख्यान सुनने चला गया था।"

"विद्यार्थियों को व्याख्यानों से क्या मतलब?"

"हैं क्यों नहीं पिताजी, आज का विद्यार्थी ही तो कल का नागरिक है।"

"क्या सुना व्याख्यान में?" दाँत खुरचते-खुरचते विनायक शर्मा बोले।

"यही व्याख्यान ही ठहरा। गड़-गूदड़ के बीच में कभी-कभी चमकते हुए पत्थर भी।" वसंत पिता के निकट को आया।

"बैठो, कुछ देर शांत-शीतल हो जाओ।" शर्माजी ने दाँतों के

बीच में से एक भिंडी की पक्की नस का टुकड़ा मुश्किल से निकाल कर थूका—"कोमल, कठोर जो भी भिंडी इनके हाथ लगी इन्होंने काटकूट कर बना दी उसकी भाजी। मानो, हम कोई पशु हैं। जड़ें हिल गई हैं मेरे दाँतों की।"

"जैसी मोल ले आए तुम सट्टी से, मैंने पका दी।" चौके में से सुंदरी बोली।

वसंत तखत के एक सिरे पर बैठकर बोला—"व्याख्यान में यही सुना कि काम कोई भी नीच नहीं।"

शर्माजी नल पर फिर कुल्ला करने चले गए थे, बोले—"ठीक बात है। मैं इस विचार को बहुत दिनों से मान रहा हूँ। तुमने देखा होगा मुझे, मैं कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर बैठक में अपने हाथ से बुहारी दे लेता हूँ। बटन टूट जाय और धोती फट जाय तो मैं तुम्हारी माताजी के अवकाश की राह नहीं देखता। तुरंत ही सी लेता हूँ।"

वसंत कुछ बोलना चाहता था बीच में, पर शर्माजी बोलते ही गए—"और अपनी माता को देखो—"

देवकी रसोई पर से बोली, ज़ोर से—"वसंत, आते क्यों नहीं अब, खाना खा लो। अपना तो खा-पीकर बैठ गए हैं, एक चाहिए इनकी बातों में हाँ मिलाने को।"

विनायक शर्मा बोले—"अभी दौड़-धूप से आया है, ज़रा देर सुस्ता लेने दो। हाँ वसंत, इनका यह हाल है यदि किसी दिन महरी बीमार पड़ गई तो यह बीच दिन में खिचड़ी पकाने के प्रस्ताव को पास करती हैं कि इन्हें कम-से-कम बर्तन मलने पड़ें।"

वसंत—"और पिताजी!···"

पर शर्माजी अपनी ही कहते जा रहे थे—"इनकी दृष्टि में आदर्श है गोपाल बाबू के गृहस्थ का। यह देखती हैं सुंदरी को। जिस प्रकार वह घूमने जाती है, नाटक-सिनेमा देखती है, यह चाहती हैं, यह भी वह सब करें। इनके घर का काम और कोई आकर कर जाय।"

देवकी चौके में ही कुछ बड़बड़ा रही थीं, स्पष्ट नहीं सुन पड़ता था।

वसंत बोला—"नहीं, वह घूमने नहीं जाती। गोपाल बाबू उनसे बहुत कहते हैं कि घूमने जाया करो तो दवा का बिल आधा हो जाय। पर वह नहीं मानतीं।"

"और मोटर में तो घूमती हैं।"

"कभी भूले-भटके मंगल के दिन हनूमानजी के मंदिर तक। भोजन वह अपने हाथ से ही पकाती हैं। बड़ी कट्टर हैं, माँ से अधिक।"

शर्माजी कुछ सोचने लग गए थे।

"वसंत, मैं परोस चुकी।"

"आया माँ!" कहकर वसंत ने शर्माजी से कहा—"व्याख्यान में यह भी सुना कि कोई भी मनुष्य नीच नहीं है। किसी की छूत मानना घोर सामाजिक पाप है। सब मनुष्य बराबर हैं।"

शर्माजी बोले—"यह बात मैं नहीं मान सकता वसंत! ऊँच-नीच हैं कैसे नहीं। अरे यह धरती जिस पर हम रहते हैं ऊँची-नीची है। इस आँगन में ही देखो, लकड़ी अपनी जगह में है, कोयला अपनी। वह देखो जूता वहाँ पर रक्खा है और पानी के बर्त्तन उधर। इन सब को एक ही आसन में रख देने से क्या व्यवस्था रह जायगी। छूत मानी कैसे नहीं जाय। सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुई है पाँच महाभूतों के, तीनों गुणों के और मन, बुद्धि, अहंकार के साथ-साथ।"

वसंत तखत पर से उठकर कोट के बटन खोलने लगा, जूता वह बैठे-बैठे ही खोल चुका था।

पिताजी भी उठते हुए बोले—"इन छूत के मिटानेवालों से मैं पूछता हूँ वह कोढ़ी की छूत मानते हैं या नहीं? अरे समाज का सबसे बड़ा अछूत कोढ़ी है, या है कोई ऐसी ही संक्रमणशील बीमारी का शिकार। ऐसे दीन-दुखियों को देखकर हमें बाध्य होकर पूर्व-जन्म और भाग्य के लेख को मानना ही पड़ता है। खाना खा लो।"

"हाँ।"

शर्माजी ने खड़ाऊँ पैर में डालीं। तखत पर से लालटेन उठाई और बैठक की ओर चले गए खटखटाते हुए।

देवकी बोली—"जल्दी आओ वसंत। धोती वहीं खूँटी पर है।?"

"ऐसे ही दे दो माँ तखत पर ही बैठे-बैठे खा लूँगा। कपड़े उतारने को जी नहीं कर रहा है।"

"क्या हो गया तुम्हें वसंत! यदि वह आकर तुम्हें ऐसे ही कपड़े पहन खाते हुए देख लेंगे तो मेरी आफ़त कर देंगे। आलस्य न करो, अब जाड़े के दिन थोड़े हैं।"

"इच्छा नहीं है अधिक। कुछ फलाहार दे दो थोड़ा-सा यहीं पर।"

"क्या गोपाल बाबू के यहाँ गए थे? चाय पी वहाँ?"

"नहीं, कहीं नहीं गया।"

"लीला का सिर भारी था कल संध्या-समय, मैं गई थी वहाँ, बिचारी पड़ी थी। ज्ञात नहीं, कैसी है वह आज?· शनिश्चर होने के कारण, मैं आज नहीं गई उनके यहाँ। तुम तो अँगरेज़ी पढ़ गए, इन बातों को मानते नहीं, हमें मानने ही पड़ते हैं।"

लीला का नाम सुनते ही वसंत के मन-मानस में अनुराग की हिलोर उठी। उसके एक ओर पड़ी हुई थी रजत चमक और दूसरी तरफ़ तम की रेखा। वसंत ने कहा—"मैं चौके में ही आता हूँ माँ! धोती पहन लाता हूँ।"

धोती की खोज में चला वसंत!—मन के अंधकार में किरणों के स्वप्न खींचता हुआ। कल्पना के जाल में उसने देखा, जैसे लीला द्वार पर मिली, उसने हाथ ऊँचाकर खूँटी पर से धोती निकाली और वसत को दे दी। उसने सोचा, तब हमारा यह घर उसकी चापों की रागिनी से भर जायगा और मैं बड़ी लापरवाही के साथ, दाढ़ी के बालों से भरा हुआ सेफ़्टी, साबुन में सना हुआ बुरुश, उसी प्रकार मेज़ पर रख-

कर नहाने चला जाऊँगा और जब खाना खाकर लौटूँगा तो साफ़ और स्वच्छ सेफ़्टी और बुरुश अपनी जगह पर रक्खा हुआ पाऊँगा।

धोती पहन, कपड़े खोल वसंत चौके में भोजन करने बैठा।

माता ने पूछा—"कोठी में कब से नहीं गए हो?"

वसंत चाहता था, माँ उन्हीं की चर्चा करे, वैसा ही हुआ। उत्तर दिया—"कई दिन हो गए।"

"बाबूजी ने कुछ कहा कभी उनके बारे में?"

"हाँ, एक दिन कह रहे थे, कोई मतलब नहीं वसंत! गोपाल बाबू के यहाँ जाने का, उनकी लड़की सयानी हो गई। वह बड़े अहंकारी मनुष्य जान पड़े मुझे, ऐसा कहने लगे।"

"उनकी मैं नहीं जानती। सुंदरी तो साक्षात् देवी है।"

"नहीं, गोपाल बाबू भी पूरे सभ्य हैं। मैं जब उन्हें मिलता हूँ, मोटर में बिठा लेते हैं, सड़को पर से। कहते हैं कि वसंत आते नहीं तुम हमारे यहाँ। नाराज़ हो क्या? मेरे अध्ययन में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। समय-असमय जब उनके यहाँ जाता हूँ, तो उनकी स्त्री अपने हाथ से चाय बनाकर ले आती हैं।"

"और लीला, वह कितनी शांत लड़की है।"

वसंत को मुख का ग्रास निगलने में कष्ट हुआ। उसने दो घूँट पानी पिया।

बैठक में मिश्रजी पधारे थे। शर्माजी ने चूने का हाथ झाड़न पर घिसा और फिर उस हाथ पर खैनी रक्खी, जिसके पूरे संस्कृत होने में अब दो-चार थपोड़ियों की कसर थी।

मिश्रजी और शर्माजी दोनों ने अपने-अपने अधरों के नीचे खैनी की एक-एक चुटकी दबाई। मिश्रजी शर्माजी के बड़े पुराने दोस्तों में से हैं। कई बार एक ही स्टेशन में नौकरी कर चुके थे। क्वार्टर भी साथ मिला हुआ था। एक बिरादरी के न होने से भी एक ही घराना-सा था। दोनों एक-दूसरे से खूब घुल मिलकर बातें करते थे। कभी ज्ञान.

कर्म, भक्ति, राजयोग पर विवाद होता था। कभी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर। कभी कॉलेज की कन्याओं के सिनेमा देखने तथा पतलून पहने युवकों के मूँछों को उड़ा देने की समालोचना होती थी। पर उन दोनों पिताओं के पुत्र दोनों ओर से मूँछों तक कुछ सेफ्टी के दाँतों को खींच ही लेते थे।

मिश्रजी बोले—"वह शरुश कभी श्राद्ध नहीं करता। उसकी स्त्री पुरोहित को बुलाकर कुछ पानी पितरो के नाम गिरा देती है, बस मिल गया उन्हें!"

शर्माजी—"मैंने तो सुना है, वह अँगरेज़ों के यहाँ भी खाना खा लेता है। हाँ स्त्री की प्रशंसा सुनने में आती है कि वह बड़े नियम से रहती है। कैसे कुल-गोत्र के थे, क्या दशा हुई! अपनी बिरादरीवाले होने से बाहरी लोगो के सामने हमें भी अपना मस्तक नीचा करना पड़ता है।"

मिश्रजी—"पैसा कमाने की कला में निष्णात् हैं। वैसे आदमी बेईमान नहीं। व्यवहार के सच्चे, बातचीत के सुमधुर। एक-दो गुण, एक-आध दोष लगे ही हुए हैं जीवन में। समय का ऐसा ही प्रभाव है। प्राचीन विश्वास, जीर्ण वस्त्र के समान त्याग देने की वस्तु हो गई। जैसे हम हैं, वैसी हमारी संतति नहीं और वैसी फिर उसकी संतान नही।

शर्माजी कुछ मिश्रजी के निकट खिसककर बोले—"वे वसंत से अपनी कन्या विवाह देने को कह रहे हैं। आपके क्या विचार हैं?"

"अच्छा तो है।"

"नहीं जी मैं उस भ्रष्ट और नास्तिक की कन्या अपने लड़के के लिए न लाऊँगा।"

"मेरी समझ में यदि वे लोग कन्या दे रहे हैं तो आपको नहीं कहना उचित नहीं। ले आइए। अब इस समय सभी भ्रष्ट हैं। हवा ही ऐसी बह गई। हम नए विचारों के समाज को भ्रष्ट बनाते हैं और

वे लोग हमारी स्वच्छता की हँसी उड़ाते हैं। हमारी संध्या पूजा को ढपोड़शंखी, हमारे यज्ञसूत्र को गुलामी का फंदा और हमारे भस्म-चंदन को साइनबोर्ड कहते हैं।"

"मिश्रजी, किसी सीमा में यह सत्य भी है।"

"है, इसमे संदेह नहीं। जब हम पूजाघर में एकाग्र होते हैं, तो हमारे हाथ में माला और होठों पर जप रहता है, इसमें शक नहीं परंतु हमारे अंतरमन में उस समय व्याप्त रहता है बाहरी संसार का विप्लव। उस समय हमें याद आता है, गयादीन ने जब से आर्यसमाज में शुद्धि कराई, हमसे 'पालागी' कहना छोड़ दिया। धोबी के यहाँ पिछली धुलाई से एक धोती शेष रह गई है, उसको याद दिलानी है। म्युनिसिपैलिटीवालों ने जो हमारे घर के सामने दिया नहीं जलाया, वह उनका घोर अन्याय है!"

शर्माजी बोले—"हाँ, कोई अपना पैसा माँगने के लिए फिर हमारा द्वार खटखटाता है तो हम पुत्र से कहते हैं, कह दो बाबूजी घर पर नहीं हैं। पुत्र के कोमल मानस में हम सच-झूठ की वैसी गहरी रेखा खींचकर उसे उपदेश देते हैं कि बेटा हमेशा सच बोलते हैं, सचाई से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं। वह उपदेश भुने हुए बीज की खेती साबित होता है।"

वसंत खा-पीकर अपने कमरे में आया।

शर्माजी की बैठक सड़क पर खुलती है। उसी से मिला हुआ एक वर्गाकार कमरा वसंत का कहलाता है। उसमे एक मार्ग बैठक से है दूसरा भीतरी एक कमरे से। वसंत के बाहर आने-जाने का कोई स्वतंत्र पथ नहीं, उसे वह अभाव बहुत खटकता है। वसंत के कमरे से सड़क पर केवल एक खिड़की खुलती है। उसके काँच में उसने खूब चुनट पड़े हुए दो परदे बाँध रक्खे हैं, दोनो द्वारो पर। सामने सड़क की बिजली से प्रकाश उसकी खिड़की पर भी पड़ता है। एक झीनी चमक उसके कक्ष में पड़ी है, वसंत ने कमरे में प्रवेश कर दियासलाई जलाई

और लैंप प्रकाशित किया। उसने मन में सोचा—"बाबूजी की मित-व्ययिता की कसौटी भी कुछ अद्‌भुत है। बिजली की रोशनी महँगी नहीं। कब से इनसे बिजली लगा लेने की प्रार्थना कर रहा हूँ। टाल देते हैं। कितने समय की बचत और झंझटें दूर होतीं।" उसने लैंप उठाकर हिलाया। तेल के बाजे से उसे संतोष हुआ।

वह कुर्सी पर बैठ, मेज़ पर किताब पढ़ने के लिए तैयार हुआ। मन में कुछ दूसरा विचार उभरा हुआ था। कैमिस्ट्री उसका सब से प्रिय विषय है। कैमिस्ट्री ही उठाई। एक अध्याय खोला, दो अक्षर पढ़कर पेज लौट लिया। दूसरा अध्याय खोला, तीसरा..... पुस्तक बंद कर फेंक दी मेज़ पर।

समझ की वृद्धि और आयु की बढ़ती के साथ-साथ, वसंत अपने संग्रह को छाँटता गया। उसकी रुचि बदलती गई। टॉय वॉच का स्थान सच्ची घड़ी ने लिया। डेस्क की जगह बड़ी मेज़ ने। झुन-झुनिए के बदले उसके हाथ में डबेल आए। लकड़ी के कटे हुए बल्ले के बदले उसके कमरे में विशेष स्थान पर टेनिस का रैकेट् लटका। पतली स्कूली किताबों की जगह में कॉलेज की मोटी किताबें सुसज्जित हुईं। पटिया का स्थान, स्लेट ने लिया, स्लेट की जगह में कापियाँ विराजमान हुईं। किंतु—

वसंत ने ताली निकालकर अपना ट्रंक खोला। कपड़ों के नीचे से उसने दो रबर की गुड़ियाँ निकालीं, उनमें एक लीला की थी, जो उसने बसंत को विवाह में दे दी थी। कितने वर्षों से वसंत ने उन्हें संचित कर रक्खा है, संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु से भी वह उन्हें नहीं बदल सकता।

उसने प्रवेश के खुले द्वार पर भीतर से सिटकनी चढ़ा दी। वह उन दोनों गुड़ियों को लेकर मेज़ पर बैठ गया। उसे रेज़ीडेंसी की दीवार पर का लेख याद आया, वह हँसने लगा। वह लीला की गुड़िया का मुख ध्यान से देखने लगा। उसने अपने मन में कहा—

"मैं जो इतने वर्षों से इस गुड़िया में लीला की आकृति देखता हूँ, यह भ्रम नहीं है। इसको देखते ही वह मेरे मन में सजीव हो उठती है। और उस वसंत की संध्या से आजतक के समस्त वर्ष जैसे मेरी स्मृति-तल पर से अदृश्य हो जाते हैं। मैं फिर बालक हो उठता हूँ। इसको पाने की कैसी लालसा मुझे हो गई थी, यह मिल गई मुझे। फिर भी मैं जीवन में अपूर्णता ही अनुभव कर रहा हूँ। कुछ और पाने की लालसा फिर हो गई।"

वसंत बड़ी देरतक उस गुड़िया को देख, विचारों में डूबा रह गया!

पाँचवाँ परिच्छेद

वियोग-शृंगार

कुछ ही दिन बाद, एक दिन प्रभात-समय जब शर्माजी स्नान से निवृत्त हो चाय की आशा में बैठक में बैठे थे। पूजा अभी नहीं की थी। वह चाय को पूजा से पहले खा-पी लेने योग्य, निर्दोष वस्तु समझते थे। चाय के आने में देर थी। गृहिणी की अव्यवस्था का क्रूर चिंतन कर उन्होंने गीता उठा ली। चश्मा निकाल ही रहे थे, उसको नाक-कान में जमाया ही था कि दूर सड़क पर गोपाल बाबू की मोटर का भौंपू सुना। झट से खड़ाऊँ पहन वह घर के भीतर हो लिए। बैठक का द्वार खुला ही था।

वसंत के कमरे में जाकर शर्माजी बोले—"वसंत, गोपाल बाबू आए हैं, जाकर कह दो उनसे, अमीनाबाद गए हैं। उठो, जल्दी करो।"

वसंत बैठक में आया जिस समय, तभी गोपाल बाबू ने भी वहाँ प्रवेश किया। आते ही पूछा—"कहाँ हैं शर्माजी?"

बड़े विनीत भाव से वसंत उन्हें प्रणाम कर चुका था, बोला—"आप विराजिए, मैं अभी बुला लाता हूँ।"

भीतर जाने के द्वार पर पड़े हुए परदे के पीछे से शर्माजी ने यह संवाद सुना और रोष से उनके कपाल पर पसीने के बिंदु पड़ गए।

खड़ाऊँ वहीं पर छोड़कर शर्माजी आँगन की ओर बढ़ गए थे, जब वसंत उनके पास पहुँचा। बोला—"गोपाल बाबू आए हैं।" बड़ी विनय के साथ। वह समझ गया था, उसने जान-बूझकर एक अपराध किया है।

सिर पर की धोती सँभालती हुई, हाथ में चाय का गिलास लेकर देवकी भी पति के सामने खड़ी हुई—"लो चाय।"

शर्माजी ने घूरकर वसंत की ओर देखा। अत्यंत क्रोध में भर धीरे-धीरे उससे कहा—"यही कहने को कहा था मैंने तुमसे?"

"देखिए बाबूजी, आपकी खड़ाऊँ की खट्-खट् उन्होंने अवश्य सुनी। खुली हुई गीता आपकी मेज़ पर रक्खी हुई है। आपकी टोपी वहीं खूंटी पर है, गोपाल बाबू ख़ूब जानते हैं, आप नंगे सिर कभी बाहर नहीं जाते। मैं कह कैसे देता आप अमीनाबाद गए हैं। गोपाल बाबू की पैनी आँख हमें झूठा साबित कर देती। हम उनकी दृष्टि में गिर जाते। जहाँ तक मुझे मालूम है, वह झूठ नहीं बोलते।"

चुपचाप बेटे का व्याख्यान सुन रहा था पिता। उनका विचार बदला। सोचा, कुछ भी हानि नहीं हुई है। मैं निडर होकर उनके सामने जा सकता हूँ। उन्होंने चाय की ओर देखा, गृहिणी उसे तखत पर रखकर चल दी थी। शर्माजी ने कहा—"चलो, उनको सादर आसन दो। मैं आ पहुँचा। उन्होंने गिलास उठाया, एक-दो साँसों में ही चाय पी गए और वसंत के कमरे के आस-पास से अपनी खड़ाऊँ में पैर जमा बैठक में प्रविष्ट हुए।"

गोपाल बाबू ने कुरसी पर से उठकर उनके पैर छुए।

शर्माजी ने प्रफुल्लानन होकर पूछा—"आनंद-मंगल से हैं गोपाल

बाबू। आज आप कई महीने बाद आए हैं।"

"अवकाश नहीं मिला। बाहर भी गया हुआ था। कुछ सामान के लिए कलकत्ते और वहाँ से फिर बंबई जाना पड़ा। इधर फिर कुछ श्वास भी बढ़ गया।"

"मैंने आपको शीर्षासन बताया था, उससे आपको बहुत लाभ होता, पर मुश्किल तो यह है तुम अँगरेज़ी पढ़े लिखों मे जब विश्वास होता।"

"ऐसी बात नहीं है कि अविश्वास है। योग एक सूक्ष्म वस्तु है। उसके सच्चे अनुभवी गुरु मिलने कठिन हैं। बिना किसी गुरु के, अभ्यास करते हुए भय लगता है।"

शर्माजी हँसने लगे। गोपाल बाबू ने बिंधता-सा अनुभव किया, उस व्यंग्य की हँसी को।

शर्माजी ने ज़ोर से पुकारा—"चाय नहीं लाया वसंत, बाबू साहब के लिए।"

वसंत ला ही रहा था, चीनी के प्याले में चाय। उसने लाकर गोपाल बाबू के सामने मेज़ पर रक्खी। शर्माजी चीनी के बर्त्तनों के जानी दुश्मन हैं। पर गोपाल बाबू के आदर-सत्कार के लिए एक सेट् ख़रीद लेने की जब वसंत ने हठ की तो उन्होने उसे स्वीकार कर लिया था। उन्हीं प्यालों में वसंत भी चाय पीता है। और जब कभी शर्माजी बाहर गए होते हैं, तो बैठक में अपने मित्रों को भी चाय की पार्टी देता है।

"अभी पीकर ही आया हूँ।" गोपाल बाबू ने कहा।

"और पीजिए फिर, हानि क्या है? मैं जानता हूँ चाय कभी आपको भारी नहीं होती। वसंत पान और सिगरेट?"

वसंत तत्क्षण ही निष्क्रांत हुआ।

गोपाल बाबू चुपचाप थे। शर्माजी ने बात का सिलसिला चलाया—"आप गीता पढ़ते हैं?" उन्होंने गीता खोल ली थी।

"कोरे सिद्धांती होने से क्या लाभ है। एक अक्षर का प्रयोग कदाचित् एक ठेले-भर पुस्तकों के भार से अच्छा है।"

"बिना सिद्धांत के ही प्रयोग कोई क्या कर सकता है। आप श्रीमान् हैं, हिंदू हैं। आपको नित्य गीता का पाठ अवश्य करना चाहिए। गीता पढ़ने से मनुष्य सिड़ी हो जाता है, यह एक भ्रम लोगों में फैला हुआ है। वह जीवन का सायंस है! जीवन में जल्दी-से-जल्दी उसके रहस्य को सँभाल लेना हमारा मुख्य कर्त्तव्य है।"

भीतर देवकी ने तुरंत ही पान बना दिए। एक थाली में रखकर वसंत जाते-जाते बोला—"ग्यारह बजे जाऊँगा आज कॉलेज माँ। तुम्हें खाना बनाने की कोई जल्दी न होनी चाहिए!"

माताजी बहुत प्रसन्न हो गईं। उस प्रसन्नता में उनकी सुध-बुध डूब गई। चूल्हे में दाल चुर रही थी। उसके पानी के सूख जाने के समय की कल्पना वह न कर सकीं। उन्होंने वसंत का अनुसरण किया और परदे के पास कान लगाकर बैठक में की बातें सुनने लगीं।

दराज़ में से सिगरेट् और दियासलाई की डिबिया निकालकर वसंत ने थाली में रक्खीं। थाली गोपाल बाबू को दिखाकर उनके निकट, मेज़ पर रख दी।

अपना विश्वास दूसरे के ऊपर ज़बर्दस्ती लाद देने की शर्माजी की वृत्ति गोपाल बाबू ने पहले कभी नहीं देखी थी। उनको अच्छा न लगा। कुछ देर धर्म-संबंधी बातें कर लेने पर उन्होंने निश्चय किया शर्माजी का धार्मिक क्षितिज सकुचित है।

वसंत कुछ ही क्षण वहाँ पर खड़ा रहकर फिर अपने कमरे में चला गया। बैठक के ही मार्ग से। उसने बीच का द्वार खुला ही छोड़ दिया। कमरे में जाकर वह किताबें देखने लगा, कान उसके वहीं बैठक ही में थे।

परदे की ओट में स्थित देवकी भी उनकी धार्मिक बातों को सुनते-सुनते ऊब उठी थी। मन में कहती जा रही थी—"बस हो गया जो

भी आया उससे यही जोग-वैराग्य की बातें छेड़ देते हैं। भगवान् ने उन्हें श्री-संपत्ति दी है, अन्न-धन दिया है। गोपाल बाबू को पड़ी क्या है, जो वह गीता पढ़ वैराग्य ले। मैं समझ रही थी, वसंत के विवाह की चर्चा छेड़ देंगे अवसर पाकर, लेकिन इन्हें ज्ञान-कर्म से ही फ़ुरसत नहीं।"

शर्माजी ने फिर गोपाल बाबू के काम-धंदे के संबंध में बातचीत की। सिकंदरबाग़ की ओर उन्होंने एक कोठी बनवाई थी, दो-तीन साल पहले, उसके संबंध में उन्होंने कहा—"हाँ, सुनता हूँ, आपने वह कोठी स्वयम् ही ख़रीद ली है?"

गोपाल बाबू ने कुछ हँसकर कहा—"हाँ।"

"किराए में देंगे उसे?"

"स्वयम् ही रहने का भी विचार कर रहा हूँ।"

शर्माजी ने उदास मुख कर कहा—"आपको वह कोठी मंगलमय हो। आपके दर्शनों का लाभ हमें फिर उतना न रहेगा। वसंत की माँ को तो बहुत ही बुरा लगेगा।"

वसंत की माँ ने आँखें मटकाकर मन-ही-मन कहा—"जैसे वसंत की माँ के वहाँ आने-जाने को तुम सीधी आँख से ही देखते हो।"

दाल जलने की गंध ने देवकी का ध्यान तोड़ा। वह भागी हुई रसोईघर में गईं। दूध उबाल कर वैसे ही चूल्हे के पास रख आई थीं, वह सब बिल्ली पी गई। चूल्हे में देखा, बटलोई में का सब पानी सूख गया। दाल का निचला स्तर बटलोई में जड़ गया था। बटलोई नीचे उतारी—जल्दी में सँड़सी भी न दिखाई दी—आँचल लगाकर। एक कटोरे में करछी से निकाल-निकाल कर ऊपरी हिस्सा दाल का रक्खा। मन में कहने लगी—"अब कुछ प्रकरण बदला था तो, दाल के जलने का क्या यही समय था? निस्संदेह अब इस समय वसंत के विवाह की चर्चा हो रही होगी।"

जल्दी-जल्दी में उन्होंने दाल का ऊपरी अधजला भाग कटोरे में

रख, जला हिस्सा करछी से कुरेदकर फेक दिया। कटोरे की दाल फिर बटलोई में रख उन्होंने उसमें गले तक जल भर दिया और अपने को फिर परदे के पीछे जाकर स्थिर किया। बैठक में सुना, वसंत की ही चर्चा हो रही थी। वह प्रसन्न हो उठीं।

शर्माजी कह रहे थे—"मैं क्या बताऊँ यह बी० एस्-सी० पास कर क्या करेगा। मैने इसी पर सब कुछ छोड़ दिया है। नौकरियाँ अब इतनी अधिक हैं नहीं।" शर्माजी ने मन में सोचा, यहीं पर वाक्य तोड़ देना ठीक है। देखें गोपाल बाबू क्या कहते हैं।

गोपाल बाबू कुछ न बोले। उन्होने एक पान उठाकर खाया और सिगरेट् जलाई।

शर्माजी को बाध्य होकर फिर बोलना पड़ा—"कभी यह कहता है, गुलामी कौन करे अपना स्वतंत्र कारबार करूँगा, कहीं कैमीकल वर्क्स खोलूँगा। उसके लिए पूँजी आवश्यक है। मेरे पास कुछ है थोड़े।" शर्माजी ने, गोपाल बाबू कुछ कहेंगे, इस आशा मे फिर विराम लिया।

श्रीमतीजी सोचती थीं कि इस बार गोपाल बाबू अवश्य कहेंगे कि मेरे बीसियो ऑफ़ीसर जान-पहचान के हैं। जिसकी ओर संकेत कर दूँगा, वह सिफारिश कर देगा और वसत को अच्छी-से-अच्छी नौकरी मिल जायगी।

पर गोपाल बाबू अपनी बारी में कुछ भी न बोले। दो बार सिगरेट् का धुआँ मुँह के बाहर फेका, शब्द एक भी नहीं।

अपने कमरे मे आँख किताब के खुले पृष्ठ पर और मन बैठक की बीतचीत में केंद्रित कर वसंत भी सोच रहा था, अब गोपाल बाबू अवश्य कुछ कहेंगे।

लेकिन उन्होने कुछ भी नहीं कहा। शर्माजी को लाचारी बोलना पड़ा—"मैं तो हाईस्कूल पास करने के बाद इसे संस्कृत पढ़ाने के पक्ष में था।"

इस बार गोपाल बाबू बोले—"क्यों संस्कृत क्यों ?" कुछ हँसी भी थी उनके मुँह पर।

"देववाणी है वह। अपना धर्म और साहित्य हैं उसमें। उसे मृत बनाकर ही तो हमारी दुर्दशा हुई है।"

"संस्कृत की तमाम पुस्तकों का अनुवाद हो गया है। इसलिए संस्कृत हम-जैसों के लिए बहुत आवश्यक है भी नहीं।"

वसंत ने मन में सोचा, "कदाचित् इन्हें मेरे सामने ही मेरे विवाह की बातचीत करते हुए कुछ असुविधा-सी जान पड़ रही है। यहाँ से टल जाऊँ।" उसने कोने में से जूता उठाया, जूते का बुरुश और पॉलिश की डिबिया भी। वह आँगन मे जाते-जाते सोचने लगा—"परदे के पीछे से सुनूँ क्या बाते करते हैं।" वहाँ देवकी को देख वह लौटकर आँगन में ही चला गया और जूते में पॉलिश करने लगा।

शर्माजी ने वसंत को कमरा छोड़कर जाते हुए देख लिया था। उन्हें कुछ याद आई, उन्होंने कहा, कुछ धीरे धीरे—"हाँ एक बात और है।"

देवकी ने श्रुति तीखी की। उसको रव सुन पड़ा, पर शब्दों को पहचानने मे कठिनाई हुई।

शर्माजी कहते-कहते रुक गए थे। गोपाल बाबू ने कुर्सी कुछ उनकी ओर को खिसकाई और कहा—"हाँ।"

"कभी-कभी यह मुझसे कहता है मै स्वयंसेवकों मे भरती होकर "भारतमाता की जय !" कहूँगा।" शर्माजी ने उसी धीरे स्वर में कहा।

"कॉलेज छोड़ देने का मतलब तो नहीं इनका ?"

"हाँ है।"

"बहुत बुरी बात है यह। क्यों वसंत बाबू ?" गोपाल बाबू ने वसंत के कमरे की ओर देखा।

"नहीं है वहाँ, चला गया।"

"कुछ ही दिन की तो बात है, परीक्षा होने में। कितनी मूर्खता होगी, चार साल की तपस्या यह एक ज़रा सी भावुकता पर बलि दे देंगे!"

"करने दीजिए जो करता है।" शर्माजी ने स्वर ऊँचा कर लिया।

"फिर कॉलेज ही में क्यों नाम लिखाया था?"

"हाँ, उन दिनो कहता था। मुझे साइंस का ग्रेजुएट तो हो जाने दीजिए। कई नए आविष्कार कर डालूँगा। अब कहता है—यह शिक्षा-पद्धति हमारे कंधों पर जुवा रखती है, इससे हमारी बुद्धि का विकास नहीं होता। यह हमें पतित और दास बनाने के लिए है, इससे हमारा आत्मविश्वास नष्ट होता है और इसने हमें अपने पैरो पर खड़ा होना भुला दिया।"

"बड़े विद्रोही भाव हैं यह। आपको भूलना नहीं चाहिए," गोपाल बाबू ने कुछ खाँसकर कहा—"आप सरकारी नौकर रह चुके हैं। आपका पुत्र यदि विद्रोहियो में भरती हो गया, तो मैं समझता हूँ इस समाचार को पदाधिकारियों के कान में दे देनेवाले बहुत-से आपके पड़ोस ही में बसते हैं। आपको मकान बनाने के लिए यह भूमि का टुकड़ा रेल-विभाग से मिला है।"

"देखा जायगा। यह मलवा उठा ले जाओ हो तो कहेंगे न?"

"बहुत गभीर होकर सोचने की बात है। आप मुझे क्षमा करेंगे, ऐसा कहने पर। अनुभव आपका बड़ा है। पिता की ऐसी अक्षमता का ही संतान ने लाभ उठाया है और इस पीढ़ी के यह उच्छृङ्खल युवक अपना भला न करेंगे। जिसने अपना भला न किया, वह देश का हित न किसी तर्क से साध सकता है, न उदाहरण से।"

शर्माजी प्रभावित हुए, गोपाल बाबू की बातों से बोझिल हुए। असहज हो बोले—"आप कभी उसे समझा दीजिए, कृपा होगी। परंतु

वह माननेवाला लड़का नहीं। कदाचित् आपका कहना—"

गोपाल बाबू उठ खड़े हुए, बोले—"आपकी संध्या-पूजा में बाधा हुई, क्षमा कीजिए तथा आज्ञा दीजिए।" उन्होने हाथ जोड़े।

शर्माजी ने उठकर उन्हें विदा किया। मोटर घरघराती हुई चली गई। देवकी रसोई सँभालने चली गई। वसंत अपने जूते में प्रकाश झलका रहा था। बैठक के द्वार बंद कर शर्माजी पूजाघर में चले गए। उन्हें देर हो गई थी आज। जल्दी-जल्दी पूजा करने लगे।

वसंत पॉलिश कर चुका था, बड़ी देर हुई। जब उसने पूजाघर में पिताजी की गुनगुन सुनी और रसोईघर में माताजी की खटर-पटर, वह उठा। मन में कल्पना ने न जाने कितने जाल बुन लिए थे। जल्दी से नहा-धोकर चौके में जा पहुँचा।

माता बोलीं—"तुम तो कहते थे, कॉलेज ग्यारह बजे जानेवाला हूँ। अब अधिक-से-अधिक नौ बजा होगा।"

"खाना तैयार होने में देर है क्या?"

"देर कुछ नहीं। रोटी पकाने-भर की देर है। तवा रखती हूँ आँच पर।"

पूजाघर में से शर्माजी बिगड़े—"अपने स्थान में रहने ही नहीं देते कोई वस्तु।"

देवकी ने कहा—"क्या चाहिए देखो, वसंत, उन्हें।"

फिर आवाज़ आई—"दियासलाई की डिबिया कौन उठा ले गया। नहीं जानते आरती जलाने को चाहिए।"

वसंत बोला, माता से—"अपने-आप तो गोपाल बाबू के लिए सिगरेट् मँगाई। दियासलाई अपने-आप उसमें शामिल हो गई।" वह बैठक से दियासलाई की डिबिया उठाकर पिताजी को देकर फिर रसोई-घर में उपस्थित हो गया।

माताजी आटा गूँथ रही थीं, बोलीं—"बैठो वसंत! अभी हाथ धोकर पानी रखती हूँ तुम्हारे लिए।"

"मैं स्वयम् रख लूँगा माँ।" वसंत एक गिलास में पानी भरकर ले आया।

"कुछ भूल गए थे ?"

"लाइब्रेरी की किताब को लौटाने में एक दिन की देर हो गई है। एक किताब और भी देखनी है वहाँ। गोपाल बाबू कब गए ?"

"अभी कुछ ही देर तो हुई है।"

"क्या कहने आए थे ?"

"ऐसे ही भेंट करने। एक कटोरी ले आओ।"

वसंत ने कटोरी भी लाकर रक्खी। देवकी ने चिमटे से पकड़कर चूल्हे में की पहली रोटी घुमाई, तवे पर की पलटी और वसंत के लिए थाली लगाने लगीं। कुछ रोष में बोली—"यह बड़ी बुरी बात है, वसंत ! तुम दुष्ट लड़कों का साथ छोड़ दो।"

वसंत हँसकर बोला—"कौन हैं वे ? उनके नाम तो बताओ।"

"नाम मैं क्या जानूँ उनके।"

"गोपाल बाबू ने कुछ कहा ?"

"हाँ, कहते थे, वसंत को ऐसे लड़को का साथ छोड़ देना चाहिए, जो कॉलेज में हड़ताल कराने के लिए सभा करते हैं। उनकी राय ठीक ही होगी।"

वसंत ने मन में सोचा और कहा—"वह धनी व्यक्ति हैं। निर्धन मनुष्य का दृष्टिकोण दूसरा होता है।" वह भोजन करने बैठ गया।

माता ने एक और रोटी उसकी थाली में परोसते हुए कहा—"इतना रुपया और इतनी मिहनत लगाई है, लड़कों के बहकाने में आकर अगर तुमने कॉलेज बिना पास किए छोड़ दिया तो लोग क्या कहेंगे। अपने पिता के तुम एक पुत्र ठहरे, उनकी आशा पर पानी फेर देना क्या ठीक है। गोपाल बाबू के तुम्हारे प्रति अच्छे विचार हैं, वह क्या सोचने लगेंगे।"

"नहीं माँ।" वसंत ने माता को आश्वासन दिया।

"नमक ठीक है दाल में ?" दाल परोसते हुए देवकी बोली।

"नमक तो ठीक ही है पर—"

देवकी ने बेटे को अधिक कुछ नहीं बोलने दिया। "हाँ बेटा, अकेली मैं ठहरी घर में, कभी बर्तन लाकर रक्खे चूल्हे में, कभी घी को दौड़ी, कभी नमक-मसालों के लिए। पानी सूख गया था बटलोई में का। इसलिए लग्न खुलने पर तुम्हारा विवाह हो जाता, पत्नी आ जाती तो मैं एकाकिनी न रहती। कितना हाथ बचाती वह मेरा।"

शर्माजी की घंटी बज रही थी पूजाघर में।

वसंत खा-पीकर चला गया। देवकी ने भीगे अँगौछे से आटा ढक दिया और तवे के नीचे की लकड़ियाँ, उनके सिरों पर का कोयला तोड़-कर, चूल्हे से निकाल दीं।

शर्माजी के आने में अभी देर थी, इसलिए देवकी चूल्हा छोड़कर बाहर आ गई। सुई-तागा निकाल, तखत में बैठकर अपनी एक फटी धोती सीने लगी। मन में सोच रही थी—"कितना अच्छा अवसर खो दिया इन्होंने, विवाह की बातचीत छेड़ ही न सके।"

एक तो पूजा में बैठने को उन्हें देर हो गई, दूसरा गोपाल बाबू ने वसंत के साथ लीला के विवाह की चर्चा क्यों नहीं की उनसे ? पूजा में मन लगा नहीं उनका। आँगन में श्रीमतीजी एक पुरानी अलमारी को चाकू से खुरचकर बार-बार ध्यान तोड़ दे रही थीं।

रसोई लेकर बैठे हुए देवकी को देर हो गई थी। दो-तीन जगह फटी हुई धोती सी उन्होंने उधड़ा हुआ कुरता सिया। उसमें दो बटन टाँके। शर्माजी की पूजा कुछ देर अभी और समझकर वह एक अलमारी को लेकर उसे साफ़ करने लगीं। मन में सोचा उन्होंने—"समय से संध्या-पूजा भी नहीं कर पाते। ठंडी रसोई ही इन्हें स्वादु लगती है।" वह अलमारी के एक ख़ाने में ज़ोर-ज़ोर से चाक़ू से खुरचने लगीं।

बड़ी खिन्नता के बीच में शर्माजी ने पूजा समाप्त की। श्रीमतीजी

आग चैतन्य कर रोटी सेकने लग गई थीं। पूछा उन्होने—"क्यों आए थे गोपाल बाबू ?"

"किसी विशेष काम को नहीं।"

"विवाह की कोई चर्चा ?"

"मुझे क्या पड़ी है।"

देवकी कटोरी में दाल रख रही थीं। शर्माजी ने पूछा—"दाल किस चीज़ की है ?"

"अरहर की।"

"कुछ अजीब सी दिखाई दे रही है।"

"अमचूर डाल रक्खा है। इसी से।"

शर्माजी ने पहला ग्रास दाल से ही आरंभ किया। उसे निगलकर मुँह बनाने लगे।

देवकी ने पूछा—"क्यों ?"

"जल गई थी क्या ?"

"हाँ, घी निकालने को गई थी, थोड़ी देर के लिए।"

"इतनी देर में तो नहीं जल सकती।"

"पानी देखने का ध्यान न रहा, आँच तेज़ थी। कुछ देर धोती सीने में भी लगी रही।"

"तुम लगी होगी बाते सुनने में बैठक की।"

"कहाँ से ? वसत ने कॉलेज जाने की जल्दी मचाई। उसे तो बुरी नहीं लगी दाल।"

"ज़रा-सी बात पर तुम्हारी सुध-बुध खो जाती है। गोपाल बाबू को कन्या यदि तुम्हारे घर में आ गई तो कुछ ही दिनो में तुम्हें बासी रोटी की तरह उठाकर किसी कोने में रख देगी। इसी से मैं तुम्हे सावधान करता हूँ, कॉलेज की कन्या को बहू बनाने का हौसला छोड़ दो।"

पति को परिहास के भाव में देखकर देवकी ने कहा—"इसके लिए कभी आपसे न कहूँगी।"

"तुम लाख न कहो, तुम्हारा अपमान देखकर क्या मुझसे रहा जायगा।"

"वह ऐसी लड़की है ही नहीं। मैंने क्या उसे छोटी अवस्था से बड़े होने तक बराबर ही नहीं देखा है?"

"दूर की बात दूसरी होती है। निकट आने से कुछ और हो जाती है।"

"कुछ नहीं होता।" देवकी मुसकराई, बोली—"आपको आज कहीं जाना तो नहीं है?"

"क्यो? ताला लगा जाना घर में। गोपाल बाबू की गृहिणी से मिलने जाना होगा? दिया जल चुकने के पश्चात् घर का मुख देखना। उतनी देरतक तुम्हारी प्रशंसा के पुल बाँधने के लिए पास-पड़ौस में मुझे कहीं-न-कहीं आश्रय मिल ही जायगा।"

शर्माजी के भोजन के बाद जल्दी-जल्दी देवकी ने भी रोटी खाई। महरी के आने पर उसे सहायता दी। उसका आधा काम स्वयम् कर दिया। महरी के हाथ-पैर धोनेतक अपने कपड़े बदल बैठक में पहुँचीं। द्वार खुले थे उसके सड़क की ओर के। भीतर ही से बोलीं, स्वर ऊँचा कर—"मैं जा रही हूँ, महरी के साथ उनके यहाँ।"

"बेखटके जाओ, यह चौकीदार बैठा तो है, तुम्हारे घर का।"

"चाय के समयतक आ ही तो जाऊँगी।"

शर्माजी चुप रहे। दैनिक पत्र के किसी गहरे काले शीर्षक ने उनका ध्यान खींच लिया था।

देवकी के पदांकों का अनुसरण, पायल से विभारित चरणों का, महरी के मोटे-मोटे कड़ों युक्त पैरों ने किया, नंगे और आयताकार! माली ने फाटक खोल दिया। महरी वहाँ से लौट चली।

लीला न जाने कहाँ से देख रही थी। दौड़ी-दौड़ी फाटक पर ही आ पहुँची—"माँ और मैं आज आपके ही यहाँ आनेवाले थे। अगर आप आधे घंटे बाद यहाँ को आतीं, तो हम आपको आपके ही आँगन में

मेलतीं।"

"क्या कर रही हैं माताजी?"

"कटरेवाली मौसी के लड़का हुआ है न। उन्हीं के लिए कपड़े सी रही हैं। कुछ ही देर में सी चुकेंगी।"

देवकी कोठी के पिछवाड़े की ओर को बढ़ने लगी थी। लीला ने कहा—"उधर कहाँ?"

देवकी ने गति रोककर अपने मुख में जिज्ञासा अंकित की।

"बाबूजी? नहीं हैं वहाँ। कानपुर गए हैं, संध्या की गाड़ी से आवेंगे। इधर ही बैठी हैं माँ। शृंगार के कमरे में।" कहती हुई लीला देवकी को लेकर उस कमरे में पहुँची।

सुंदरी ने उठकर देवकी के पैर छुए। कटरेवाली मौसी की कुशल-प्रश्न से ही बातो का सिलसिला चला। सुंदरी मशीन पर कपड़ा सी रही थी। देवकी एक सिल चुके कुरते में बटन के काज बनाने लगी थी।

हठात् देवकी ने पूछा—"सुनती हूँ, तुम यह मुहल्ला छोड़ रही हो?"

"नहीं तो, किसने कहा?"

"बाबूजी आए थे आज सुबह हमारे यहाँ।"

"नहीं, कोई संभावना भी नहीं। मुझसे तो उन्होंने ऐसा-कुछ नहीं कहा।"

"हाँ, तभी तो मुझे आश्चर्य हुआ था। बरसों यहाँ पर जमी हुई गृहस्थी। एकाएक उखाड़कर दूसरी जगह रोप देना, बड़े कष्ट की बात होगी। फिर अकारण ही।"

"एक दिन मैं उस मकान को देखने गई। मार्ग में तुम्हें भी साथ लेने का विचार किया था, तुम्हारे घर जाने पर पता चला तुम गंगा-स्नान के लिए हरद्वार पहुँची थीं। मुझे न वह जगह ही रुचिकर हुई, न वह घर ही पसंद।"

लीला एक कपड़े पर फूल काढ़ रही थी, कहने लगी—"आव-

श्यकता से अधिक एकांत स्थान है।"

दो-तीन घंटे बातें होती रहीं। तीन बजनेवाले थे। सुंदरी ने कहा—"लीला, कुछ चाय-पानी का प्रबंध न करोगी?"

लीला ने हाथ का काम अलग रख दिया और वह चाय तैयार करने में लगी।

लीला की अनुपस्थित में देवकी ने पूछा—"वह बात याद है न?"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं?"

"तुम भूल गई होतीं, यदि मैं इस प्रकार बीच-बीच में तुम्हें याद न दिलाती रहती तो।"

सुंदरी हँसने लगी। फिर मुख उदास कर बोली—"जो कुंडली तुम मुझे दे गई थीं, वह उन्होंने पंडितो को दिखाई है। वे कहते हैं, कुछ ग्रहों का साम्य अच्छा नहीं है। तुम जानती ही हो, अनेक बातो को न मानते हुए भी उनका ज्योतिष पर बड़ा विश्वास है।"

"मैंने जिसे दिखाया था, वह तो कहते थे बहुत सुंदर साम्य होता है। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे तो अब यह सब-कुछ देखने की परवा नहीं करते।"

रसोईघर में जब लीला चाय बना रही थी, अचानक उसने द्वार पर वसंत को आता हुआ देखा। वह वेग और भावो के अतिरेक में था। उसने समझा वसंत वहीं पर से लौट जायगा। नौकर को कुछ फल ख़रीदने के लिए उसने भेज दिया था। देवकी और सुंदरी बातें करने में ही थीं।

लीला घबरा उठी, जब वसंत ने उससे बातें करनी आरंभ कीं।

वसंत ने पूछा—"माँ कहाँ हैं?"

"कपड़ा सी रही हैं।"

पिता की स्थिति का पता उसे बाहर नौकर-चाकरों से मिल गया था।

"तुमसे कुछ पूछने आया हूँ।"

"माता के सामने चलो।"

"नहीं समय नहीं। मैं पढ़ना-लिखना छोड़ रहा हूँ। तुम मुझसे विवाह करोगी?"

"नहीं।"

"मैं कॉलेज नहीं छोड़ूँगा तब?"

"मेरे माता-पिता जैसी आज्ञा देंगे। मुझे जाने दो भीतर।"

"एक ही प्रश्न और। तुम्हारी विवाह में दी हुई वह गुड़िया मेरे पास अभीतक रक्खी हुई है। मैं उसे तुम्हारे विवाह का प्रतीक समझता हूँ।"

"ऐसे स्वप्न भी कहीं सच होते हैं!" लीला बलात् मार्ग निकालकर भीतर चली गई।

माँ ने पूछा—"तुम किससे बोल रही थीं?"

"वसत से।"

देवकी ने कहा—"वह कॉलेज से आ गया? मकान में शायद वह ताला लगाकर कहीं चले गए हो। यहाँ नहीं बुला लाईं तुम उसे।"

"चले गए, माना नहीं। कहते थे, मै कॉलेज छोड़ रहा हूँ।"

देवकी उठ खड़ी हुई और कहने लगी—"अभी जाकर उन्हें विदित कराती हूँ। यह मूर्ख लड़का उनसे पूछने भी न गया होगा। सुबह गोपाल बाबू ने इस बात की चर्चा की थी। और यह आज ही कॉलेज छोड़ने लगा। मुझे आज्ञा दो।"

देवकी ने चाय पीने का कोई आग्रह नहीं माना। नौकर लौट आया था। सुदरी ने कुछ संतरे नौकर के साथ उनके लिए रख दिए। नौकर को लेकर देवकी तुरंत ही अपने घर चली गईं। वे फाटक पार ही कर रहे थे कि गोपाल बाबू की मोटरकार ने बँगले में प्रवेश किया। नौकर बोला—"आ गए बाबू साहब कानपुर से।"

देवकी ने धोती के ऊपर पहनी हुई अपनी रेशमी चादर आँखों तक सरकाई।

छठा परिच्छेद

घर छोड़ा

कुछ लड़के कॉलेज के, मिलकर उस दिन सभा कर रहे थे। वे शिक्षा की पद्धति को दूषित ही नहीं विषाक्त कहने लगे थे। उनमें कुछ लड़के धीर, गंभीर और परिश्रमशील प्रकृति के भी थे। उनका उद्देश्य था, सब मिलकर अगर कॉलेज जाना बंद कर दें तो, अधिकारियों को बाध्य होकर गुलाम ढालनेवाले ये कारखाने बद कर देने पड़ेंगे। बहुत दिन के खेले हुए खिलौने से ऊबकर जैसे बालक नये को पाने के लिए उसे तोड़ देता है, ऐसे ही कुछ उनके भाव हो गए थे। कई दिन से कॉलेज छोड़ने को तैयार लड़को के हस्ताक्षरों की सूची, कॉलेज, होस्टल, खेल के मैदान और भोजनशालाओं में घूम रही थी। वसंत ने भी पहले दिन उस लिस्ट में हस्ताक्षर कर दिए थे। सुबह शर्माजी और गोपाल बाबू की बात सुनकर देवकी ने उसे समझाया कि कॉलेज बिना सोचे-समझे छोड़ देना; गोपाल बाबू की कृपा-दृष्टि से हाथ धोना होगा। वसंत ने भी विचार किया और अपना नाम उस लिस्ट में से काट देने के लिए वह दृढ़-संकल्प होकर चला।

प्रमोद उसका जाति-भाई था। वह हड़ताल करानेवालों में मुख्य था। जब वसंत ने उससे अपना विचार कहा तो वह बोला—"वसंत, मैं समझ गया हूँ, तुम्हारा विचार क्यों बदला है। यदि तुम समझते हो कॉलेज न छोड़कर तुम लीला को पा सकोगे, तो तुम भ्रम में हो।"

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। मैंने पिताजी से बिना पूछे ही हस्ताक्षर कर दिए थे। उनकी आज्ञा आवश्यक थी, उन्होंने साफ़-साफ़ नहीं कह दिया है।"

"लीला का विवाह जबलपुर में तय हो गया है। मेरे मामा का लड़का, उसके साथ। तुमने देखा है उसे। यह देखो, उसका पत्र है यह।" प्रमोद ने जेब से पत्र निकालकर वसंत को दिया।

वसंत ने उसे पढ़ा। उसमें लिखा था, गोपाल बाबू लीला के विवाह की स्वीकृति दे चुके, केवल लग्न स्थिर करने की देर है। टीका चढ़ने ही वाला है। वसंत के पैर के नीचे की धरती मानो सरक गई। उसके मुख से कोई शब्द ही नहीं निकला। उसके कंपित हाथ से पत्र नीचे गिर पड़ा। उसने उसे उठा लिया और मुख पर एक झूठी हँसी दिखा कर उसने कहा—"अच्छा है, होने दो, मुझे इससे क्या ?"

"तुम जो आशा लगाए बैठे थे।"

वसत ने यह अपमान मूक रहकर सहन किया। वह सोचने लगा—"कैसा धन का मद है, इन लोगों में। कितने सरल स्वभाव की मेरी माता है, उसे कितने अंधकार में इन्होंने रख दिया।"

वसंत अपने हस्ताक्षर काट देने की बराबर हठ करता रहा। अंत में प्रमोद ने कहा—"शाम को पाँच बजे पार्क में सभा है, वहाँ आना, वहीं सबके सामने अपना नाम वापस लेना। तब तक जाओ और सोच लो। क्लास में जाने की कोई ज़रूरत नहीं।"

वसंत लौटकर घर आया। लीला के प्रेम का उसे बड़ा विश्वास था। उसने मन में विचारा, जाकर वहाँ, सत्य को समझ लेने में क्या हानि है। वह लीला से मिला। इतना स्पष्ट वह उसके सामने कभी नहीं हुआ था। लीला के रूखे, पर दुविधा के भरे उत्तर में वह अपना स्पष्ट मार्ग न खोज सका। उसका विवाह निश्चित हो गया है, यह वसंत ने लीला से नहीं पूछा। उसने भी कुछ नहीं कहा। लीला के यहाँ से लौटकर वसंत अपने घर नहीं आया। वह जानता था, पिताजी लीला के साथ संबंध का अधिकतर विरोध ही करते थे।

वह स्टेशन को जानेवाली सड़क पर चलने लगा, गंतव्य स्थान का कोई भी उद्देश्य न रखकर। अचानक उसे गोपाल बाबू की मोटर आती दिखाई दी। उसने दृढ़ निश्चय कर रक्खा था कि मैं उन्हें कदापि हाथ न जोड़ूँगा।

गोपाल बाबू ने निकट पहुँचते-पहुँचते मोटर की चाल कम कर

दी। वह स्वयम् ही उसे चला रहे थे।

वसंत के दोनों हाथ मानो एक मशीन की भाँति उठकर जुड़ गए।

गोपाल बाबू ने मोटर रोककर कहा—"क्यों वसंत बाबू! क्या कॉलेज में छुट्टी हो गई?"

"नहीं।"

"कहाँ से आ रहे हो?"

वसंत ने छूट कहा—"लीला से मिलकर।"

गोपाल बाबू पर मानो इस उत्तर का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। उन्होने कहा—"मैंने सुना है, तुम लिखना-पढ़ना छोड़ रहे हो?"

"आपसे अपने एक प्रश्न का उत्तर मिलने पर ही मैं उसका जवाब दूँगा।"

गोपाल बाबू चकराए—"तुम्हें इतना ढीठ पहले कभी नहीं पाया था। क्या पूछते हो?"

"क्या लीला का विवाह ठहर गया?"

गोपाल बाबू हँसे—"तुम्हें मतलब?"

"मैं बरसों से उसके विवाह की कल्पना करता हूँ।"

"तुम्हारे जैसे उच्छृंखल युवक को मैं उसे देना न चाहूँगा।" गोपाल बाबू ने मोटर बढ़ानी आरंभ की।

वसंत बोला—"हाँ मैं भी उस कॉलेज को छोड़ चुका हूँ। जिसने हमारे विकास को कुचलकर हमें भय, संकोच और दासता सिखाई।"

गोपाल बाबू बिना कुछ बोले आगे को बढ़ गए।

वसंत सीधा पार्क की सभा में पहुँचा। प्रमोद प्रसन्नता को प्राप्त हुआ, जब वसंत ने अपने नाम के ऊपर रेखा खींचने के बदले एक बार फिर उस सूची में हस्ताक्षर किए।

देवकी ने घर पहुँचकर शर्माजी से कहा—"वसंत आया था कॉलेज से?"

"हाँ।"

"उसने तुमसे बातें नहीं कीं कुछ?"

"कुछ भी नहीं।"

"वह पढ़ना-लिखना छोड़कर आ गया।"

"बड़ी बुरी बात की उसने। उस लड़के का स्वभाव तुम्हारी उदारता से विकृत हो गया।"

"मैंने उससे कभी नहीं कहा पढ़ना-लिखना छोड़ दो।"

"अवश्य ही तुमने बहुत छोटी-छोटी बातों से उसे मेरे भय से मुक्त ही नहीं किया, मेरी अवज्ञा भी सिखाकर उसके मन में मेरा विद्रोह भर दिया। अब क्या होगा?" शर्माजी ने ठंडी सांस ली, मैं उस पर अनेक आशाएँ लगाकर बैठा था। अब वह बेकार दिन-भर इधर-उधर झक मारता फिरेगा। दिन में जब उसे भूख लगेगी और रात को जब उसे आश्रय आवश्यक होगा, वह इस घर की देहली नाँघेगा।"

"पर उसके पढ़ना-लिखना छोड़ने का कारण मैं नहीं हूँ, आपकी हठ है।"

"किसी प्रकार नहीं। मैंने अपने ख़र्च घटाकर भी उसके पढ़ने का व्यय पूरा किया है।"

"ऐसा अर्थ नहीं मेरा।"

"फिर?"

"वह लीला से विवाह करने की इच्छा रखता है। किसी प्रकार वह इस निश्चय को पहुँच गया है कि यह बात असंभव है। उसने इसी निराशा को सहने के लिए अपना कॉलेज छोड़ा है। मुझे भय है कहीं वह कोई और बात न कर डाले।"

"तुम्हारी बात सच है क्या? वह परिश्रमी लड़का, पढ़ने के उत्साह से ओत-प्रोत था, ऐसा कर डालेगा, विश्वास न था। तुम सच ही कह रही हो क्या? वह लीला से विवाह करना चाहता है, तुम्हें कैसे मालूम है?"

"है मुझे मालूम।"

"उसने कहा तुमसे कभी ?"

"नहीं। पर मैं कई वर्षों से उसकी चेष्टा से समझती हूँ। इधर कुछ ही समय हुआ है, एक दिन मैंने उसके पास एक गुड़िया देखी, मैं अचानक जा पड़ी थी उसके कमरे में। उसने घबराकर उसे कापी और पुस्तकों के ढेर में छिपा दिया। फिर भी मैंने उसे पहचान लिया था। वह लीला ने उसे दी थी। मैं लौट गई।" कहकर देवकी ने शर्माजी को वह गुड़ियों के विवाह की घटना सविस्तार सुनाई। देवकी चाय बनाने के लिए रसोईघर में गई।

शर्माजी भी साथ-साथ वहीं को जाते हुए बोले—"वह मूर्ख लड़का है। मैं लीला से अच्छी लड़की उसके लिए ला देता।"

"लीला की माँ लड़की देने को राज़ी है और उसके पिता भी। आप ही की हठ पर यह असंभव हो रहा है। मेरा लड़का—कहीं वह कोई..... । मुझे भय लगता है। आपको गोपाल बाबू के सामने वसंत के विवाह की बात खोलने में न जाने क्या भय लग रहा है।"

"यदि उन्होंने नहीं कह दिया तो ?"

"वह 'नहीं' कभी कहेंगे नहीं।"

"अच्छा मैं सोचूँगा इस बात को।"

"कब ? जब मेरा वसंत कॉलेज छोड़, कहीं को चल देगा या...? मुझे फिर भय लग रहा है। जाओ, देखो मेरे वसंत को, वह घर लौटकर नहीं आवेगा। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अभी गोपाल बाबू के यहाँ जाओ, उनसे कहो वह लीला को वसंत के दे दें। लीला को पाकर वह कॉलेज नहीं छोड़ेगा।"

शर्माजी के कुछ भी समझ में न आया। उनकी पत्नी बराबर बोलती चली जा रही थी। शर्माजी घबड़ाने लगे, कहीं आधिक्य से हिस्टीरिया न हो जाय। सुना तो था, उन्होंने उमर पा लेने पर फिर वह रोग नहीं होता। पर उस विचार पर उनका विश्वास जमा नहीं। कोई

कुछ नहीं कह सकता कि क्या होता है। उन्होंने मन में कहा, "बड़े-बड़े डाक्टरों के निर्णय झूठ साबित हो जाते हैं।"

चाय का गिलास शर्माजी को दिया देवकी ने, एक रकाबी में छीलकर संतरे रक्खे, कहने लगी—"चाय पीकर अभी जाइए उनके यहाँ। बड़े योग्य पुरुष हैं वह। तुम्हारी बात टूटने न देंगे। धनवान् व्यक्ति हैं, विवाह की बातचीत अपने मुख से आरंभ करते हुए डर रहे हैं, कहीं आप उनकी बात अस्वीकार न कर दें। जल्दी पी लीजिए चाय। गरम है तो मैं इसे लोटे में कर अभी ठंडा कर लाती हूँ। मेरा वसंत—वह घर आते हुए डर रहा है। वह आज घर नहीं लौटेगा और कल को, भगवान् न करें वह कहीं दूर विदेश को न चला जाय।"

शर्माजी ने दो-तीन साँसों में ही चाय समाप्त कर रख दी। बोले—"बैठक में से मेरी टोपी ला दो।" आँगन के एक कोने में एक चप्पल पड़ी थी, उसे पहनने लगे।

देवकी ने दौड़कर टोपी ला दी। चाय पीकर कुछ उत्साह हो गया था शर्माजी की नसों में; उन्होंने फिर कहा—"तकिए के नीचे पत्ती रक्खी है तबाकू की उसमें से थोड़ी-सी तोड़ कर ला दो। अल्मारी में चुनौटी है, उसमें से कुछ चूना भी।"

देवकी बड़बड़ाती हुई फिर भागी। शर्माजी आँगन के द्वार खोल जाने को तैयार हो गए।

पत्ती शर्माजी को देकर देवकी ने खिन्न हो कहा—"नहीं मिला चूना।"

"जाने भी दो, रास्ते में कहीं पर से ले लूँगा।" वह जाने लगे, फिर रुक गए—"लेकिन मिलेंगे वह घर पर इस समय?"

"घर ही पर हैं, अभी कानपुर से आए हैं। परंतु तुरंत ही चले जाओ। वसंत अगर कहीं मिल गया तो उसे डाँटना-डपटना नहीं। मार्ग में कहीं किसी से बातों में न लग जाना।"

शर्माजी ने पैर बाहर रक्खा यह कहते हुए—"पागल हूँ क्या ?"

देवकी ने द्वार बंद कर साँकल चढ़ा दी और द्वार की दरज से देखती रही, शर्माजी बड़े उत्साह और साहस भरे पगों से गोपाल बाबू के बँगले की दिशा में अदृश्य हो गए।

शर्माजी बहुत धनात्मक होकर जा रहे थे। इतने वर्षों में वह बहुत थोड़ी ही बार उनके यहाँ गए थे। ज्ञात होने पर या देख लेने पर कमरे से बाहर निकलकर उनका स्वागत करते हैं। कितना ही काम हो उन्हें गोपाल बाबू शर्माजी को कम-से-कम फाटकतक पहुँचाने अवश्य ही आते हैं। मन में कहने लगे शर्माजी—"मेरी बात टाल तो क्या देंगे। कब का विवाह हो गया होता। मैं ही इस साहबी ठाट में पली हुई लड़की को लाने से डर रहा था। मेरे प्रस्ताव को सुनकर बहुत प्रसन्न हो जावेंगे। अभी है कहाँ हमारी बिरादरी में अधिक पढ़े-लिखे वर ? गोपाल बाबू वसंत के पढ़ने-लिखने की प्रगति को बड़े मनोयोग से देखते चले आ रहे हैं। मैं इस बात को जानता हूँ, वह वसंत को ही जामाता बनाना चाहते हैं। बड़ा दुष्ट है यह वसंत, किस कौशल से इसने मेरे हठ को चूरचूर कर दिया।"

गोपाल बाबू का बँगला दिखाई देने लगा था। शर्माजी मार्ग में कहीं से चूना लेना भूल गए, तमाखू की पत्ती धोती के एक कोने में बाँध ली। आदमी की ऊँचाई से ऊँची पक्की दीवाल थी उनके बँगले के चारों ओर। हाते में उनका कुत्ता भौंक रहा था। शर्माजी के पैर भारी होने लगे। फाटक में प्रवेश करने पर यदि कुत्ता उन पर झपट पड़े तो ? गोपाल बाबू ने यदि पहले के समान स्वागत न किया तो ? प्रस्ताव सुनकर यदि उन्होने स्पष्ट 'नहीं' कह दिया तो ? उन्होंने फिरकर अपने घर की ओर देखा, देवकी मानो उन्हें धक्का देकर गोपाल बाबू के फाटक के अंदर कर रही थी।

तेज खोए हुए दिन के दीपक की भाँति, उन्होंने गोपाल बाबू के बँगले में अपना प्रवेश देखा। कुत्ता भौंककर न जाने कहाँ चला गया

था, शर्माजी का साहस बढ़ा। माली गमलों में पानी भर रहा था। शर्माजी को फुहारा भूमि पर रखकर पहचाना, बड़े भक्ति भाव से उसने दोनों हाथ जोड़कर पालागी कहा। अधिक जमे हुए पैरों से बढ़ते-बढ़ते शर्माजी ने पूछा—"साहब हैं ?"

"हाँ सरकार ! बैठक में ही। चाय पी रहे हैं।"

चाय पी रहे हैं। बिना सूचित किए ही कमरे में घुसा चला जाना कदाचित् उन्हें रुचिकर प्रतीत न हो। यह सोचकर शर्माजी ने चाल मंद कर दी और फिर माली की ओर मुख कर खड़े हो गए।

"चले जाइए। और कोई भी नहीं है। आप कोई बाहर के आदमी थोड़े हैं।"

"उन्हें सूचना दे दो माली ! यही ठीक होगा।"

माली ने मुख पर बड़ी विरक्ति खींचकर फुहारा हरी दूब पर रख दिया। मुख का तंबाकू थूककर उसने पैर आगे को बढ़ाए। चलते-चलते दोनो हाथों से उसने अपने होंठ और गाल पोंछे। हाथ दोनों कूल्हों पर की धोती पर घिस दिए। बड़े विनीत और नम्र भाव से उसने उँगली की पोर से द्वार खटखटाया। शर्माजी उसका अनुसरण कर रहे थे।

गोपाल बाबू ने भीतर से पूछा—"कौन ?"

"मैं हूँ हुज़ूर माली। शर्माजी आए हैं।"

गोपाल बाबू ने एक घूँट चाय की और पीकर प्याला रख दिया। लीला वहीं पर खड़ी थी, शर्माजी को चीनी के बर्तन अच्छे नहीं लगते, इस कारण वह ट्रे को तुरंत ही भीतर उठा ले गई।

गोपाल बाबू से सम्मति पाकर माली ने द्वार खोल दिया और शर्माजी की ओर देखकर संकेत से कहा—"आइए।"

शर्माजी के देहली नाँघने से पहले ही गोपाल बाबू उठकर द्वार के निकट आ गए थे। उनके कुछ बोलने से पहले ही कहने लगे—"कानपुर चला गया था। अभी कुछ देर हुई, वापस हुआ हूँ।"

उन्होंने एक सोफ़े को दिखाकर कहा—"विराजिए।" भीतर की ओर पुकारकर कहा—"लीला! शर्माजी के लिए चाय ले आओ।"

शर्माजी आसन पर बैठते हुए बोले—"नहीं, नहीं, मैं अभी पीकर ही आया हूँ। अनावश्यक कष्ट उठाने से कोई लाभ नहीं।"

"कोई भी कष्ट नहीं।" कहते हुए गोपाल बाबू ने भीतर जाने का इरादा किया। "एक-दो मिनटों के लिए क्षमा चाहता हूँ। आप निश्चित होकर बड़ी स्वतंत्रता से विराजिए।"

"हाँ, हाँ आप जाइए।"

शर्माजी चप्पल डोरमैट पर ही छोड़ आए थे और उस सजी हुई बैठक पर काजल की बिंदी-सा दिखाई दे रहा था, वह जोड़ा। गोपाल बाबू भीतर चले गए। शर्माजी ने अपना नंगा दाहना पैर, घुटना मोड़-कर सोफ़े पर रखना चाहा, उन्हें वह देहलीं पर रक्खा हुआ बेसुरा प्रतीत हुआ। वह उठकर देहली पर पहुँचे। उसे पैर में डालकर बाहर हो लिए। पोर्च की दीवाल की ओट में उसे रख आए। बैठक को जा रहे थे कि माली पर दृष्टि पड़ी। उसे बुलाया, उसके पास आने पर धीरे-से कहा—"माली चूना है तुम्हारे पास?"

माली ने एक गमले की छाया में से एक मुड़ा हुआ पत्ता निकाला।

गोपाल बाबू ने बैठक में आने पर देखा शर्माजी अदृश्य! कुछ चकित होकर वह बरामदे में आए। देखा, शर्माजी एक हाथ में तमाखू भींचकर माली के पत्ते में से चूना तोड़ रहे हैं। कुछ अरुचि-सी उनके मुख में प्रकटी। शर्माजी ने उन्हें देख लिया, वह तुरंत ही उनके पास आने लगे। अँगूठे से तमाखू जल्दी से भींच मुख में डाल, पहला पीक नाली में थूक, उनके पास खड़े हुए, बोले—"चूना लेने गया था।"

दोनों बैठक में गए। गोपाल बाबू ने कहा—"मैं यहीं भीतर से चूना मँगवा देता।" आप सिगरेट् पिया कीजिए। धार्मिक बंधन है क्या?"

"पहले पीता तो था। व्यय अधिक है। घर पर तमाखू तो पीता हूँ ही।"

कुछ सूखे कुछ हरे फल मेज़ पर सज गए थे और वहीं निकट ही चाय का गिलास अपनी मोहक और भीनी गंध उड़ा रहा था। शर्माजी चाय पीकर अवश्य आए थे। पर अब उन्हें याद आ रही है, देवकी के सहज ही भूल जानेवाले मन में वसंत की चिंता बस गई थी। शर्माजी ने उसे केतली में चाय की पत्ती छोड़ते हुए नहीं देखा। बहुत संभव है, केतली के कुछ पुराने पत्तों ने अपना शेष रंग दे दिया हो, देवकी ने केतली साफ़ भी की थी या नहीं। शर्माजी की इच्छा चाय पीने को हो गई। दोनों सोफ़ों पर बैठ गए।

शर्माजी कहने लगे—"बड़ा कष्ट किया आपने। अभी तमाखू खाया है मैंने, कुछ देर ठहर जाऊँगा।"

"थूक दीजिए, कोई दुष्प्राप्य वस्तु तो है नहीं। सिगरेट् पी लीजिएगा।" गोपाल बाबू ने नौकर को बुलाकर कहा—"जा पीकदान ले आ।"

"पीकदान की कोई आवश्यकता नहीं। एक लोटे में जल ले आ।" शर्माजी ने नौकर से कहा। उनका भीतरी मन बराबर इसी फेर में पड़ा था कि बात कहाँ पर से खोलूँ। नौकर ने उन्हें हाथ धुलाए। उन्होंने तमाखू थूककर कुल्ला किया। वह अपने स्थान पर बैठे और उन्होंने आरंभ किया, चाय पीना नहीं, बातें करनी। "आपने जिस भय की आशंका आज सुबह दिखाई, वही हो गया जान पड़ता है।"

"हाँ, मुझसे लीला की माता ने कहा है। मैंने लीला से भी पूछा है। वह भी मिले हैं।"

"वसंत ने पढ़ना-लिखना त्याग दिया है। मेरी अभी उससे भेंट नहीं हुई है। मैं नहीं जानता, वह मुझसे क्या कहेगा। ऐसा लड़का, क्यों पढ़ने से उसका जी उचट गया। बड़ी मुश्किल है, क्या किया जाय।"

"आपका पुत्र, आप उसे प्रभावित ही न कर सके। मैं समझता हूँ, स्कूल और कॉलेज की शिक्षा मनुष्य का निर्माण तभी कर सकती है, जब बढ़ते हुए बालक पर माता-पिता की शिक्षा फलदायक हुई हो। चाय पीजिए।"

शर्माजी ने गिलास उठा लिया। "मेरी ओर से उसके ताड़न में कुछ भी कसर नहीं रही थी। हाँ, माता के आवश्यकता से अधिक लाड़-प्यार ने उसे उच्छृंखल बना दिया।" उन्होंने चाय का एक घूँट पिया।

"अमनोवैज्ञानिक ताड़न भी बच्चे में दुर्गुण भर देता है। वह डरपोक और झूठा बन जाता है। यह फल और मेवे भी तो लीजिए न।"

"नहीं, इच्छा नहीं।" कहकर फिर शर्माजी ने चाय की घूँट पी। "वैसे यह लड़का बहुत होशियार है, पढ़ने-लिखने में।"

"हाँ, यह सच है। कुसंगति में पड़ गए। इधर कई दिनों से मैं उन्हें अच्छी संगति में नहीं देख रहा था।"

"मै इस बात को मानने को तैयार नही हूँ।"

"मैंने कई बार उन्हें उन जय पुकारनेवालों के झुंड में देखा है जिनके पगों में साम्य न था, विचार में शायद ही।"

"मैं उसके कॉलेज छोड़ने का कारण कुछ और समझता हूँ।" शर्माजी ने चाय का गिलास रिक्त कर मेज़ पर रख दिया।

"हाँ, कहिए।"

"वसंत की माँ को यह विचार पहले-पहल सूझा। मैंने जब इस पर ध्यान दिया तो इसे सही पाता हूँ।"

"अर्थात् ?"

"एक वाक्य में कारण है, उसका लीला के साथ विवाह का न होना।"

"मैं नहीं मानता यह बात।"

"मानिए। बचपन में साथ-साथ खेलते हुए वसंत के मन में उसका

अनुराग उत्पन्न हो गया। उसका विश्वास—पक्का विश्वास था कि लीला अवश्य उसके जीवन की संगिनी हो जायगी। जब उसने इस बात को असंभव माना तो उसने एक प्रकार यह अपने जीवन के सुख की आत्महत्या कर डाली।"

"अविश्वास क्यो हुआ उन्हें ?"

"मैंने कह दिया था उसकी माँ से कि हम लीला के समान सुख में पली हुई लड़की को क्यों एक मध्यम परिस्थिति में रख दें।"

"हूँ !" गोपाल बाबू कुछ सोचने लगे।

"अतः वसंत के जीवन को नष्ट होने से बचा लेना आपके हाथ में है।"

गोपाल बाबू ने घबराकर मानो वह भार भूमि पर गिरा दिया—"अच्छा कहा यह आपने ! बुद्धि का तीव्र और अवस्था का उन्नत वह, आप उसके पिता—अविभावक। मैं कैसे किसी का त्राता हो सकता हूँ ?"

"आप लीला का विवाह वसत के साथ कर देने का वचन दीजिए, वह अधिकारियो से क्षमा माँगकर फिर भरती हो जायगा कॉलेज में।

गोपाल बाबू को वसंत की बात याद आई—"नहीं अब वह भरती न होगा। उसे अपने वचन की रक्षा करने की लज्जा है।"

"आप वचन दीजिए। यदि वह कॉलेज को छोड़ ही दे तो आप अपनी कन्या न दीजिए।"

"कैसे विवाह कर देने को आप कहते हैं ? मैंने ज्योतिषीजी को दोनों की कुंडलियाँ दिखाई थीं। वह कहते हैं, साम्य ही नहीं होता।"

शर्माजी को जैसे लकवा मार गया। असाम्य पर नहीं। गोपाल बाबू के इस ज्योतिष के विश्वास पर ! वह चकित हो बोले—"आप अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हैं, उसी ढंग से रहते हैं। आप ज्योतिष को सच समझते हैं ?"

"हाँ। मुझे कई बार इसकी साक्षी मिली है। यह नीलमणि मेरी

अँगूठी की। मेरा पक्का विश्वास है, जिस दिन यह खो जायगी। मेरे दुर्दिनों का आरंभ हो जायगा।"

"लीला की कुंडली दीजिए। मैं भी किसी ज्योतिषी को दिखाऊँगा।"

"केवल संस्कृत या गणित के ज्ञान से ही कोई ज्योतिषी नहीं हो सकता। मैने जिनसे गणित कराया है। मेरा उन पर बहुत बड़ा विश्वास है। संभव है, लोभ के कारण कोई पंडित आपको निकल चलने के लिए कोई छिद्र बता दे।"

"आपको वह मिला, आपने उसमें पिता का विद्रोह फैलता हुआ देखा, रोका नहीं? समझाया नहीं उसे?"

"यह भला क्यो करता मैं? जब मैंने उसे बहुत ढीठ और आवेश में पाया। क्या सड़क पर अपनी बेइज्ज़ती करानी थी?"

"उसे मेरी इस अवस्था पर भी कोई विचार न आया। पिता की आज्ञा की अवहेलना क्या उसके लिए विद्रोह नहीं है? क्या कोई क़ानून नहीं कि ऐसे विपथ में पड़े हुए पुत्रों को दंड दिया जा सके?"

"क्या मालूम?" कहकर गोपाल बाबू टेलीफ़ोन पर गए। नंबर मिलने पर उन्होंने कहा—"अच्छा, डॉक्टर साहब नहीं है। कोई चिंत नहीं। आप भी मेरा काम कर देंगे।"

"बड़ी प्रसन्नता से।" फ़ोन पर कंपाउंडर बोले।

"वहाँ पार्क में कॉलेज के हड़तालिए लड़कों की आज एक सभ होनेवाली थी। समय क्या है उसका?"

"हो रही है।"

"पुलिस ने रोका नहीं उन्हें?"

"नहीं।"

"भीड़ कितनी है?"

"आवश्यकता से अधिक।"

"थैंक यू।" कहकर गोपाल बाबू ने रिसीवर रख दिया औ

शर्माजी के पास आकर बोले—"वह अवश्य ही सभा में हैं। चलिए, आपकी दशा देखकर बड़ा दुःख हो रहा है। पहले से यह सब ज्ञात होता तो बहुत-कुछ किया जा सकता था। अब भी अंतिम अवसर को खो न दिया जाय। कदाचित् कुछ हो जाय। एक होनहार युवक का जीवन नष्ट हो जाने से बचा सके।"

निराशप्राय शर्माजी कुछ सहारा पाकर उठे। बोले—"एक का दुख ही दूसरे मित्र की पहचान का अवसर है।"

"चलिए। पोर्च में ही मेरी मोटर खड़ी है।"

लीला पान की थाली लेकर आई। गोपाल बाबू बोले—"पान लीजिए।"

शर्माजी ने पान लिया। लीला को देखा, कहा—"लीला!"

कंधो पर विनत सिर को लीला ने फिरा लिया। थाली से एक हाथ छुड़ा उससे कान के पास से साड़ी का किनारा खींच लिया।

"बड़ी संकोचशील लड़की है तू। वह तेरे पास आया था, तूने उसे रोक नहीं लिया?"

लीला फिर चुप रही।

गोपाल बाबू से शर्माजी ने कहा—"आप न लेंगे?"

"नहीं, आप जानते ही हैं, मैं बहुत कम पान खाता हूँ। चलिए, नहीं तो कहीं देर हो जायगी तो ठीक नहीं।" कहते हुए शर्माजी चलने लगे।

"सादा तमाखू नहीं है?"

लीला ने पैर का अँगूठा चप्पल में दबाकर सिर हिलाया।

शर्माजी सुगंधित तंबाकू की चुटकी उठाकर चल दिए। मोटर में बैठने के बाद भी उनके मन में वसंत छिप गया था। कॉलेज में शिक्षा पाई हुई उस सौम्य लड़की की विनय उनकी कल्पना में खिल उठी। विचारने लगे, आज से पहले गोपाल बाबू से यह कन्या वसंत के लिए न माँगना, भूल थी।

गोपाल बाबू ने शर्माजी का स्वप्न तोड़ा—"आपके सामने कोई ज़िक्र ही नहीं हुआ, कॉलेज छोड़ने का ?"

"नहीं, कभी नहीं। आज सुबह आपने कुछ आभास दिया था। उसको लेकर मैंने आज उसके साथ बातचीत करने का विचार किया था, पर—"

गोपाल बाबू फिर कुछ न बोले। धीर मनोयोग से वह उस जल्दी में मोटरकार के चक्के पर हाथ रखकर इक्के, ताँगे, साइकिल, ठेले और पैदल से बचते हुए चले जा रहे थे लाटूश रोड पर।

शर्माजी ने कहा—"जहाँ पर भी वह दिखाई देगा। मैं उसके चपत लगा कान पकड़कर आपकी मोटर में बिठा बलपूर्वक घर ले आऊँगा।"

गोपाल बाबू हँसे—"यह अविचार की बात है।"

दोनों पार्क के निकट आ गए थे। शर्माजी ने कहा—"बड़ी भीड़ है।"

सड़क के किनारे मोटर छोड़कर दोनों पार्क के भीतर घुसे। बड़ी मुश्किल से भीड़ में से होकर प्लेटफ़ॉर्म के निकट पहुँचे। शर्माजी ने देखा, वसंत एक मेज़ के ऊपर खड़ा होकर गला चीर-चीर व्याख्यान दे रहा है। गोपाल बाबू ने कहा—"यह देखिए वसंत के रंग !"

दोनों एक जगह भीड़ में सिर ऊँचा कर सुनने लगे।

वसंत दोनों हाथों को नचाकर कह रहा था—"और इन्हीं को हम विद्यालय कहते हैं। इन्होंने हमें शरीर की क्षुधा मिटाने के कुछ उपाय बताए हैं, वह भी सभी को नहीं। इन्होंने कुछ लोगों को कुछ काल के लिए रोटी कमाना सिखाया। पर मनुष्य में मनुष्यता है चरित्र के बल से। इन्होंने हमें एक-दूसरे का सान्निध्य प्राप्त करना नहीं बताया, इन्होंने हमारे टुकड़े कर दिए। इन्होंने हमें अपनी जाति से घृणा करने की अव्यक्त शिक्षा दी। मैंने जाति का व्यापक अर्थ लिया है—वह समस्त आबादी जो भारत के अन्न, जल और वायु से परिपोषित हुई है। बड़े

भाई ने पढ़-लिखकर छोटे भाई के अधिकारों का हरण किया, पिता और पुत्र के बीच में वैमनस्य उपजाया।"

"तू स्वयम् उसका एक उदाहरण है!" शर्माजी अपने आवेश को रोके न रोक सके थे। उन्होंने जोश में आकर कह ही तो दिया।

सभा में "चुपो, चुपो" की कई ध्वनियाँ आईं। गोपाल बाबू ने भी शर्माजी से चुप रहने का संकेत किया। वह चुप हो गए।

कुछ बाधा पाई वसंत ने। उसके प्रवाह में ठेस लगी। उसने पिता को देखा नहीं, श्रोताओं के बीच में। आवाज़ कुछ सुनी-हुई-सी पहचानी। उसने फिर स्वर ऊँचा किया—"पति-पत्नी के विचार नहीं मिले, मालिक और नौकर में नहीं पटी। हम पहले दरजे के स्वार्थी हो गए, हमारे भीतर से न्याय की भावना धूप में पड़ी हुई कपूर की डली की तरह उड़ गई। रुपया हमारा भगवान्, इंद्रिय-लोलुपता हमारा धर्म और 'मैं'—बहुत बड़ा 'मैं' हमारे समस्त कर्म का केंद्र बन गया।"

शर्माजी ने गोपाल बाबू से कहा—"यह इतना सभा-चतुर है, मैं नहीं जानता था। बात ठीक कह रहा है।"

गोपाल बाबू बहुत गंभीर होकर सुन रहे थे। शर्माजी कुछ और कहना चाहते थे कि पास के कुछ लोग बोले—"चुपो, चुपो।"

वसंत का व्याख्यान जारी था—"इसलिए भाइयो, हमें इस पद्धति की जड़ हिलाकर फेंक देनी चाहिए, अवश्य ही यह हमारा बलिदान हमें कदाचित् कुछ फल न दे सके, पर आगामी संतान हमारे उद्योग की स्तुति करेगी। सब छात्र मिलकर एक मन से कॉलेज छोड़ देंगे ऐसी आशा की जा रही है। माता-पिता से पूछने की कोई आवश्यकता नहीं।"

शर्माजी ने बाधा दी—"है कैसे नहीं?" वह उत्तेजित होकर व्याख्याता की ओर बढ़े, गोपाल बाबू को भी इच्छा के विरुद्ध उनके साथ जाना पड़ा कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। शर्माजी ने बहुत समीप

आकर कहा—"माता-पिता से पूछने की आवश्यकता है कैसे नहीं ? अरे जिसने पालन-पोषण किया, संसार की हर बीमारी और संकट से रक्षा की, उस ऋण का परिशोध यही है कि तुम उनकी अनुमति न लोगे ?"

वसंत ने पिता को पहचाना, पूरी-पूरी उनकी बात सुनी और कहा—"क्योंकि हम विशुद्ध त्याग की भावना से शक्तिमान् हुए हैं।"

"तेरी त्याग की भावना झूठी है।" कहते हुए शर्माजी ने मेज़ के निकट पहुँचकर ललकारा।

कई आवाज़ें श्रोताओ की आईं—"निकालो, निकालो, कौन है यह ?" "कैसी गड़बड़ मचा दी बुड्ढे ने !"

शर्माजी सभा से बाहर कर दिए गए। गोपाल बाबू उनके साथ ही साथ चले आए। मन में कहने लगे—"अच्छी आफ़त में फँस पड़ा आज।"

दो तीन लड़के उन्हें बाहर पहुँचा गए। रोष और दुख से शर्माजी हाँफने लगे थे। सारे वस्त्र पसीने में तर थे। पार्क के बाहर आकर वह एक वृक्ष की छाया में बैठ गए। सभास्थल में बँटते हुए एक पर्चे को उन्होंने ले लिया था, उसे मोड़कर मुख में हवा करने लगे।

गोपाल बाबू को वहाँ पर खड़ा रहना अखरने लगा। उन्होंने कहा—"अब क्या होगा ?"

"अब क्या होगा ? रोटी और विश्राम के लिए तो उसे झख मार कर मेरे द्वार पर आना पड़ेगा। मैं प्रत्येक द्वार में साँकल चढ़ाकर ताला दे दूँगा और चाभी बाँध लूँगा यज्ञोपवीत में !"

कुछ मुसकाकर गोपाल बाबू ने कहा—"चलिए, चल सकेंगे न नहीं तो मैं मोटर यहीं पर ले आता हूँ, पास ही तो है।"

शर्माजी उठ खड़े हुए। दोनों मोटर के पास गए। मार्ग में गोपाल बाबू ने कहा—"देखा, यह पीढ़ी किस प्रकार उद्दंड बना दी गई है।

उन्होंने मोटर का द्वार खोला।

"मैं उसके सिर से निकाल दूँगा यह उद्दंडता। जब गली-गली यह दाने-दाने के लिए मोहताज फिरने लगेगा तब ज्ञात होगा इसे माता-पिता का मूल्य।"

दोनों मोटर में बैठे। गोपाल बाबू बोले—"यहाँ उनका राज है, कुछ नहीं हो सकता। घर लौट चलें?"

शर्माजी गहरे विचारों में थे। कुछ क्षणों की यति से बोले, मानों उन्हें उसकी कुछ चिंता नहीं है—"इधर से चलिए मार्ग में थोड़े से काग़ज़ी नींबू ख़रीद ले जाऊँगा।"

पर ज्यों-ज्यों घर निकट आता गया शर्माजी दुखी होते गए। गोपाल बाबू उन्हें मोटर से उतारकर चल दिए। उदास मुख उन्होंने शर्माजी की ओर देखा।

बहुत भारी हृदय लेकर शर्माजी ने सड़क से अपने बैठक की सीढ़ी पर पैर रक्खा। देवकी कान देकर बैठक में उनकी प्रतीक्षा कर रही थी, उनकी छाया और आहट पहचानकर उन्होंने शृंखलमुक्त कर दिया द्वार। उसे आभास मिल गया, वसंत न जाने क्या कर रहा है।

शर्माजी ने बड़ी श्रांति अनुभव की। तखत के नीचे चप्पल छोड़कर वह उसमें लेट गए। उन्होंने तकिए पर पड़ा हुआ पंखा उठाकर उसकी जगह अपना सिर रक्खा और एक लंबी साँस छोड़ी।

देवकी ने उनके हाथ से पंखा ले लिया, उन्हें हवा करती हुई बोलीं—"क्या कहा गोपाल बाबू ने?"

"क्या कहते वह। तुम्हारा लड़का ही किसी काम का न निकला!"

"विवाह के लिए क्या कहा?"

"किसका विवाह करोगी? लड़के पर तुम्हारा वश भी रहा क्या कुछ?"

"यह क्या कह रहे हो तुम? मेरा वसंत कुशलपूर्वक है न?"

शर्माजी ने समस्त कथा सुनाई। देवकी कहने लगीं—"गोपाल

बाबू ने कुछ भी नहीं समझाया उसे ?"

"नहीं, वह एक शब्द भी नहीं बोले।"

"चलो मैं तुम्हारे साथ चलती हूँ, मैं उसका हाथ पकड़कर ले आऊँगी।"

"अब तक वहीं बैठा थोड़े होगा वह ?"

"तुम्हें पुरुष होने का गर्व है। तुम उसके कान खींचकर नहीं ला सके !"

"मैं कहता था तुमसे, इस लड़के की हठ पूरी कर इसका स्वभाव दोषपूर्ण कर रही हो। तुमने कभी न माना। अब फल चखो।"

"अब वह रात को न आवेगा घर पर ?"

"उसे आने कोई दे तो न ?"

"क्यों आने कैसे न दोगे ?"

"मेरी इच्छा। मेरे उसके प्रति के समस्त कर्त्तव्य उस समय शेष हो जाते हैं, जिस क्षण से वह मेरी आज्ञा पददलित करता है।"

"उसे आने दो। मैं नींद और खाना छोड़कर भी उसे समझा-ऊँगी।"

"नहीं, मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता। वह इस चौखट के अंदर अब प्रवेश नहीं पा सकता। उसे इस छत के नीचे विश्राम नहीं मिल सकता।"

"केवल आज के लिए अपने इस निश्चय को छोड़ दो। मुझे समझा लेने दो, वह मार्ग पर आ जायगा।"

"नहीं, किसी प्रकार नहीं।"

देवकी रोती हुई शर्माजी के पैरों पर पड़कर बोलीं—"आज, केवल आज।"

शर्माजी उठ खड़े हुए। अलमारी में से दो ताले निकाले और दराज़ में से चाभियों का गुच्छा। एक ताले की चाभी मिली गुच्छे में दूसरे की नहीं। उन्होंने कहा—"इसकी चाभी है तुम्हारे पास?"

"नहीं।"

"मकान के बाहर तुम जो ताला देती हो उसे ले आओ।"

देवकी ने ताला लाकर देते हुए कहा—"क्या करोगे इनसे?"

"इनको दोनों द्वारों में दूँगा कि तुम उस चांडाल के लिए द्वार खोल न सको।"

"हे भगवान् तुम क्या करनेवाले हो! मेरे वसंत की रक्षा करो।" देवकी ने हाथ जोड़े। उसने कुछ सिक्के निकालकर अलग रक्खे और इष्ट-देवता की मनौती मानी।

शर्माजी ने कहा—"दीपक जलाओ पूजाघर में। मुझे कुछ भी परवा नहीं है। वह अपनी करनी का फल पा लेगा शीघ्र ही।"

देवकी ने जाते हुए कहा—"गोपाल बाबू क्या कहते हैं?"

"अपना सिर कहते हैं! बड़ा विश्वास था तुम्हें उनका।" शर्माजी कपड़े उतार आँगन की ओर जाने लगे।

देवकी ने उनका अनुसरण किया। उनके नहाने के लिए धोती-अँगौछा और जल रक्खा। फिर मीठे तेल का दीपक जलाया पूजाघर में और हाथ जोड़कर प्रार्थना की ठाकुरजी से।

शर्माजी शौच-स्नान से निवृत्त हो संध्या करने बैठे। मन में वसंत-ही-वसंत घूम रहा था। सोच रहे थे, यदि वह आवे तो उसके लिए द्वार खोला जाय या नहीं। पत्नी से वैसा कह तो दिया था, पर वह भयाकुल थे कि कहीं ऐसे व्यवहार से उनके और पुत्र के बीच की खाई अधिक विस्तार न ले ले। कभी निर्णय करते, देवकी के इच्छानुसार आज उसे आने दिया जाय, पर बात एक भी न करूँगा उससे। कभी विचारते, नहीं उसे नहीं आने दूँगा, यह घर मेरा है। उसे पता चल जायगा पिता के आश्रय का क्या, कैसा मूल्य है? उसको घर के भीतर आज प्रवेश दे देना, मेरी दुर्बलता को प्रकट करेगा। और पुत्र पर प्रभाव स्थापित कर सकने का यह मेरा अंतिम युद्ध है। यह पराजय कदाचित् फिर मेरे जीवन की निष्क्रांति पर से उठ न सकेगी।

वस्त्र का फटा हुआ अंश यदि उसी समय न सी लिया जायगा तो दिन-दिन फटता ही चला जायगा। शर्माजी ने पूजा का एक भाग समाप्त किया। दोनों ताले लाकर उन्होंने अपने समीप ही रख लिए थे। वह उठे। बैठक में जाकर लैंप की रोशनी तेज़ की। एक ताला बैठक की बग़ल से जो द्वार भीतर को जाता था, उसमें दिया। एक ताला अल्मारी में से खोलकर बैठक के दरवाज़े में दिया। तीसरा ताला आँगन के द्वार के लिए शेष रहा।

देवकी भोजन बनाते-बनाते वसंत के लौट आने की चिंता में थी। जल्दी ही पूजा में से शर्माजी के उठने की आहट पा उधर गई। देखा, शर्माजी बैठक के द्वार में ताला लगाकर आँगन की ओर आ रहे हैं। कहा—"क्या पूजा कर चुके?"

"नहीं।" शर्माजी ने आँगन के द्वार पर ताला लगाया।

देवकी ने उनके भाव को पहचानकर और कुछ बोलना उचित नहीं समझा। वह पूजा करने चले गए। देवकी मन मारकर रसोई में गई और खाना बनाने लगी। बिलकुल मन नहीं लग रहा था उनका। वसंत के आने का समय हो गया था। देवकी क्षण-क्षण में वसंत की साइकिल और उसके जूतों की ध्वनि सुन रही थी, प्रत्येक खटके में। वह आकर जब सदा की भाँति "माँ! द्वार खोलो" कहेगा तो क्या उत्तर दूँगी। वह गहरे विचारों के महासमुद्र में डूब गई!

शर्माजी ने पूजा समाप्त की और खा-पीकर बैठक में चले गए, समाचार-पत्र पढ़ने लगे। उन्होंने खाना अच्छी तरह नहीं खाया। देवकी को भी बिल्कुल भूख नहीं मालूम दी। वह अधीर मन से पुत्र की प्रतीक्षा करने लगी।

देर से वसंत आया। उसने बैठक के प्रकाश में पिताजी को देखा, वह चुपके से पिछली ओर गया। उसने धीरे-धीरे द्वार खटखटाकर कहा—"माँ!"

माँ तुरत ही द्वार के निकट पहुँची। उसने कहा—"वसंत!"

"हाँ माँ।"

"बड़ी देर लगाई।"

"खाना खा चुके?"

"हाँ! तुमने यह क्या कर दिया वसंत!"

"यह सब कुछ न कहो। भगवान् की प्रेरणा।"

"पिता की आज्ञा ठुकरा दी?"

"विवशता।"

"मेरी बात न मानोगे?"

"यह सब कुछ न कहो माँ! बहुत आगे बढ़ चुका हूँ। अब पीछे हटना असंभव है।"

"द्वार में उन्होने ताला दे रक्खा है। बैठक की ओर से उनसे खोल देने की प्रार्थना करो।"

"नहीं।"

"वह बहुत रुष्ट हैं।"

"मैंने लोक और न्याय के विरुद्ध कोई आचरण नहीं किया है। मुझे कोई भय नहीं।"

"वह तुम्हारे इस घर में प्रवेश की अब इच्छा नहीं रखते।"

"न रक्खें।"

"तुम्हें क्या हो गया। जाओ उनसे क्षमा माँगो। वह तुम्हें क्षमा कर देंगे।"

"मैंने कोई अपराध नहीं किया है।"

"गोपाल बाबू भी तुमसे रुष्ट हैं।"

"हुआ करें।"

देवकी एक ताली का गुच्छा लाकर उस ताले को खोलने का प्रयत्न कर रही थी। अचानक ताला खुल गया। देवकी ने द्वार खोलते हुए कहा—"चुपचाप धीरे-धीरे चले आओ।"

वसंत को भोजन करने के लिए बिठाकर देवकी ने उसे अनेक

प्रकार से समझाया। पर उसके कुछ भी असर नहीं हुआ। देवकी ने कहा—"वसंत, गोपाल बाबू तुम्हारे इस आचरण को देखकर तुम्हें अब लीला को देने को भी तैयार नहीं हैं।"

"मुझे विवाह की ही कुछ आवश्यकता नहीं।"

शर्माजी ने बैठक में से कुछ आहट पा ली थी। वह दबे पैर भीतर आकर देखते हैं। वसंत खाना खा रहा है। उन्होंने सुना, माता और पुत्र में इस प्रकार बातें हो रही थीं—

माता ने कहा—"वसंत यदि तुम उनका कहना न मानोगे तो तुम्हीं बताओ, वह किस प्रकार तुम्हें इस घर में रहने के लिए आज्ञा दे सकेंगे।"

वसंत हँसकर कहने लगा—"इतना बड़ा भूमि का विस्तार है माँ!" वह कुछ गंभीर होकर बोला—"कृत्रिम रहन-सहन ने हमारी प्रकृति में अंतर डाल दिया है।"

देवकी ने कहा—"हमारे ऊपर दया करो वसंत! हमारी अवस्था को और हमारी स्थिति देखो। हमारे बिना तुम और तुम्हारे बिना हम कैसे रह सकेंगे?"

"अभ्यास में ही सुख पैदा हो जाता है। मुझे कुछ चिंता नहीं है, तुम्हें भी कोई न होनी चाहिए।"

शर्माजी छिपे-छिपे न रह सके। एकाएक चौके में धँस पड़े। वसंत का हाथ पकड़कर उसे उठाया और आँगन की ओर धक्का देते हुए बोले—"जा निकल, मेरे घर में से। मैंने तुझे न आने देने के लिए ताला लगाया था।"

वसंत नल की ओर बढ़ने लगा, बिना खाए-पिए, चुपचाप हाथ धोने और पानी पीने के लिए। शर्माजी ने उधर से भी उसे हटाया।

देवकी भी उनके पीछे-पीछे रोती हुई चली आई थी, बोली करुण स्वर में—"हाथ-मुँह तो धो लेने दीजिए।"

"नहीं, इसे मैं एक क्षण न रहने दूँगा यहाँ। तुमने मूर्खता कर

ताला खोल दिया। और इसने फिर यदि इस घर की ओर पैर बढ़ाए तो मैं इसे भी निर्लज्ज और चोर कहूँगा, पुलिस में दे दूँगा।"

वसंत जूठे हाथों से साइकिल की ओर बढ़ने लगा था।

"नहीं, उधर नहीं जा सकते!"

"साइकिल?"

"तेरी नहीं है वह, मेरे रुपये से ख़रीदी गई है।"

देवकी ने वसंत के पास जाकर कहा—"मान जा वसंत! तेरे पैर पड़ती हूँ। क्यों मेरा सिर फोड़ रहा है?"

शर्माजी ने देवकी का हाथ पकड़कर खींच लिया—"जाने दो उसे।" फिर वसंत से कहा—"जा निकल। इस घर में तेरे लिए जगह नहीं, इसमें रहनेवाले तेरे कोई नहीं, जा मुँह काला कर।"

वसंत चुपचाप चला गया, जूठे मुँह नंगे पैर!

देवकी ने पुकारकर कहा—"लौट आ वसंत! कहना मान।"

शर्माजी ने उसे भीतर को खींच द्वार ढक दिए। देवकी ने भोजन नहीं किया और रातभर उन्हें नींद भी नहीं आई।

दूसरा पर्व

पहला परिच्छेद

मज़दूरी की जय

पार्क की बेंच में उठकर वसंत ने विचार किया, क्या सत्य ही मैंने पिता की अवज्ञा का पाप किया है ? लोग मेरे इस कार्य की घृणा करेंगे और संबंधी, पड़ौसी मुझे संकेत कर कानाफूसी करेंगे ?—"यही है वह वसंत अभागा, गुरुद्रोही—नंगा, भूखा और आश्रयहीन !" पिता एक सीमातक मेरी भलाई सोच सकते हैं। उनकी आँखों के आगे एक युग है, जब प्रत्येक परीक्षा पास किए युवक को नौकरी मिली, अच्छे विभागों में। वह नौकरी को जीवन का सबसे बड़ा वरदान समझते हैं। इस विश्वास में किसी का तर्क, किसी का प्रमाण उन्हें हरा नहीं सकता। गोपाल बाबू, उन्होंने बहुत बड़ी रक़म जमा की है। जन्म-भर उन्होंने जिसका काम किया है, उसकी भक्ति छोड़कर उन्हें बहुत बड़ी हानि हो सकती है। उनकी आँखों में स्वार्थ

है, इससे उन्हें सत्य स्पष्ट नहीं होता। पिता के विश्वास को उन्होने अपनी असम्यक दृष्टि से और भी अंध तम में घसीटा है। एक-एक व्यक्ति के बल के मिल जाने से जिस प्रकार किसी राष्ट्र का उदय होता है, इसी तरह हर एक के स्वार्थ के मिल जाने से राष्ट्र पंगु हो, पतित हो जाता है।

बहुत सुबह वह उठ बैठा था। रात वहीं पार्क की बेंच पर सो गया था। प्रभात की प्राण-सजीवनी पवन ने उसमें अद्भुत उमंग भर दी। घर पर वह देर से उठता था। वह मन में बोला—"पश्चिम की शिक्षा ने हमें एक वर यह भी दिया है—देर से उठना, इसके साथ देर से सोना ऐसे जुड़ा हुआ है जैसे दिन से रात।"

पार्क की बेंच में सोया हुआ देखेंगे तो लोग क्या कहेंगे, इस भय से वह कुछ रात रहते उठ बैठा था। पूर्व चमकने लगा था। तारों के साथ बिजली के दीपक जमुहाई लेने लगे थे। छाया पतली पड़ती जा रही थी। आकाश और वृक्षो पर चिड़ियें कलरव कर रही थीं। पथ में मज़दूर भी सक्रिय हो गया था, रोटी की खोज में। वसंत ने रात को पेट-भर नहीं खाया था, उसे रोटी की याद इसी से आई। पक्षियों की कहीं खेती नहीं है। सींखचे में बंदिनी चिड़िया, उसे स्वादु भोजन देकर उड़ना भुला दिया। वह प्रकृति के संसर्ग से बिछुड़ी हुई, जब मनुष्य उसके स्वर और रूप में रस लेता है, तब अपने जीवन को धिक्कारती होगी। जो मुक्त है वह अपने श्रम से अपना पेट भरती है—उसका पेट भरेगा, यदि वह श्रमशील होगा—यह प्रकृति का अटल नियम है। वसंत ने निश्चय किया मैं श्रम करूँगा।

मनुष्य के आधे चाटे हुए, दही लगे पत्तों को एक भिखारी चाट रहा था। जिनको साफ़ करता हुआ एक जमादार आ रहा था। वसंत के मन में ये दो उदाहरण गड़ गए।

कहाँ जाकर रहेगा वह? उसकी आजीविका का क्या प्रबंध होगा? प्रमोद याद आया उसे। वह उसे अवश्य कहीं दूसरी जगह रहने न

देगा। उसने अपनी जेब में हाथ डालकर बटुवा निकाला। आठ-दस आने थे उसमें केवल ! उसने अपने हाथ पर की रिस्टवाच पर ध्यान दिया। उसके मुख से निकल पड़ा—"कितने दिन ?"

"नौकरी करनी मुझे है नहीं। मै अपने ही बल पर स्थिर होना चाहता हूँ। पर यह सब किस प्रकार ? साधन मेरे पास है नहीं धन का। फिर कौनसा उद्यम आरभ किया जाय ?"

प्रकाश होने लगा था। सोते समय उसने जूता बैंच के नीचे डाल दिया था। उसने उठना निश्चित किया। उसके मन में यही विचार घूम रहा था कि आजीविका का आधार क्या बनाऊँ ? उसने पार्क की बेंच छोड़ दी। जूते को निकालकर पहना। यही सोचा, मैं श्रम करूँगा—क्या श्रम करूँगा ? वह जूते के तस्मे बाँध रहा था, उसे ध्यान आया, जूते की चमक जाती रही। उसने निश्चय किया, कुछ भी कर लूँगा। श्रम ने मनुष्य को पवित्र किया है। मैं बोझ भी उठा लूँगा, मैं मज़दूरी करूँगा। काम कोई भी छोटा नहीं।

वसंत उठकर चला, प्रमोद के यहाँ। उसे समस्त घटना सुनाई उसने। प्रमोद बोला—"तुम अपना नाम वापस ले लो वसत। हड़ताल में जैसी आशा की जा रही थी, वैसी सफलता दिखाई नहीं देती। पिता-जी को नाराज़ न करो, उनके एक ही लड़के हो, उनके सुख के लिए तुम्हें अपनी प्रिय वस्तु की भी बलि दे देनी उचित है।"

"अब लौट जाने से लोग हँसी उड़ावेंगे।"

"कई लड़को ने अपने नाम वापस ले लिए हैं। तुम्हें मालूम नहीं है क्या ?"

"मालूम है। वे लड़के जीवन में कोई काम कर न सकेंगे। जो इतने अस्थिरमति हैं। इधर की हवा लगी तो इधर, उधर की वायु बही तो उधर। यह भी कोई जीवन हुआ।"

"वसंत, छात्रों में आरंभिक आवेश अधिक होता है।"

"क्या तुम भी अपना नाम वापस ले रहे हो ?"

"नहीं।"

"मैं ही क्यों लूँ ?"

"तुम पढ़ने-लिखनेवाले लड़के हो, मुझसे पढ़ा-लिखा जाता नहीं। छोटी अवस्था में विवाह हो गया। बाल-बच्चे हो गए। पिताजी स्वर्ग-वास कर गए। पढ़ने में रुचि भी नहीं, कोई आवश्यकता भी नहीं। अपना ही काम देखूँगा।"

वसत हँसने लगा।

"हँसने की बात नहीं है। कॉलेज छोड़कर क्या करोगे ? आगे की सीढ़ी देखकर ही पिछला पैर उठाने में बुद्धिमानी है। यह दोषपूर्ण शिक्षाक्रम, इसे छोड़कर फिर दूसरा सर्वगुणसपन्न किसने तुम्हारे लिए रख छोड़ा है ?"

"तुम बड़ा विपरीत तर्क सोच रहे हो आज, मैं समझता हूँ—पहले छात्र होगे फिर शिक्षाक्रम। मैं स्वयम् ही प्राइवेट तौर पर अपना अध्ययन जारी रखूँगा। क्या डिग्री के ही मिलने से शिक्षा परिपूर्ण होती है। पहले समय में यह सब कुछ न था, तो क्या उन दिनो विद्वान् न थे ?"

"पिता के पास नहीं लौटोगे ?"

"नहीं।" दृढ़ता-पूर्वक वसंत ने कहा।

"सच कहो वसंत क्या तुम अपनी भावना में पवित्र हो अर्थात् सच्चे त्याग से वह प्रेरणा हुई है ?"

"तो क्या तुम कोई और कारण उसकी ओट में समझते हो ?"

"मै नहीं विचारता, किसी विशेष स्थिति को छोड़कर, नवयुवक के भीतर त्याग की सच्ची भावना हो सकती है। वह अवस्था ही ग्रहण की है। वह संसार के आकर्षणो पर रीझता है। उनके मिलन और विरह में रागी और द्वेषी बनता है। हाँ अवस्था उसे अनुभव देती है और उसे जब तत्त्व का पता चलता है तब त्यागी बनता है।"

"तुमने विशेष स्थिति को अपवाद दिया है। मुझे उस अपवाद में नहीं समझते ?"

"नहीं।"

"अत्याचार हो सकता है यह तुम्हारा। तुम मेरे सखा हो। मेरी दुर्बलताएँ तुमसे छिपी नहीं। पर तुम्हें उदार होकर अपने मित्र का उजला पक्ष देखना चाहिए।"

"हुआ वसंत, तुम्हारा लीला से अनुराग। मैं इसे कुछ भी बुरी बात नहीं समझता। यह एक प्राकृतिक सत्य है। फूल में रंग और रूप, मधु और गंध इसी लिए रचे गए हैं कि भौंरा आकर्षित हो। अनुराग में निराशा कोई संज्ञा नहीं है—शुद्ध अनुराग में।"

"तुम तत्त्वज्ञानी होते जा रहे हो, देखता हूँ।"

"मनुष्य यदि बोलना कम कर दे तो उसका स्वभाव ही तत्त्वज्ञान का है।"

"गीता-पाठ कर रहे हो क्या आजकल ? अठारहों अध्याय, पूरे ?" क्षीण हँसी के साथ वसंत ने कहा।

"तुम्हें कोई रोकता है या वह ज़ब्त पुस्तक है। सुनो, तुम लीला के अनुराग में विफलसंकल्प हुए हो, इसलिए तुम्हें कॉलेज नहीं छोड़ना चाहिए। अपने वृद्ध पिता के ढुलकते हुए वार्धक्य की तुम टेक हो, उन्हें छोड़ आए, पाप किया।"

"मैं निकाला गया हूँ न ? तुमसे कुछ छिपाकर नहीं कहा।"

"तुमने ऐसी बात कर दी जिसका कभी उन्हें विचार ही नहीं हुआ था। मैं इसे तुम्हारा ही छोड़ना कहूँगा।"

"मैं पिता की सेवा का भाव मन में रखता हूँ।"

"तो जाओ, अभी लौटकर उन झुर्रियों से भरे पैर में सिर रक्खो। उनसे क्षमा माँगो। उनकी आत्मा का हर्ष तुम्हारा आशीर्वाद बनेगा।"

"अभी नहीं प्रमोद, मित्र ! मुझे कुछ कर दिखाने दो। मैं तुम्हारे पास आश्रय खोजने नहीं आया हूँ।"

"फिर क्या करोगे अब ? लीला को भूल सकोगे ?"

"प्रयत्न करूँगा ?"

"सच कहते हो ?"

"हाँ, धरना कितने बजे से देना है ? आठ से ?"

"यही दुर्बलता की बात है। मैं तो समझता हूँ, बहुत थोड़े छात्र वहाँ जावेंगे। जो जावेंगे, मूर्ख बनेंगे।"

"तुम कितने बजे जाओगे ?"

"कुछ ठीक नहीं।" कहकर प्रमोद ने वसंत को शौच-स्नान के लिए भेजा।

दोनों ने चाय पी। फिर आठ बजेतक बातचीत हुई। प्रमोद ने वसंत को और भी समझाया। कोई फल न निकला। साढ़े-आठ बजे प्रमोद ने साइकिल में अपना नौकर कॉलेज भेजा, वहाँ की स्थिति देखने को। नौ, सवा-नौ बजेतक वह लौट आया। नौकर ने वापस आकर कोई विशेष उत्साह का समाचार नहीं सुनाया। प्रमोद के बड़े आग्रह पर वसंत ने उनके यहाँ भोजन किया।

प्रमोद बोला—"जबतक तुम्हारी स्थिति ठीक नहीं होती, तुम्हें मेरे यहाँ खाना ही पड़ेगा।"

"स्थिति ठीक ही है। गणेशगंज में मेरे पहचान के एक सज्जन हैं। वह अपने नए मकान में एक-दो कमरे किराए पर मुझे दे देंगे। मैं अपने हाथ से भोजन बनाऊँगा, बर्तन और कपड़े स्वयम् ही धोऊँगा। खाने-पीने का सामान समीप ही मिल जावेगा। लकड़ी-कोयला, साग-सब्जी अपने हाथों से ही ले आऊँगा। नल मकान में है ही। बिजली भी, लेकिन मैं बिजली न लूँगा।"

"यह सब कर सकोगे ?"

"क्यों नहीं ?"

"ऐसे छोटे काम में समय नष्ट कर तुम कर क्या दिखाओगे ?"

"काम कोई भी छोटा नहीं। व्यर्थ दूसरे के छिद्रान्वेषण, निंदा और स्तुति में समय नष्ट करने से अपना काम करने में कुछ भी बुराई

नहीं है। अधिक पारिश्रमिक मिलनेवाले कामों को तुम बड़ा बताते हो, न जाने क्यों? क्या उसमें उत्पन्न होनेवाला लोभ हमारे हृदय के पवित्र भावों को मलिन नहीं कर देता?"

दोनों कॉलेज गए। यहाँ जाकर पता चला, हड़ताल करनेवालों का मुख्य नायक बीमार है। लड़के कहते थे—"नायक टूट गया या तोड़ लिया गया। उसकी बीमारी केवल बहाना-मात्र है।" उसने डॉक्टर का सर्टिफ़िकेट भी भेज रक्खा था। लड़के कहते थे—"उसकी रिश्तेदारी है डॉक्टर के साथ। यह काग़ज़ का टुकड़ा कल्पना से रँगा हुआ है।"

उपनायक ने नायक का काम सँभाला। पर उसमें बात ही वह न थी। नायक की तेजस्विता ही सैनिकों में चमककर एक शक्ति प्रकट कर देती है। तभी एक के ध्वंसावशेष पर दूसरा निर्माण होता है। नायक में तेजस्विता थी और वह उपनायक, एक छोटे दिल का मनुष्य; मन, वाणी और कर्म के तीनों धरातलों पर दुर्बल!

बहुत थोड़े-से लड़कों ने साथ दिया। उनमें भी अधिकांश थे, क्रीड़ाप्रिय, ध्वंस में आनंद लेनेवाले, मन के अननुकूल शिक्षा के विषय ग्रहण किए हुए, जिन्हें पुस्तकें भारी थीं। उनमें भी कुछ पुलिस के भय से भाग गए। कॉलेज में हाजिरी कर छुट्टी दे दी गई, चार दिन की। नोटिस बोर्ड में यह सूचना लटकी—"कालेज खुलने पर जो विद्यार्थी दरजे में उपस्थित रहेगा, उसने यदि हड़ताल में खुला भाग भी लिया होगा तो उसका कोई अपराध न समझा जावेगा। जो विद्यार्थी उस दिन अकारण ही अनुपस्थित रहेगा, उसकी ही अपराधियों में गिनती होगी और वह विद्यालय से निकाल दिया जायगा। किसी भी अंतर्गत कॉलेज में वह कभी प्रवेश न पा सकेगा।" कुछ हड़तालियों ने यह नोटिस पढ़कर टूट जाने का निश्चय किया।

कॉलेज बंद हो जाने के कारण, हड़ताल करानेवाले छात्रों का वहाँ कोई काम न रहा। वह सब दिशा-विदिशाओं में विभाजित हुए।

नायक ने संध्या-समय फिर एक विशाल सभा के आयोजन का विज्ञापन लिखा और तुरंत ही उसे छपाने के लिए प्रेस में गया।

प्रमोद अपने घर को जाने लगा, वसंत ने विचार किया कहाँ जाऊँ ? प्रमोद ने कहा उससे—"मेरी राय मानो, घर जाओ और सोमवार को कॉलेज खुलने पर जाना वहाँ।"

"तुम भी यही करोगे ?"

"मेरी स्थिति दूसरी है। तुम जानते ही हो, मुझे अपने घर का प्रबंध करना आवश्यक है, नौकरी करनी है नहीं किसी की। मैं तो वैसे भी कॉलेज छोड़ता ही। एक अच्छे उद्देश्य के आवरण में छोड़ दिया, अच्छा है।"

"संध्या-समय आओगे न मीटिंग में ?"

"अवश्य ही। बात न मानोगे ?"

"अपने हित-अनहित का विचार रखता हूँ मैं भी, प्रमोद।"

"कौन कहता है नहीं। शाम को मेरे ही यहाँ आना। मीटिंग में साथ-साथ जावेंगे।"

"अच्छी बात है।" वसंत जाने लगा था।

"अभी चलो न ?"

"नहीं, एक जगह आवश्यक काम है।"

"इक्के के लिए पैसा है पास में ? धूप तेज़ है।"

"धन्यवाद। पैसा है।" दोनों हाथ जोड़कर वसंत ने कहा।

दोनों मित्र एक-दूसरे से विदा हुए। वसंत अमीनाबाद आया। शर्माजी के एक मित्र जनरल मर्चेंट थे वहाँ। नीचे दूकान थी उनकी और ऊपरी मंज़िल में वह अपने परिवार-सहित रहते थे। अच्छा काम चलता था। चार-पाँच नौकर थे दूकान में। अपने भी वह बैठते थे वहाँ नियम-पूर्वक। एक मकान पुराना उन्होंने पिछले साल गणेशगंज में ख़रीदा था। उसे तोड़कर नए नक़शे और नमूने पर उन्होंने दूसरा मकान बनवाया है, किराये पर देने के विचार से। जगह

अच्छी है।

वसंत उन्हीं के पास पहुँचा। वह भोजन करने के लिए गए हुए थे। उनका लड़का मिला। वह वसंत के ही दरजे में पढ़ता था। हड़तालियों मे शामिल नहीं हुआ था। पिता के लौट आने तक वसंत उसी के साथ बातचीत करता रहा।

लड़का बोला—"हड़ताल की सफलता की अब कुछ भी आशा नहीं। सोमवार को तुम भी आ जाओगे दरजे में?"

"नहीं।"

"आश्चर्य है। पिताजी से क्या काम है तुम्हारा?"

"गणेशगंजवाले मकान के बारे में बातचीत करनी है। तैयार हो गया है न वह, किराये में देंगे न उसे?"

"हाँ थोड़ा बहुत काम शेष है। किराए के लिए कई लोग आए तो हैं। तुम्हारे किसी मित्र को चाहिए?"

पिता भोजन कर आ पहुँचे थे। वसत को देखते ही बोले—"कहो शर्माजी, क्या समाचार? सुना है, तुमने भी हड़ताल की है।"

वसंत चुप रहा।

उन्होंने फिर पूछा—"पिताजी से पूछकर?"

वसंत फिर चुप रहा।

वह फिर कहने लगे—"तुम समझदार आदमी हो। भले आदमी के लड़के, शीलवान् हो। लड़को की ऐसी उजड्डता में शामिल हो गए? बताओ क्या फल निकला। झक मारकर फिर जाना पड़ा न कॉलेज?"

"जिन्होंने समझ-बूझकर पैर बढ़ाए हैं, उनमें कुछ भी लज्जा होगी तो वे न जावेंगे अब भी।"

"हैं!" सेठजी ने चश्मे के लेंस के नीचे से वसंत को देखा। उन्होंने वसंत के साथ विवाद में पड़ना उचित नहीं समझा। विषय बदल दिया—"कैसे आए आज, पिताजी आनंद-पूर्वक हैं न? बहुत

दिनों से दर्शन नहीं हुए उनके।"

नौकर ने उनके दस्तख़त करने के लिए दो वी० पी० की रसीदें सामने रक्खीं।

सेठजी ने पूछा—"बिल्टी है ? किसकी ?"

"साबुनवाले की।"

"लिखा नहीं तुमने उसको बिल्टियाँ बैंक के मार्फ़त भेजे।" दस्तख़त कर दिए उन्होंने। "दूसरा क्या है यह ?"

"रजिस्ट्री।" कहकर नौकर ने वे दोनों रसीदें सँभाली और दो रेल की बिल्टियाँ उनके दस्तख़तों के लिए और बढ़ाईं।

दस्तख़त कर सेठजी फिर वसंत की ओर प्रमुख हुए।

वसंत उदास मुख कुछ सोचने लगा था, बोला—"आपका मकान किराए पर उठ गया ?"

"हाँ, तहसीलदार साहब ने ले लिए दोनों सेट्।"

"कौन तहसीलदार साहब ?"

"फ़ैज़ाबाद से आनेवाले हैं। अगली पहली तारीख़ से उन्हें पेशन हो जायगी। क्यों किसके लिए आवश्यकता पड़ी ? तुम्हें।"

"नीचे जो दूकानें हैं उनसे मतलब है मेरा।"

"एक तरफ़ की तो दे दी। एक पण्डितजी है, बनारस-पास। अपना औषधालय खोलेंगे वह उसमें। दूसरे तरफ़ की माँग तो रहे हैं कई लोग। पर कोई अभीतक मेरी समझ में आता नहीं। नोटिस देकर निकालने से पहले ही मैं मनुष्य की जाँचकर लेना चाहता हूँ कि वह इतना परिश्रमी और ईमानदार है या नहीं, जो अपनी उन्नति के साथ-साथ समय पर मेरा किराया चुकाता जाय।"

"यदि मैं उसका प्रार्थी हूँ तो क्या आप मुझे परिश्रमी समझेंगे, ईमानदार हूँ मैं ?"

"तुम ? क्या करोगे उससे ?"

"कोई धंधा करूँगा।"

"कोई धंधा करोगे तुम ? अच्छी बात है। पिताजी ने ऐसी अनुमति दे दी ?"

"दे देंगे समय आने पर।"

"क्या कोई दूकान खोलोगे ?"

"नहीं, कोई काम करूँगा।"

"क्यों, नौकरी पसंद नहीं ?"

"नहीं।"

"अब वैसी नौकरियाँ रक्खी भी तो नहीं। कहीं हड़ताल-कमेटी का दफ़्तर तो नहीं खोलोगे तुम वहाँ ?"

"नहीं, मैं हड़ताल-कमेटी के कर्त्ता-धर्त्ताओं में से नहीं हूँ।"

"अच्छी बात है, तुम्हारे पिताजी से मिलने पर मैं बातचीत कर लूँगा। मुझे तुम्हें किराए में दूकान दे देने में कुछ भी आपत्ति नहीं है। तुम्हारे जैसा पढ़ा-लिखा और शीलवान् व्यक्ति मेरी उस दूकान के लिए दूसरा मिल भी न सकेगा।"

"मैं अभी आपसे निश्चय करने आया हूँ। वैद्यजी से क्या किराया तय हुआ ?"

"सवा सौ रुपया साल ? क्यों मुनीमजी !"

मुनीमजी ने अपने मलाई जैसे गंजे सिर पर उँगलियों की पोरें घिसीं और दूसरे हाथ में की लेखनी की पूँछ से कान के ऊपर की खुजली मिटाई। बोले—"जी हाँ, यह उनका इक़रारनामा रक्खा है।"

सेठजी बोले—"दोनो दूकानों में एक-एक सोने का कमरा, रसोई-घर, सेहन, पानी का नल आदि सब बराबर हैं। बिलकुल एक-से ही। एक सेट् का जवाब दूसरा। स्थिति भी दोनों की एक-सी ही है।"

"किराया भी फिर उतना ही होगा। मुझे स्वीकार है। लाइए एग्रीमेंट कर दूँ।"

"उसकी ऐसी क्या जल्दी है। हो जायगा। पिताजी से कह देना, जब संध्या-समय वह घूमने को आवें तो इधर ही से वापस जावें।"

वसंत के मुख से कोई शब्द ही नहीं निकला। "हाँ-हूँ" कर बोला—"चाबी दे दीजिए दूकान की।"

"चाबी मुंशीजी के पास है, वहीं रहते हैं वह। क्यों मुनीमजी! मुंशीजी आए थे आज?"

मुनीमजी ने लिखते-लिखते उत्तर दिया—"हाँ सफ़ेदे का टीन कम पड़ गया था। चौदह पौंडवाला ख़रीद कर ले गए एक।"

"एक चिट लिख दीजिए उनके लिए।"

"चिट से क्या होगा। तुम पहचानते ही हो उन्हें, मेरा उल्लेख कर कहना। चाबी दे देंगे वह।" सेठजी ने कहा।

मुनीमजी बोले—"संध्या-समयतक वह यहाँ फिर आवेंगे।"

सेठजी कुछ नहीं बोले इस पर। वसंत उनसे विदा होकर सीधा गणेशगंज पहुँचा, मुंशीजी से मिला। वह ख़ूब अच्छी तरह पहचानते थे वसंत को। वसत ने उसकी सेठजी के साथ जो बातचीत हुई थी, वर्णन की।

मुंशीजी ने कहा—"चाबी दे देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर अभी रंग लगना बाक़ी है। ऊपर की मंज़िल में अभी लग रहा है।"

"रंग लगाते रहना। मेरा कुछ हर्ज न होगा। जब तुम्हारी इच्छा हो।"

"बात पक्की कर आए तुम सेठजी से?"

"हाँ पक्की ही समझो।"

"अँगरेज़ी दूकान खोलेंगे?"

"अभी कुछ निश्चय नहीं।"

मुशीजी ने चाबी का गुच्छा निकाला जेब से, उधर जाते हुए बोले—"चलो, मैं खोल देता हूँ।"

वसंत उनके साथ-साथ जाते हुए बोला—"मुंशीजी यह चाबी निकालकर मुझे दे दीजिए। दो-चार दिन बाद जब मै अपना ताला ले आऊँगा तो यह लौटा दूँगा तुम्हें।"

सेठजी के लड़के के साथ एक दिन पहले देख चुका था वसंत उस मकान को। ढाँचा तैयार हो गया था। द्वार जड़े जा रहे थे चौखटों में, दीवारों पर टीप-पलस्तर हो रहा था। वसंत को यह मालूम न हो सका था तब कि भगवान् ने पिता का घर छुड़ाकर उसका आश्रय इस मकान की कुछ दीवालों से घेर रक्खा है।

मुंशीजी ने दूकान खोली। बाहर दो दर दूकान की थीं, उसके भीतर एक लंबा-चौड़ा कमरा, उसके बाद सेहन था और फिर रसोईघर। एक मनुष्य की छोटी गृहस्थी की सब सुविधाओं का ध्यान रखकर वह सेट् बनाया गया था। वसंत को ख़ूब पसंद आया।

मुंशीजी से चाबी लेकर जब वसंत उस ख़ाली घर में ताला दे रहा था, तो जैसे वह बड़े भारी भार से त्रस्त हो उठा—कैसे वह इस शून्यता को भर सकेगा? उसने विकल होकर चाबी जेब में रक्खी और बटुवा निकालकर फिर पास के पैसे गिने—कुल जमा थी—साढ़े दस आने! वह उखड़े हुए पगों से चारबाग़ की ओर जाने लगा। कदाचित् माता की करुणा का भिखारी होकर। उसका साहस फिर लौट आया, वह सोचने लगा—"मैं आडंबर नहीं बढ़ाऊँगा। मैं नितांत आवश्यकता से अपना निर्वाह करूँगा, उसके लिए चाहिए क्या? लोभविहीन श्रम। भोजन की समस्या का अग्नि के त्याग से सुलझाऊँगा। दाना एक बार पक चुका बाल पर। बड़े धीमे ताप में, सूर्य की किरणों ने उसे कई-कई दिन में पकाया। एक बार हमारी जठराग्नि में वह पकता है। मैं नहीं समझता एक बार फिर उसे पकाने की ऐसी क्या आवश्यकता है? प्रकृति के स्वाद को बिगाड़कर यह जिह्वालोलुपों ने अपने रस के नए आदर्श की कल्पना की। इन्होंने भूमि को अपनी पाटुता, वन को अपनी हरीतिमा और आकाश को अपनी नीलिमा से रँगा।"

वसंत अपनी ही धुन में चला जा रहा था। वह अपने घर की दिशा बदलकर लाटूश रोड पर आ गया। रेल के स्टेशन का पुल पार

कर वह जेल की ओर जानेवाले एकांत मार्ग पर हो लिया। जो भी उसे इस समय वहाँ देखता अवश्य ही उसे पागल कहता, तेज़ धूप में निरुद्देश्य, अधिक पैदल चलने का अनभ्यस्त, कहाँ चला जा रहा है वह ?

एकाग्रता में, भाव के अतिरेक में, चिंता और प्राण-संकट में, आकर्षण और विकर्षण में बहुधा हमें ऋतु के द्वंद्व नहीं व्यापते। वसंत का विचार चल रहा था—"आधुनिक भोजनशास्त्री भी कहते हैं कि आँच पर शाक-अन्न और फल-फूल के पोषक तत्व जल जाते हैं और वे उतने गुणकारी नहीं रहते। इस अग्नि पर पका खाने के अभ्यास ने प्रत्येक गृहस्थ में एक अनावश्यक विभाग की रचना की। जिसके चूल्हे ने तमाम विटेमिनों के साथ-साथ हमारे जीवन का—विशेषतः महिलाओं के जीवन का एक बहुत बड़ा भाग भस्म कर दिया। अनेकों का स्वास्थ्य भी। क्या अच्छा होता यदि रसोईघर का बवाल न होता, तो वे स्त्रियाँ अन्य किसी उपयोगिता में अपना समय लगातीं।"

बहुत दूरतक जाकर अचानक वसंत लौट चला। "एक मित-व्ययिता है एकाहार की। भारत की सभ्यता का अधिकांश एकाहार की रीढ़ पर बनना चाहिए। प्राचीन भारत में एकाहार बहुत प्रचलित था, इस समय के भारत की आर्थिक स्थिति भी एकाहार माँगती है। मैं नहीं जानता शरीर का उपयोग करनेवाले की आवश्यकता, मन से काम लेनेवाले के लिए तो एकाहार स्फूर्तिदायक है। शरीर को हलका रखकर वह बड़ी देरतक की एकाग्रता प्रदान करता है।" इस प्रकार भाँति-भाँति के सोच-विचारों में पड़ा वसंत रेल का पुल पारकर नगर की ओर आया। मुसाफ़िरख़ाने के पार्श्व के मार्ग से आगे को बढ़ा।

आने-जानेवाले यात्रियों की भीड़-भाड़ को देखकर उसने कलाई की घड़ी पर समय ज्ञात किया—"देहरा एक्सप्रेस आई है, जान पड़ता है।" नीची दीवार पर एक घनी छाया पड़ी थी। वसंत ने वहाँ

पर विश्राम करने का निश्चय किया। वह बैठ गया। "सबसे विकट प्रश्न यही है, कार्य कौनसा आरंभ करूँ। प्राइवेट ट्यूशन, कई जगह मिल सकता है। पर यह मेरे आदर्श के विरुद्ध बात। जिस शिक्षाक्रम को विष-भरा समझकर मैंने पढ़ने का त्याग किया अब उसी के लिए क्या छात्र तैयार करता फिरूँ ? धिक्कार है ऐसी जीविका पर ! मेरी शिक्षा का कोई अन्य आदर्श हो भी तो प्रयोग करने के लिए मुझे कौन अपने बालकों का समय दे देगा। वे सब डिग्री के पागल, विद्या और विकास, ये शब्द उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखते। फिर क्या करूँ ?" उसने अपना एक पैर दीवार पर रक्खा। पास पड़ा हुआ एक पत्ता उठाकर उससे जूते पर लगी हुई मिट्टी खुरचने लगा। "पाखंड और केवल दिखावे से भरा हुआ हिंदू-समाज ! यह ज़ोर-ज़ोर से की गई शंख-ध्वनि और मंत्र-पाठ को वंदना, मतलब से दिए जानेवाले धन को दान, मनुष्य की घृणा को आचार और स्वादु भोजन को व्रत कहता है। काम कोई भी छोटा नहीं, यदि उसके अंतराल में रहनेवाली, मनुष्य की नीयत साफ और उदार है तो।" उसने इधर से उधर जानेवाले कुलियो को देखा, ठेलेवालों को, इक्केवालो को, खोमचेवालों को देखा। उसके मुख से बिना प्रयास ही निकल पड़ा—"मैं भी मज़दूरी करूँगा। मज़दूरी की जय !"

"मैं भी मज़दूरी करूँगा, क्या मज़दूरी करूँगा ?" वसंत दीवाल पर से उठा।

ख़ाली इक्का जा रहा था एक। इक्केवाला बोला—"अमीनाबाद बाबू !"

वसंत ने कहा—"नहीं भाई ! पैदल ही जाऊँगा।"

"तीन ही पैसे दे देना। जा ही रहा हूँ।"

वसंत ने जेब के बटुए को टटोलकर कहा—"नहीं।" उसके मुख में, तप्त-तप्त, धूलि-धूसरित मुख में क्षीण हँसी थी।

इक्केवाला फिर स्टेशन की ओर चल दिया, इक्के को मोड़कर।

वसंत ने अपना विचार पकड़ा—"क्या मज़दूरी करूँगा ? इन सब मज़दूरों का भाईचारा है। वे जब मेरे मुख और वेश पर दृष्टि डालेंगे तो अवश्य उन्हें संशय होगा। वे कहेंगे, पढ़ा लिखा भी कहीं मज़दूर होता है ? वे अपने बीच में मुझे धँसने न देंगे। साग-भाजी का ठेला रख लूँ एक ? वह शारीरिक शक्ति माँगता है ?" और भी न जाने क्या-क्या काम वसंत ने सोचे, पर किसी पर उसका मन जमा नहीं। वह धीर प्रगति से अमीनाबाद आया और सेठजी के पास पहुँचा।

सेठजी ने बड़े रूखे भाव से कहा—"क्यो ?"

"चाबी ले आया हूँ मुशीजी से।"

सेठजी मन-ही-मन मुंशीजी से नाराज़ हो विचारने लगे—"बड़ा मूर्ख है यह मुंशी। विना मेरी अनुमति के ही चाबी दे दी उसने। उन्होंने वसंत की बात का कोई उत्तर नहीं दिया।

बात यह हो गई थी। वसंत के जाने के बाद, सेठजी को वसंत के मकान किराए में लेने के बारे कुछ अधिक जिज्ञासा हो गई। टेलीफोन पास ही रक्खा तो था ही। उन्होंने उसे उठाकर वसत के पड़ौस में रहनेवाले इजीनियर साहब के कान में कहा—"मुझे शर्माजी से कुछ बाते करनी हैं। यदि आप उन्हें फोन पर बुला देंगे तो बड़ी कृपा होगी।"

फोन पर उनसे बातचीत करने पर सेठजी को यह मालूम हुआ कि वसत ने पिताजी से लड़कर घर छोड़ दिया, कॉलेज भी। वह वसंत को किराए पर अपना मकान दे सकते हैं, पर उसके किराया दे सकने, न दे सकने का उत्तरदायित्व उन पर रंचमात्र न होगा।

सेठजी ने कहा'—'पिताजी से क्यो लड़े वसंत ?"

वसंत—"नहीं तो।"

"झूठ बात।"

"सच बात।"

"कौन कह गया आपसे ?"

"विश्वस्त सूत्र से ज्ञात किया, रात कहाँ थे तुम ? अपने घर पर ? "

"नहीं।"

"फिर ?"

"नहीं, यह न पूछिए। यह निश्चय जानिए, मान और मर्यादा से घिरे हुए स्थान पर ही था।"

"क्यों घर क्यों नहीं गए ?"

"कॉलेज छोड़ देने के कारण, पिताजी ने रुष्ट हो मेरे लिए घर के द्वार बंद कर लिए, यह कोई चिंता की बात नहीं समझता हूँ मैं। उससे मेरे भीतर स्वावलंबन का भाव और भी दृढ़ रूप से पनपेगा।"

सेठजी ने वसंत की भाव-गति, बोलचाल से एकत्र किया, यदि यह लड़का संगति के कुचक्र में न पड़ा तो अपने निश्चय में दृढ़ रह सकेगा। उन्होंने कहा—"तब तुम्हें अपने मकान की चाबी न दूँगा मैं इससे तुम्हारे पिता के साथ की मेरी मित्रता कुंठित हो जायगी। वह कई बरसों की है। हमने बार-बार स्वार्थ और अहंकार के थपेड़ों से बचाकर उसको जारी रक्खा है। हम नहीं चाहते कि संसार से निष्क्रांत होते समय हम उसे यूँ ही छोड़ दें।"

"नहीं, चाबी न दूँगा। आप उसे दे चुके हैं। और मेरे मन में कोई कपट न होगा। बल-पूर्वक उसे ले लेने का भी मेरा कोई अधिकार नहीं। यदि आपने मुझसे चाबी ले ली तो इसका अर्थ यही होगा; आप, जगत का छाया अनुभव नहीं हुआ है, जिसे ऐसे एक नवयुवक को भटक जाने के लिए छोड़ देंगे।"

सेठजी ने विचारा, ठीक कहता है लड़का। अपना श्रम करना चाहता है, नौकरियाँ भी अब कहाँ रक्खी हैं उतनी। कुछ दिन देख क्यों न लिया जाय। क्रोध के आवेश में पिता की समझ ढक गई। मुझे उनका हित विचारना चाहिए। एक पिता से बिछुड़े हुए पुत्र को और

भी दूर कर पिता को जगत की हँसी का पात्र एवम् बुढ़ापे में असहाय न बना देना चाहिए। वसंत से कहा उन्होंने—"दे सकोगे किराया ?"

"हाँ।"

"समय पर ?"

"हाँ दूँगा समय पर। अर्थात् ?"

"साथ ही न सही, तो दो या तीन क़िस्तों में।"

"हाँ, दूँगा पर अभी पेशगी देने में असमर्थ हूँ।"

"हाँ, हाँ, एक, दो.....तीन महीने बाद सही। लिखकर दे सकोगे ?"

"अवश्य। मैंने तो तभी कहा था।"

"अच्छा लिखो, चार-चार महीने के अंत में किराए की क़िस्त नियमपूर्वक अदा करूँगा।"

मुनीमजी ने काग़ज़-क़लम दिए।

सेठजी ने कहा—"इस बात को भी मुनीमजी बहुत साफ़ और खुले शब्दों में लिखा लो कि उस दूकान में हड़ताल आदि किसी कमेटी का दफ़्तर नहीं खोला जायगा।"

वसंत ने एक इक़रारनामे में काट-छाँट और काग-पद अधिक हो जाने के कारण दूसरा लिख दिया। एक घर के मालिक हो जाने की प्रसन्नता के साथ जाने लगा।

सेठजी ने कहा—"तुमने भोजन और विश्राम का क्या प्रबंध किया है ?"

"हो जायगा, कुछ-न-कुछ।"

"खाना पकाने के बर्त्तन और ओढ़ना-बिछौना है कुछ ?"

"जोड़ लूँगा, धीरे-धीरे।"

"मुनीमजी, याद करके मुंशीजी से कह देना कि इनकी दूकान के लिए, इनके विश्राम को एक तखत, एक मेज़ और एक कुर्सी का प्रबंध कर दें। गोदाम में हैं वहीं।"

मुनीमजी ने नोट किया।

वसंत धन्यवाद के हाथ जोड़कर जाने लगा।

सेठजी ने फिर कहा—"मुशीजी ने आपको जोड़ा दिया चाबी का?"

"नहीं केवल एक।"

"ठीक है, दूसरी चाबी से कमरा खोलकर वहाँ इन चीज़ो को वह रख भी देगे। मुनीमजी आज ही। एक लालटेन भी।"

मुनीमजी ने वह भी नोट की। वसंत विदा हुआ। प्रमोद के यहाँ को।

दोनो मिलकर सभा में गए। उपस्थिति साधारण थी और उपस्थितो में उत्साह केवल नाम-मात्र का। आज वसंत कुछ न बोला वहाँ। उसके मन में कुछ और ही बात समाई हुई थी। किसी प्रकार सभा का कार्यक्रम समाप्त हुआ।

प्रमोद ने लौटते हुए वसत से कहा—"जबतक कहीं तुम्हारा ठीक-ठीक ठौर-ठिकाना नहीं हो जाता, मेरे ही यहाँ रहो। तुम्हारी कुछ भी स्वतंत्रता अपहृत न होगी। एक कमरा तुम्हें बिलकुल अलग दे दूँगा।"

"कह तो चुका हूँ न मैं तुमसे कि मकान का प्रबंध कर आया हूँ।"

"केवल मकान से ही क्या होगा? आवश्यक चीज़ों से परिपूर्ण करते-करते उसे महीनो लग जावेंगे।

"जो वृत्ति मैं धारण करने जा रहा हूँ, उसमे तुम्हारी सहायता व्रत लगा देगी।"

"दो चार दिन रहो अच्छा यहाँ। मेरी तुमसे कुछ आवश्यक बाते करने की इच्छा है।"

"बातें हो जावेंगी संध्या के अंततक।"

"मेरी समझ में आता है, तुम कोई दूकान कर लो।"

"मूलधन उसके लिए?"

"मैं दूँगा।"

"मैं उधार लेना नहीं चाहता।"

"मेरी पत्नी समझ लेना। श्रम तुम्हारा रहा, पूँजी मेरी।"

"मित्र, मैं अपने ही विचार का अनुसरण करना चाहता हूँ। दो विचारों में यदि कभी सामंजस्य न हो सका तो हमारी मित्रता पिस जायगी बीच में!

प्रमोद चुप हो गया कुछ देरतक के लिए।

वसंत ने स्तब्धता तोड़ी—"स्पष्ट बोलना कठिन उद्योग है। उसके लिए आशा है, तुम मुझे क्षमा कर दोगे। मैं तुम्हारे अनुरोध को आदर दूँगा और आज की रात तुम्हारे अतिथि होने का सौभाग्य प्राप्त करूँगा—"

"अधिक तुम्हारी सहायता की प्रेरणा से मेरा प्रस्ताव था। तुम सम्मत न हो तो न सही।"

बहुत सी बातें उनकी हुईं, वे अधिकांश में संबद्ध थीं वसंत के इस नवीन जीवन से ही। रात बीतने पर, वसंत जब भोजन कर कुछ बातें फिर कर चुका था, उसने विश्राम करने से लिए मित्र से विदा ली।

वसंत ने तकिए पर सिर रक्खा। उसे नींद कहाँ? उसने लैंप की रोशनी निर्वापित कर दी। वर्षा में नदी के धरातल पर उठते-तैरते और फूटते हुए बगूलों की भाँति उसका मन अधिकृत था। उसने फिर करवट बदलकर विचारा—"मेरे नए जीवन की यह दूसरी रात है, मित्र पर भार तो है नहीं इसका, फिर भी मुझे नहीं रुच रहा है यह। मेरा मन रह-रह कर अपनी उस दूकान की शून्यता में ही खिंच रहा है। नींद न आवेगी मुझे किसी प्रकार!"

वसंत उठ बैठा। उसे याद था, मेज़ पर लैंप के निकट ही एक सिगरेट् की डिबिया के पास ही एक दियासलाई की डिबिया रक्खी हुई है। उसने टटोला, सिगरेट् की डिबिया उसके हाथ आई, उसने घबराकर जैसे जलता हुआ कोई अंगारा हो, उसे मेज़ पर ही छोड़ दिया।

दियासलाई खोज ली उसने—लैंप प्रकाशवान् किया। बत्ती कुछ कम की।

सिगरेट् की डिबिया फिर उसके हाथ को खींचने लगी। वसंत शय्या छोड़कर भूमि पर आ गया। उसने कहा—"धिक्कार है मुझे!"

वह कमरे का द्वार खोलकर बरामदे में आया। प्रमोद के कमरे में प्रकाश था, बिजली का। स्विच ख़राब होने के सबब ही वसंत को लैंप मिला था। वसंत ने द्वार खटखटाया—"प्रमोद! मै जा रहा हूँ मित्र!"

"कहाँ?"

"अपने मकान को।"

"क्यो?" प्रमोद ने उठकर द्वार खोले। वह बाहर आया।

वसंत उस समय सड़क पर चला गया था। जाते-जाते उसने कहा—"कमरा बंद कर लेना अपना।"

प्रमोद हक्का-बक्का रह गया। वसंत बड़ी तीव्रता के साथ आगे बढ़ गया था। उसकी स्त्री ने भीतर कहा—"क्यों क्या बात हो गई?"

"चल दिया उठकर वसंत! कुछ सनकी-सा हो गया है यह।" प्रमोद ने कमरे में जाकर लेप की बत्ती नीचे को सरका दी और द्वार बंद कर बाहर से ताला दे अपने कमरे में आ गया।

स्त्री ने उत्कंठित होकर पूछा—"क्या रिसा गए कुछ?"

"नहीं तो।" द्वार बंद कर प्रमोद ने शय्या की शरण ली और उलटे हुए उपन्यास को फिर, जहाँ से टूटा था, पढ़ने के लिए टटोलने लगा।

"फिर?"

"मुझे भय है कहीं यह पागल न हो जाय।"

उसकी पत्नी, बालक जाग उठा था, उसे थपकियाँ देने लगी।

दूसरा परिच्छेद

पॉलिशवाला

शर्माजी ने देवकी से कहा—"कहाँ जाओ कहती हो तुम मुझ से ? वह लड़का उच्छृंखल हो गया। उसके पीछे-पीछे पागल की भाँति मै नहीं भटक सकता। तुम समझ लो हमारे कोई सतान ही नही हुई। हुई; मर गई ! यह कुछ भी असंभव बात नहीं है। संसार की क्या सभी माताएँ पुत्रवती हैं ?"

देवकी फिर रोने लगी—"कैसा अमगल आप कह रहे हैं। कुछ भी तो तुम्हारे दया नहीं।"

"उस पर दया ? अत्यंत कठोर होगी। मुझे अपनी ओर खिचा देखकर क्या वह विनत होगा ? कभी नहीं। उसे ढीठ हो जाने के लिए और भी अधिक बल मिलेगा।"

"मै यह नहीं कहती कि तुम जाकर उसे मना लाओ। केवल देख आओ,उसके खाने-पीने का,उसके सोने-जागने का प्रबंध, उसने संतोष-जनक किया है या नहीं ?"

"कह तो चुका हूँ मैं तुम से। अमीनाबाद के सेठजी का मकान उसने किराए पर लिया है गणेशगज में। सुंदर नया मकान है।"

"एक इक्का कर लो। मै वसंत का ओढ़ना-बिछौना, उसके कपड़ो का ट्रंक निकाल देती हूँ। सेठजी को दे आना वह उसे वसंत के पास पहुँचा देगे।"

"यह सब कुछ मुझसे न होगा।" शर्माजी ने कहा, बड़ी व्यथा के साथ। ऐसा जान पड़ता था, जैसे उनका क्रोध बहुत-कुछ शात पड़ गया है। वसंत की चीज़ें उसके पास पहुँचा देने की उनकी इच्छा थी, पर उनके मुख से निकल पड़ा—"नहीं।"

"तुमसे स्वयम् जाने को कहाँ कहती हूँ।"

"मिश्रजी के लड़के के मार्फत भेज दो।"

देवकी ने मन में सोचा, ठीक तो है, बोली—"पूछ लाना, उसने अपने खाने-पीने का क्या प्रबंध किया है।"

शर्माजी ने जाने का निश्चय किया। संध्या हो रही थी। उन्होने कहा—"मेरा अँगौछा लाओ।"

देवकी प्रसन्न हो गई, समझ गई, वह जावेंगे। बोली—"कुरता भी बदलोगे?"

"नहीं, ठीक तो है, कल ही तो बदला था।"

देवकी अँगौछा लेने गई, शर्माजी ने जूता पहना। देवकी के आने की आहट सुनते ही उन्होने कहा—"मैं भूल गया था। सिरहाने से मेरा बटुआ भी।"

देवकी दोनो चीज़े ले आई।

शर्माजी—रक्खो, तखत पर, पहले मेरे हाथ धुला दो।

देवकी ने चिलमची और पानी का लोटा लाकर वहीं पर उनके हाथ धुला दिए। हाथ पोंछने को तौलिया भी वह न भूली थी। शर्माजी ने विचारा, बेटे के दुःख ने माता को तत्पर, कर्त्तव्यपरायण और विनम्र बना दिया है। वह अमीनाबाद को चले।

देवकी ने द्वार बंद करते हुए कहा—"आलू रक्खे हैं, मैंने ले लिए थे परसों ठेलेवाले से, तुम लाना नहीं।"

सेठजी दूकान में ही मिल गए। बड़े तपाक से मिले, बोले—"मैं स्वयम् आपके ही यहाँ आने का विचार कर रहा था। पर एक के बाद दूसरी झंझट दूकान की लगी ही रहती है। मुनीमजी पान मँगा देना, बिराजिए।"

शर्माजी ने उनके निकट ही आसन ग्रहण किया।

"शरीर तो सानंद है?"

शर्माजी ने आहत हँसी हँसी—"कुछ नहीं। किसी प्रकार यात्रा के ये अंतिम पग पूर्ण करने हैं। बेटे की कथा सुना ही चुका हूँ आपको।"

"हवा ही ऐसी चली है। नया रक्त है, नया जोश। पर आपको बिलकुल शांति से काम लेना चाहिए। बिगाड़ को सुधारने का ध्यान होना चाहिए न कि उसे और भी कुरूप कर दिया जाय।"

"वसंत आया था फिर?"

"हाँ।"

"क्या कहता था?"

"कहता क्या था। मैंने दे दी दूकान उन्हें किराए पर। इक़रार-नामा कर गए वह।"

"किराया निकल सकेगा उससे?"

"यह भगवान् जानें। पर कोशिश वह पूरी करेंगे, ऐसा प्रकट होता था।"

"ठीक नहीं किया आपने। मैं समझता था दस-पाँच दिन बाद वह इधर-उधर ठोकर खाकर आ जायगा मेरे द्वार पर। आपने आश्रय दे दिया उसे।"

"जो कुछ हो गया, वह हो गया। मैंने किराए पर उन्हें मकान दिया है। उसे आश्रय नहीं कह सकते, जिस प्रकार सौदे की बिक्री दान नहीं कहलाती।"

"क्या करने का विचार है उसका?"

"अभी कुछ मालूम नहीं। जान पड़ता है, कोई उन्हें दूकान खोलने के लिए रुपया देने को तैयार है। गोपाल बाबू तो नहीं?"

"ऊँहूँ। सबके अंत में।"

"क्यों? हम तो सुनते थे वह अपना लड़की वसंत को विवाह में देनेवाले हैं।"

"एक अफवाह, कोई सत्य नहीं।"

"नहीं जी।"

"मै कहता हूँ न। मुझसे अधिक और कौन इस बात पर कुछ कह सकेगा।"

"अच्छा ?"

"हाँ। गोपाल बाबू ने वसंत का उस प्रकार कॉलेज छोड़ देना बिलकुल पसंद नहीं किया।"

"फिर कोई और करता होगा सहायता।"

"खाने-पीने की क्या व्यवस्था कर रक्खी है उसने ?"

"अभी कुछ मालूम नहीं। आप निश्चिंत रहिए, मुझसे जो भी हो सकेगा करूँगा।"

"अपने ही अंग का भाग है। कुछ क्रोध का आवेश आ ही गया था मुझे। पंचभूतों का समूह ही तो ठहरा न मैं ?"

दूकान की झंझटों में सेठजी को अधिक व्यस्त देखकर शर्माजी ने उनसे विदा ली। नैवेद्य ख़रीदा। दीपक जल चुके थे। हनूमानजी के मंदिर में जाकर फूल-माला और मिष्ठान्न चढाया। कुछ देर हाथ जोड़े हुए खड़े रहे मंदिर में। प्रसाद लेकर लौट चले, मस्तक पर सिंदूर की बिंदी लेकर।

पार्क की एक एकांत बेंच में बैठे रहे बड़ी देरतक। विचार था आठ बज जावे तो चलें। तबतक वसंत भी अपने नए मकान में आ जावेगा। उसको, पिता के बंधन से उच्छिन्न वसंत को, वह देखना चाहते थे एक नए निवास में रहने का उसका क्या ढंग है।

पार्क की घड़ी ने आठ बजाए, और सवा-आठ हो जाने दिए उन्होंने, तब वह घर की ओर चले। गणेशगंज के निकट आए। पैर काँपने लगे उनके। सेठजी का घर दिखाई देने लगा उन्हें। हृदय स्पंदित हो रहा था तीव्र गति में। यदि वसंत मुझे देख ले तो क्या वह मेरे चरणों पर गिरेगा ? असंभव नहीं है कुछ। उस लड़के में विनय की मात्रा अधिक थी। इधर कुछ ही महीनों में वह ढीठ हो गया। मुझे अवश्य ही यहीं क्षमा कर देना होगा उसे। यदि उसने मुझे देखकर दृष्टि फिरा ली तो, मैं उसके कान पकड़कर घर की ओर खींच ले चलूँगा। इक़रारनामा फाड़ दिया जायगा। सेठजी मान जावेंगे, और

किसी और को किराए में दे देंगे। अच्छा मकान, अच्छी स्थिति पर है, कौन न ले लेगा उसे ?

पर जब शर्माजी कुछ निकट आए तो उन्होंने देखा, दूकान में अँधेरा है। और समीप आए तो देखा, बाहर से ताला लगा। वसंत उस समय प्रमोद के यहाँ था। कुछ क्षण वहाँ पर खड़े रहकर शर्माजी घर की ओर बढ़ गए।

घर जाकर देखा, एक इक्केवाला इक्के पर से कुछ सामान उतार रहा है। समझे कोई अतिथि आया है। घर के भीतर पैर रखने पर मिश्रजी का लड़का मिला। बोला—"वसंत दद्दा नहीं मिले मुझे गणेशगंजवाले मकान में। उनका ट्रंक और बिस्तर लेकर भेजा था मुझे चाचीजी ने।"

"भली चलाई उसकी, ज्ञात नहीं कहाँ है।"

सामान भीतर रखकर लड़का चला गया।

शर्माजी ने देवकी से कहा—"कैसी जल्दी मच जाती है तुम्हें। उसका ठौर-ठिकाना देख लेतीं तब भेजती सामान।"

"उस मकान में नहीं आया वह ?"

"सेठजी कहते थे किराए पर लिया तो है उसने।"

"कष्ट में नहीं है वसंत ?"

"देखने में ही नहीं आया वह।"

"आप गए ही न होंगे उसके पासतक।"

"ताला पड़ा था उस घर में।" कहकर उन्होंने रूमाल दिया देवकी को।

"रूमाल खोला देवकी ने, फूल-बतासे थे उसमें महाबीरजी के मंदिर के। उसने एक फूल को सिर पर रख लिया अपने। हाथ जोड़कर बोलीं—"महाबीरजी, मेरे बच्चे की रक्षा करो। वह तुम्हारी शरण है। जिस दिन वह अपने घर लौट आवेगा, मैं तुम्हारी सेवा न भूलूँगी।"

"लो यह तंबाकू की पत्ती है, रख देना।" कहकर शर्माजी ने देवकी को एक काग़ज़ में लपेटी हुई तंबाकू दी। "पानी है न लोटे में।" जनेऊ हाथ में खींचकर उन्होंने कहा।

देवकी बोली—"गोपाल बाबू आए थे अपनी कार पर। दो-तीन बार उन्होंने सड़क पर से भौंपू बजाया, फिर द्वार भी खटखटाए। कुछ उत्तर न मिलने से चले गए।"

"अभी हो आता हूँ उनके यहाँ।"

शौच से निवृत्त होकर शर्माजी उनके यहाँ गए।

"आपने बड़ा कष्ट किया, कोई आवश्यक काम था क्या? मैं था नहीं घर पर।"

गोपाल बाबू ने कहा—"वसंत के समाचार जानने को आया था। केमिस्ट्री विभाग के एक प्रोफ़ेसर मिले थे मुझे। वसत उनका अनुगृहीत शिष्य है। वसंत के इस प्रकार पढ़ना-लिखना छोड़ देने के कारण उन्हें भी आतरिक दुःख हुआ है।"

"आपने उनसे कहा होगा कि वह उस लड़के को समझा दे।"

"कहा। पर उनकी वसंत से भेंट ही नहीं हुई। हड़ताली लड़को के बीच में उन्हें जाना स्वीकार है नहीं। वसंत हैं कहाँ?"

"कुछ पता नहीं।" कहकर शर्माजी ने सेठजी के मकान का उल्लेख किया।"

"प्रोफ़ेसर साहब कह रहे थे, कॉलेज ने सोमवारतक लौट आनेवाले प्रत्येक छात्र को क्षमा दे देने की घोषणा की है। इस बीच मे यदि वसंत की उनसे भेंट हो जाती तो वह अपने प्रभाव का उपयोग करते। उन्हें तो पूरा विश्वास है, लड़का मान जावेगा।"

"देखिए, कल को मै पूछताँछ कर आपको उत्तर दूँगा कि वह कहाँ मिल सकेगा। आप एक चिट्ठी लिखकर उसे अपने यहाँ बुला लीजिए न। चिट्ठी मैं उसके पास भिजवा दूँगा।"

"नहीं, यह ठीक न होगा।"

शर्माजी लौट आए घर। संध्या और भोजन के उपरांत जब विश्राम करने लगे, तो देवकी ने फिर वही निक-तिक लगाई।

ऊबकर शर्माजी बोले—"तुम तो यह समझ रही हो, जैसे मेरी उस पर कुछ भी ममता नहीं है। अब इस रात्रि के अंधकार में बिना किसी सूत और पते के किस मार्ग से जाने को कहती हो तुम मुझसे ?"

"मेरा वसंत ! वह कभी एक दिन के लिए भी मुझसे नहीं बिछुड़ा था। कल से उसने खाया भी या नहीं ?"

"अभी तो मौज कर रहा होगा मित्र-मंडली में। हाँ, दस-पाँच दिन बाद जब वह ऊब उठेगे तब पता चलेगा।"

"प्रमोद से उसकी अच्छी मैत्री है, वहाँ भी आपने पूछताँछ नहीं की। मौडल हौस में रहता है वह।"

"एक मैं कहाँ-कहाँ चला जाता। अनुमान तो तुमने ठीक लगाया था। अब कल को देखा जायगा।"

दूसरे दिन सुबह जब प्रमोद खा-पीकर अपनी बैठक मे आया ही था कि उसने बरामदे में से सुना—"पॉलिशवाला !"

भीतर ही से उसने कहना चाहा था कि नहीं। हठात् उसकी दृष्टि एक मैले जूते पर गई। उसने द्वार खोले, जो कुछ देखा, उसे देखकर वह स्तब्ध रह गया !

पॉलिशवाले ने फिर आवाज़ दी—"पॉलिश ! पॉलिश ! जूते की पॉलिश !"

एक रूमाल मे कुछ बाँधे हुए सड़क पर जहाँ से प्रमोद के बरामदे को सीढ़ियाँ आरंभ होती हैं वह खड़ा था। भाव और वाणी की तेजस्विता लिए मार्ग पर चलनेवाले यात्रियो के कटाक्ष और कुलीनता के विचार को कुचलता हुआ वह खड़ा था।

प्रमोद की जब उस पर दृष्टि पड़ी तो वह हँसा और उसने फिर कहा—"पॉलिशवाला !" उसके कहने का ढंग साधारण न था।

प्रमोद ने दुःख की साँस लेकर कहा—"वसंत !"

पॉलिशवाला बोला—"हाँ भाई।"

प्रमोद ने कहा—"लोग क्या कहेंगे वसंत !"

"यदि मेरा श्रम निर्दोष होगा तो लोगों की ज़रा भी परवाह न करूँगा। जूता है पॉलिश करने को, लाओ निकालो।" कहता हुआ वसंत बरामदे में एक ओर को बैठ गया भूमि पर, उसने अपना रूमाल खोलकर रख लिया अपने सामने।

रूमाल में दो बुरुस थे, दो पॉलिश की डिबियें, काला और गहरा लाल। एक झाड़न था और था एक नरम कपड़ा पॉलिश करने को सब के अंत में।

प्रमोद यह सहन न कर सका, झट से भीतर ले चलने लगा वसंत को, पर वह न माना—"यहीं पर ठीक है। पॉलिशवाले को यहीं पर जगह मिलती है। मै इस पेशे की किसी परपरा को न तोड़ूँगा, तुम कृपा कर वैसा करने को बाध्य न करोगे मित्र।"

प्रमोद ने भीतर से एक कुरसी निकालकर बाहर रक्खी—"अच्छा इस पर बैठो।"

"नहीं, इस पर भी नहीं। आदर और सत्कार मित्र ! नहीं; मैंने कल रात, उन सबकी इच्छा मिटा दी। सारी रात मैंने जागते हुए काटी। जीवन के लिए मै अपने, कोई श्रम विचार ही नहीं सका। प्रभात के सुहावने समय मे, जब मेरी पलकें नींद से नहीं, दुर्बलता से शिथिल, गिरने लगीं। खुली हुई खिड़की से, सूर्य की बाल किरणों ने मेरे छोटे तमसावृत्त कक्ष मे प्रकाश भर दिया। कोने में रक्खे हुए मेरे जूते पर मेरी दृष्टि पड़ी।"

प्रमोद, वसंत के स्पष्ट-विस्तर वर्णन में ऐसा निमग्न हो गया जैसे किसी कुशल गायक के गीत की मोहनी पड़ गई।

"मानो उसके आधे दर्जन आँख के जोड़े दया भरकर मेरी ओर देखने लगे और उसने कहा—'मैं दूँगा तुझे श्रम वसंत !'—एक बिजली

की सी झलक में मुझे कुछ दिखाई दे गया। मैंने भार-मुक्त होकर शय्या छोड़ दी। शौच और स्नान से निवृत्त होकर मैं बैठ गया।"

"ऐसे ही पड़ रहे होंगे भूमि पर ?"

"नहीं सेठजी ने कृपा कर एक तखत, दरी, कंबल, लालटेन और एक लोटा-गिलास वहाँ रखवा दिए थे। तुम कृपा कर जूता ला दो, काम भी होता जायगा और बातें भी।"

"पागल हो गए हो क्या ?"

"मैं बहुत सोच-विचार कर सब से पहले तुम्हारे पास आया। जीवन के पहले दिन की पहली बोहनी को तुम अपनी मंगल-कामना से आरंभ करा दो। मैं इसी विश्वास को लेकर तुम्हारे पास बैठा हूँ।"

"कैसा गंदा काम !"

"मैं तुम्हारा तर्क नहीं चाहता। गंदा काम है तो क्या मैं उन्हीं हाथों से भोजन करने बैठ जाऊँगा ? मैं काम के लिए अपने वस्त्र भी अलग रख लूँगा। पढ़े-लिखे क्या जाल और फरेब की रचना नहीं करते ? तुम उसे गंदा काम नहीं कहते ? समाज में जो दुर्बलों पर सबलों के भाँति-भाँति के अत्याचार आए दिन होते रहते हैं, वही क्या स्वच्छता है ? धर्म के नाम पर अधर्म, प्रकाश की ओट में अंधकार न्याय के आवरण में अन्याय, यह जो हमारे व्यवहारों में समा गया है, यही क्या निर्मलता है ?"

प्रमोद ने मन में विचार किया, बात ठीक तो है, वह भीतर गया और जितने जोड़े थे उसके पास सभी लाकर वसंत के समीप रख दिए। थे छै जोड़े।

वसंत ने वे सभी जोड़े सामने रक्खे। बड़ी तल्लीनता के साथ उसने पहला जूता उठाकर बुरुस से उसमें की धूल झाड़नी आरंभ की। ऐसी प्रीति के साथ मानो वह कोई बड़ी विशिष्ठ वस्तु—कोई रत्न, कोई इष्ट या कोई प्रतिमा है।

प्रमोद ने कहा—"सुबह-सुबह यह पुराने बुरुस तुम्हें मिल कहाँ

गए ? और यह पॉलिश की डिबिएँ—यह भी तो नई नहीं जान पड़तीं।"

"जिस प्रकार चुंबक की सुई, उत्तर खोज ही लेती है, उसी तरह माता ने मेरे निवास का पता पा लिया। मिश्रजी का लड़का प्रातःकाल ही मेरा ट्रंक, बिस्तर, कुछ आवश्यक बर्त्तन लिए आ पहुँचा मेरे पास। माता ने मेरा सेफ़्टी का सेट् और जूते की पॉलिश का सामान भी भेज दिया। वह इस बात को ख़ूब जानती है वसंत माथे पर चंदन लगाने का इतना आदी नहीं है जितना चमकदार जूता पहनने का अभ्यस्त।"

"अच्छा श्रम ढूँढ़ा वसंत तुमने ? क्या रोज़गार खोजा ?"

"पूँजी पर ध्यान नही दिया तुमने। हर एक वस्तु घटाई-बढ़ाई जा सकती है। आरंभ बहुधा महत्वपूर्ण नहीं होता। एक तिल पर दूसरा तिल रख देने से अविलंब में ही ताड़ को छू सकता है।"

"बी० एस्सी० तक की पढ़ाई यह काम आई तुम्हारे ?"

"पढ़ाई तो केवल परीक्षा पास करने की एक भूमिका है। परीक्षा पास की और वह शब्दो का भार पटक दिया विस्मृति की शून्यता मे। वह किसी के काम नहीं आई।"

स्वच्छ श्वेत टाइलों के ऊपर वसंत ने जूतो को एक कतार में सजा रक्खा था, गणित की रेखा में। वे काले और रक्तकृष्ण जूते ऐसे दिखाई दे रहे थे मानो पियानो पर की काली चाबियाँ ! एक के बाद दूसरा जूता उठाकर वह उसकी धूल-गर्द, कीचड़ के धब्बे मिटा रहा था, एक कलाकार की उन्मुक्त चाल मे, बहुत दिनों की साधी हुई।

अभीतक प्रमोद खड़ा-ही-खड़ा उससे बातें कर रहा था। वसत ने अपने काम को इतना मनोरंजक बना लिया था कि प्रमोद उसके निकट ही बैठ गया। तत्क्षण ही वसंत उठा, बोला—"नहीं यह न होगा।" वह झट से कमरे में जाकर कुर्सी खींच लाया। "बैठो इसमें।"

कुर्सी रिक्त ही रह गई। प्रमोद न बैठा उसमें, कहने लगा—"साफ़ है, अभी सुबह तो नौकर ने धोया है इसको।"

पड़ोस में बनर्जी बाबू रहते हैं। उनके पिताजी, बूढ़े हैं, कलकत्ते से अभी हाल ही में आए हैं। सड़क पर जा रहे थे। प्रमोद की दृष्टि पड़ी उन पर, प्रमोद ने हाथ जोड़कर कहा—"नमस्कार!"

"नोमोश्कार! पंडितजा!" एक पॉलिशवाले को वहाँ पर नियुक्त देखकर उन्होंने अपने जूते की ओर देखा। हाथ की लाठी से उसको धीरे धीरे बजाकर उसकी धूल झाड़ी फिर बरामदे में चढ़ गए।

प्रमोद ने कुर्सी उनकी ओर बढ़ा दी और स्वयम् उठ खड़ा हो गया।

"अमारा जूते को भी पॉलिश दरकार है। पर हिंयाँ तो पूरा जूतो का एक बटालियन रक्खा हुआ है।" बंगाली सज्जन लौटकर जाने लगे।

प्रमोद ने आग्रह किया—"पहले आपके ही जूते में पॉलिश हो जायगा। आप बिराजिए थोड़ी देर।"

पॉलिशवाला भी बोला—"हाँ लाइए, आपको कहीं को देर हो रही है?"

"हाँ बंक जाना है, चेक तुड़ाने के वास्ते।" उन्होंने पैरों से ही खोल दिया जूता, फुल स्लीपर था।

"पहले आप ही का काम कर दूँगा।" वसंत उनका जूता उठाकर उसे साफ़ करने लगा।

बंगाली महाशय बोले—"कितना पयशा लेगा?"

"दो, वही आम रेट है।"

"अच्छा, अच्छा जल्दी करो, खूब अच्छा आइना के जितना चमका दो।"

"हाँ साहब, अभी लीजिए।"

"एक टाँका इधर उधड़ गिया हय, जूते की मरम्मत नेई करता?"

"धीरे-धीरे सब कुछ करूँगा।"

प्रमोद ने कहा—"अभी नया ही काम आरंभ किया है।"

वसंत दत्तचित्त अपना काम कर रहा था। बंगाली सज्जन की दृष्टि

खींच ली थी उसने।

प्रमोद ने हँसते हुए कहा—"आदमी दक्ष है अपने काम में।"

वसंत बोला—"इमर्सन या गटे ने—"

"अरे दादा !" बंगाली सज्जन कुर्सी छोड़कर उठ खड़े हो गए। कहने लगे—"अरे दादा ! हम समझता था यू० पी० का हिन्दुस्तानी लोग केवल खाना और नाक बजाना जानता हय। साहित्य और कला के वास्ते उनका हृदय में अनुराग नेई ! हियाँ का बूट बॉय गेटे और इमर्सन को कोट करता हय। बड़ा ताज्जुब का बात। कलकत्ते में तो शब जड़-मूर्ख है। खैनी खाता और कुली का काम करता हय।"

प्रमोद बोला—"यह पढ़ा-लिखा है।"

"हाँ यही तो बोलता हूँ हियाँ का जूते में पॉलिश करनेवाला भी पढ़ा-लिखा है।"

"सब नहीं है। यही है ऐसा। समय और दुर्भाग्य का मारा हुआ।"

"क्यों भाई, क्या तुम्हें कोई और काम नेई मिला ?"

"मैंने ढूँढ़ा ही नहीं, यही काम पसंद है मुझे ?"

"माता पिता हॅय।"

"हाँ।"

"तुमने अपनी बात पूरी नेई की।"

"यही लिखा है, उन्होंने कि मनुष्य शोभित है श्रम से, श्रम की श्री है कला, और कला उज्ज्वल हुई है चरित्र से, सच्चाई से।"

सहज-भावुक बंगाली सज्जन बोल उठे—"बेश बोलेछे, बेश बोलेछे ! कि चोमोत्कार ! सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् !"

इसके पश्चात् प्रमोद ने उन्हें वसंत की सब कथा सुनाई। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वसंत एक ब्राह्मण का लड़का है तो उन्हें बड़ी ग्लानि हुई, क्यों इसे जूता पॉलिश करने को दिया। उन्होंने उसके पास से जूता छीन लेना चाहा। पर उसमें पॉलिश हो चुकी थी। जूता पहनते हुए बोले—"कलिजुग के ब्राह्मन ! तू आर्य संस्कृति का मस्तक

था। तू अपने ज्ञान से श्रेष्ठ, तप से उज्जल और त्याग से पवित्र था, आज तेरा यह पतन हुआ कि तू दो पयशा के वास्ते लोगों के जूते रगड़ रहा हय।" वह जाने लगे, वसंत को हँसते हुए दो पैसे देकर।

वसंत ने उन्हें धन्यवाद देते हुए कहा—"देखिए, कर्म कोई भी दोष से रहित नहीं। नीच से नीच कर्म भी, यदि उसके उद्गम में विचार और भाव की शुद्धि है, तो हमें ऊँचा उठा ले जा सकता है। मनुष्य का निर्माण कर्म नहीं, उसका विश्वास करता है।"

"तुम वर्न की व्यवस्था को नेई मानता ?"

"मानता हूँ एक सामाजिक। केवल ब्राह्मण का कर्म होने से यदि हृदय और मन वैसा ही न हुआ तो मै उस व्यवस्था को कल्याणकारक नहीं समझता।"

"होने सकता है। फिर कभी तुमसे बातचीत होगा।" कहकर वह चले गए।

"तुम बड़ी दया के पात्र-से दिखाई दे रहे हो वसंत ! जान-पहचान के लोग क्या तुम से कहेंगे और क्या तुम्हारे पिताजी से। वे ज़रूर यह समझेंगे कि पिता ने पुत्र को घर से निकाल दिया।"

"मैं कहूँगा, मैंने अपनी इच्छा से ही यह काम आरभ किया है।" वसंत ने छहो जोड़ो में पॉलिश कर ली थी। अंतिम बार उन पर वह एक नरम कपड़े से चमक चढ़ा रहा था।

"हो गया अब क्या श्रम कर रहे हो ? ख़ूब चमक उठे हैं। अब खाना यही खाकर जाओगे।"

"नहीं मित्र। मैने प्रतिज्ञा की है मै अपने ही यहाँ आज से खाना खाऊँगा। इससे मुझे कर्म की स्फूर्ति मिलेगी।"

"तुम पका सकोगे खाना ? समय नष्ट होगा।"

"समय का मैंने बहुत स्वल्प मूल्य रक्खा है। इसलिए वह नष्ट न होगा। दामो पर बल न देकर यदि हम कर्म से ही युक्त रहें तो समय कभी नष्ट न होगा।"

"राख, धुआँ, कोयला !"

"जब पॉलिशवाले का जीवन ग्रहण किया है तो फिर कालिमा का क्या भय ? तुमने वह कहावत नहीं सुनी—निबिड़ कालिमा पर ही प्रदीप्त प्रकाश है। इस काले जूते में देख रहे हो न कैसा प्रकाश प्रतिफलित है। जो नहीं हो सकता, अभ्यास उसे प्रिय बना देता है।"

"वसत ! तुम्हें उचित था सब से पहला जूता तुम अपने पिता से माँगते।"

"ठीक, यही विचार आया था मेरे पास भी। किंतु तुम जानते हो, उन्हें कभी-कभी अकारण ही बड़ा क्रोध आ जाता है। यदि मेरा यह छोटा पेशा उन्हें भड़का देता, तो फिर मेरा सारा जीवन नष्ट हो जाता। जाऊँगा अवश्य उनके पास।"

"लो सिगरेट् पियो।" कहकर प्रमोद ने उसकी ओर डिबिया खोलकर बढ़ाई।

"नहीं।"

"हाथ धो लो।"

"नहीं कैसे ही न पियूँगा।"

"आश्चर्य है, कल राततक तुमने मेरे साथ पी थी।"

"रात ही को मैंने छोड़ दिया इसे।"

"निश्चय है दृढ़।"

"हाँ।"

"छोड़ सकोगे ?"

"भगवान् की कृपा का यदि विश्वास हो जाय तो शत-प्रति-शत आशा करता हूँ।"

"नहीं छूटती भाई। मैं तो एक सौ बार छोड़ने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। वर्ष के नए दिन को भी और जन्मदिन के नए प्रभात में भी। प्रतिज्ञा कर तोड़ देने से अच्छे वे हैं जो कोई प्रतिज्ञा ही नहीं करते। झूठी प्रतिज्ञा से इच्छा-शक्ति दुर्बल पड़ जाती है ऐसा कहते हैं।"

"इच्छा-शक्ति बढ़ती है आत्म-सूचन से।"

"क्या हुआ आत्म-सूचन ?"

"अँगरेज़ी में ऑटो सजेशन कहते हैं जिसे। कुछ भी कह लो शब्द मे क्या रक्खा है ?"

"कितने साल से पीते हो तुम ? स्कूल में तो नहीं पीते थे न ?"

"नहीं, प्रकट में नहीं, छिपे-छिपे।"

"मैं भी तो स्कूल में ही दक्ष हो गया था। सिर पर पिता थे नहीं। अच्छी चीज़ नहीं है। ज्ञात नही इतनी प्रिय कैसे हो उठी यह ? कुछ विचार को सघन करती है पढ़े-लिखों के, कुछ श्रांति हरती है यह शरीर के काम करनेवालो की। मेरी मित्रता के साथ इसका अमल मेरे सहपाठी से मुझे मिला।"

"मैंने यह सीखा अपने घर ही से।" वसंत ने चारो जोड़े पूर्ण कर अपने सामने पूर्ववत् रख दिए थे।

"तुम्हारे पिताजी पीते हैं। उन्हीं की डिबिया में से चुराई होगी।"

"नहीं, वह सुरती खाते हैं, चूना मिलाकर और पान में। मैंने अपने जीवन में उन्हें सिगरेट् पीते कभी नहीं देखा। सुना है, जब वह नौकरी में थे, तब पीते थे।"

"फिर ?"

"गोपाल बाबू के सत्कार के लिए हमलोग एक डिबिया अपने यहाँ लाकर रखते थे। उसी में से एक सिगरेट् निकालकर प्रयोग आरंभ किया, नवें दरजे में था मैं। निषिद्ध पदार्थ एक अद्भुत आकर्षण रखते हैं।"

"तब से बराबर पीते हो ?"

"नहीं, उस दिन कै हुई, सिर दर्द हुआ, चक्कर आए, फिर छुई नहीं बहुत दिनोंतक।"

"मुझे याद नहीं क्या हुआ था।"

"फिर इच्छा हुई थी कि ऐसी निकृष्ट वस्तु का स्पर्श भी न करूँ। पर लाचारी थी गोपाल बाबू के लिए निकालनी पड़ती थी। गोपाल बाबू जब उसे कमरे में पीते थे तो फिर धीरे-धीरे उसकी गंध मेरे मन में बस गई। मैं सोचता था, गोपाल बाबू जब पीते हैं तो सिगरेट् कोई बुरी वस्तु न होगी। फिर एक सिगरेट् संध्या को घूमने जाते समय मैं निकाल ले गया। पहले प्रयोग में बड़ी ज़ोर से सिगरेट् का धुँवा खींचा था, एकदम असर कर गया। इस बार हलकी चुसकी खींची, कुछ बुरा नहीं ज्ञात हुआ।"

"फिर आदी हो गए ?"

"हाँ, ऐट्रेस पास करते समय प्रकट में भी पीता था। कॉलेज में भरती होने पर तो ख़ूब।"

उसी समय गोपाल बाबू की मोटर उस सड़क पर से होकर गई। वसंत ने पहचानकर कहा—"गोपाल बाबू।"

प्रमोद ने समर्थन किया—"हाँ, कैमिस्ट्री के हमारे प्रोफ़ेसर भी हैं साथ में।"

"होंगे। छोटे काम की बड़ाई की पहली शिक्षा मुझे इन्हीं से मिली थी।"

"मेसन हैं न।"

"हाँ, वैसे पिताजी घर पर छोटे काम की महिमा गाते हैं अवश्य, पर मेरे जूते की पॉलिश करना उन्हें असह्य हो उठेगा।"

कैमिस्ट्री के प्रोफ़ेसर पैदल आते दिखाई दिए। प्रमोद ने कहा—"यहीं को आ रहे हैं, शायद हमें देखकर यहीं पर मोटर में से उतर पड़े। हड़ताल के बारे कोई शोध लेने।" उसने कुर्सी बढ़ा दी, उनकी ओर, वहीं आता देखकर प्रणाम किया।

वसंत ने भी उठकर उनकी वंदना की।

कुर्सी पर बैठकर उन्होंने कहा—"क्यों वसंत, रात यहीं थे क्या ?"

"नहीं।" वसंत ने क्षीण मुसकान के साथ कहा।

"घर पर तो नहीं थे।" निश्चय के साथ प्रोफ़ेसर साहब बोले।

"आपसे किसने कहा?"

"मालूम है मुझे।"

"गोपाल बाबू ने कहा होगा। आप उन्हीं की मोटर में जा रहे थे अभी।"

इस बात को टालकर प्रोफ़ेसर बोले—"जूतों में पॉलिश करने का कोई विशेष योग है क्या आज?"

"हाँ।" वसंत ने कहा—"आपको भी आवश्यकता हो तो लाइए, निकालिए जूता।"

प्रोफ़ेसर के पैर हटा लेने पर भी जब वसंत ने उनके जूते का बंधन खोल दिया तो वह चकराए। कुछ दाल में काला तो उन्हें आते ही स्पष्ट हो गया था, जब उन्होंने असाधारण संगति में वसंत को देखा था—भूमि पर, आसन-विहीन, पलथी मारकर वह बैठा हुआ था, घुटनों तक की ज़ीन की पेंट और एक स्वच्छ श्वेत कमीज़ वह पहने था, आधे बाँह की। उसका नंगा सिर, रूखे केशों में सुबह उनपर की गई कंघी के अंक पड़े थे। उसके एक पार्श्व में औंधा मुँह किए हुए एक थैला। जिसके निकट बुरुस, रुमाल और पॉलिश के डिब्बे थे।

प्रोफ़ेसर विचार की एक अजीब उलझन में फँस गए जब उन्होंने टाट के थैले पर पड़े देखे!—दो लगातार पीढ़ी के राजाओं के मस्तक-अंकित ताम्रखंड!

प्रोफ़ेसर वसंत के विचार के वेग को पा सके। वह जब कुरसी छोड़कर भागे थे तब उनके एक पैर का जूता वसत के हाथ में आ गया था। जुराबवाले पैर को लँगड़ाकर वह वसंत के हाथ से अपना जूता छीनने लगे—"दरजे में इतना शिष्ट वसंत!"

"बाहर इतना उजड्ड।" वसंत ने जूता पीठ की ओर किया।

"नहीं, बाहर भी ऐसे न थे तुम, कॉलेज की हड़ताल के बाद ही इस प्रकार यह डिसिप्लिन को चोट पहुँचाई गई।"

"प्रोफ़ेसर साहब, कॉलेज का भीतरी भाग वाह्य प्रदेश से भिन्न होना चाहिए। डिसिप्लिन की चढ़ी भौंहें बाहर भी शासन करें, यह छात्र के विकास का घातक है। बाहर एक धरातल पर—यही तो हमारे विग्रह का एक कारण है।"

"इतनी कार्य-परिणत हँसी तुम्हें नहीं करनी चाहिए।" प्रोफ़ेसर ने दूसरा पैर भूमि पर टेक दिया।

"भगवान् जानते हैं, हँसी, नहीं कर रहा हूँ। आपके जूते को पॉलिश ज़रूरी हो गया।"

कुछ आँखे दिखाकर उन्होने कहा—"लाओ जूता, मैं तुम्हारे पास तुम्हारे ही हित के लिए आया था। पर देखता हूँ, ईश्वर को कुछ और ही स्वीकार है। लाओ जूता।"

"प्रोफ़ेसर साहब, मैं बिलकुल हँसी के मूड में नहीं हूँ। रोटी के प्रश्न के समान गंभीर हूँ मै। यदि मेरा विश्वास न हो तो आप प्रमोद से पूछ सकते हैं।" वसंत ने करुणा-गंभीर स्वर में कहा। उसकी आँखों के कोनों में अधिक प्रकाश प्रतिफलित होने लगा था।

प्रमोद प्रोफ़ेसर के कान में कुछ धीरे-धीरे कहते हुए उन्हें बरामदे की एक ओर को ले चला। वसंत अपनी जगह पर बैठकर जूते को साफ़ करने लगा।

कुछ देर प्रमोद की बातें सुनने पर प्रोफ़ेसर ने कहा—"इसका दिमाग़ तो ख़राब नहीं हो गया!"

"मेरे विचार में नहीं।"

"इसकी भी तो कई दशाएँ हैं। यह यदि पागल नहीं हो गया है, तो उसकी आरंभिक अवस्था में है।" प्रोफ़ेसर ने माथे पर हाथ फेरकर कहा।

दोनों वसंत के निकट आए। पॉलिश लगाकर वह जूते को चमका रहा था। अत्यंत प्रसन्न और संतुष्ट होकर। दोनों चुपचाप वसंत के सामने खड़े हो गए। वसंत ने उनको चुप देखकर उनकी ओर ताका और कहा—"बड़ा नीच पेशा है, क्यों प्रोफ़ेसर साहब!"

प्रोफ़ेसर चुपचाप उसका निरीक्षण कर रहे थे।

"समय और श्रम अधिक लगाकर जिसके बदले में बहुत थोड़ा द्रव्य मिले वही तो नीच पेशे की परिभाषा हुई न? और समय तथा श्रम कम लगाकर बहुत अधिक द्रव्य मिले वह उच्च पेशा हुआ न? लाइए, दूसरा जूता दीजिए।"

"क्या हो गया तुम्हें वसत?" कुर्सी पर बैठ वसंत के कुछ निकट होकर उन्होने कहा।

"हुआ तो कुछ भी नहीं। केवल मैंने एक चली हुई रूढ़ि को तोड़कर उसके ऊपर से नया मार्ग निकाला है।" कहते हुए वसत ने उनके पैर से दूसरा जूता भी खोलकर निकाल लिया और उस पर पॉलिश करने लगा।

कुर्सी के पास फ़र्श पर प्रमोद की पी हुई सिगरेट् की राख थी। प्रमोद ने पैर मारकर उसे मिटा दिया।

प्रोफ़ेसर ने कहा—"क्या आशा थी हमें तुमसे वसंत!"

"यही कि मोटे-से-मोटे वेतन पर यह हाथ मार लेगा।"

"बिलकुल यही नहीं।"

"फिर?"

"वैज्ञानिक—रसायनिक विज्ञान के अनुसंधान में तुम्हारे मस्तिष्क का उपयोग।"

"वह क्या अब नहीं हो सकता?"

"नहीं हो सकता—वैसी सुविधा तुम्हें कहाँ मिलेगी?"

"मिल जायगी, यदि भगवान् की कृपा होगी तो।"

"विज्ञान एक गणित का सत्य है, उसमें भक्ति मार्ग नहीं चलता।"

"तक मैं अवश्य कहूँगा प्रोफेसर साहब आपको न विज्ञान, न भक्ति, दोनों में से किसी का भी रहस्य ज्ञात नहीं है।"

"यह सब मूर्खता छोड़ो।" प्रोफ़ेसर ने वसंत के हाथ से बुरुस छीनकर दूर फेंक दिया।

वसंत उसे उठा लाया, कहने लगा—"इस प्रकार किसी की जीविका से परिहास करना उचित नहीं है प्रोफ़ेसर साहब। आप तर्क से मुझे पराजित कीजिए।" बुरुस की धूल पोंछकर वह दूसरे जूते को साफ़ करने लगा।

"अगर तुम अभी पागल नहीं हो तो शीघ्र हो जाओगे। कोई देर नहीं लगती। मैं तुम्हारा हितैषी होकर तुम्हारे पास आया हूँ। कहना मानो, सोमवार को सब लड़कों के साथ कॉलेज आ जाओ। अगले साल मैं तुम्हें बहुत अच्छी छात्रवृत्ति दिला देने में पूरी सहायता करूँगा।" उन्होंने प्रमोद की ओर देखा—"क्यों प्रमोद तुम भी?"

प्रमोद चप्पल में पैर का अँगूठा मोड़ने लगा—"मुझे घर का काम-काज देखना है, मेरा विचार नहीं है अब।"

प्रोफ़ेसर ने अपनी उँगलियों से प्रमोद की कोहनी दबाकर वसंत की ओर भौंहों से संकेत किया।

प्रमोद ने कहा—"प्रोफ़ेसर साहब मैं कब से इन्हें चिता रहा हूँ, प्रत्येक कोण से मैंने इन्हें समझाया। जब मैंने देखा यह माननेवाले नहीं हैं, तो मैंने इस विषय पर इनसे बोलने की सौगंध खा ली।"

प्रोफेसर—"क्यों वसंत, इस प्रकार जीवन नष्ट कर देना तुम्हें प्रिय है?"

वसंत—"यह आपकी दृष्टि है। मैं इसे जीवन का सदुपयोग समझता हूँ। लीजिए, आपका यह दूसरा जूता भी तैयार हो गया।"

प्रमोद—"मैं समझता हूँ, इन्हें कुछ समझाना अपने बल और समय दोनों को नष्ट करना है।"

वसंत, जूता प्रोफ़ेसर के पैर के आगे रखकर बोला—"ठीक कहते हो, एक सच्चे मित्र की भाँति। उसमें मेरा बल और समय भी जावेगा।"

प्रोफ़ेसर ने दूसरा जूता भी पहना। वह उठ गए। "दुःख है वसंत, तुम्हारे मस्तिष्क की मशीनरी ख़राब होने जा रही है।" वह प्रमोद की

बाँह पकड़कर जाने लगे, धीरे-धीरे प्रमोद से बोले—"इनके माता या पिता की पीढ़ियों में कोई पागल तो नहीं है ?"

"नहीं।"

"किसी ने कोई तेज़ चीज़ तो नहीं खिला दी ?"

"मालूम नहीं।"

"प्रोफ़ेसर उतरने लगे सीढ़ियों पर। वसंत बोल उठा—"परिश्रम के दो पैसे तो देते जाइए।"

प्रोफ़ेसर ने इकन्नी जेब से निकाल उसकी ओर फेंक दी, बड़े रूखे भाव से। वसंत ने थैले पर पड़े हुए दोनो पैसे उठाए और दौड़कर उनकी जेब में डाल आया। प्रमोद उन्हें कुछ दूर तक सड़क पर पहुँचाने गया। वसंत ने इतनी देर में प्रमोद के जूते उसके कमरे में रख अपनी चीज़ें थैले में डाल दीं।

प्रमोद लौटकर आया और उसने वसंत को सीढ़ियों के पास जाने के लिए तैयार पाया।

प्रमोद—"जाओगे ही तब फिर, खाना न खाओगे ?"

"नहीं। जूते तुम्हारे कमरे में रख आया हूँ, छुट्टी जोड़े।"

"पैसे ?"

"हाँ।"

प्रमोद कमरे में गया, वहाँ से बटुवा निकाल लाया और एक रुपया वसंत को दिया।

"मेरे पास इसे भुनाने को नहीं हैं।"

"यह पूरा ही रुपया मैं तुम्हें देता हूँ। क्योंकि तुमने बहुत मेहनत की है।"

"मेरे लालच को इस तरह न बढ़ने दोगे। मेरे तीन आने होते हैं। उससे अधिक न लूँगा।" वसंत ने रुपया लौटा दिया।

प्रमोद ने चवन्नी दी। वसंत ने प्रोफ़ेसर साहब की दी हुई इकन्नी उसे लौटा दी। वह बोला—"जीवन के श्रम का यह पहला प्रतिदान, इसकी रक्षा कर रक्खूँगा।"

"लौकेट् बनाकर गले में लटका लेना।"

"मैं इस परिहास पर गंभीरता से विचार करूँगा।" कहकर वसंत सड़क पर उतर गया और नीम के पेड़वाली गली पर लाटूश रोड पार कर श्रीराम रोड का एक टुकड़ा चलकर अमीनाबाद आया, कहाँ जाऊँ, इसी सोच-विचार में। पिताजी को अपना जीवन-प्रवेश दिखाने की उसकी तीव्र इच्छा हो रही थी। पर पॉलिश के लिए जूता माँगने पर यदि उन्होंने जूता खींचकर मार दिया तो—

अमीनाबाद के एक कोने से फेरी लगाने पर भी उसका ध्यान न जमा। "जान-पहचान के लोग तर्क-वितर्क करेंगे, भीड़ जमा कर देंगे मेरे चारों ओर। हिम्मत भी नहीं बँधती, यह सदियों का वंशगत विचार है, जो खुलकर मज़दूरी करने में बाधक है। आज इस समय घर ही लौट चलूँ, खाने-पीने का भी कुछ प्रबंध करना है।"

उसने फिर हिम्मत बाँधी। डाकख़ाने में एक मनुष्य रजिस्ट्री की खिड़की पर रसीद की प्रतीक्षा कर रहा था। वसंत ने उसके जूते पर दृष्टि की, वह मैला था। वसंत ने मन में कहा—"नहीं जानता मेरे मन में फिर यह झिझक क्यों उत्पन्न होती है। नीच काम चोरी करना, झूठ बोलना है। किसी को धोका देना, किसी का विश्वासघात करना है।"

डाकख़ाने के भीतर बाहरी काम से जाने पर कोई झिड़क देगा। यह समझकर उसने सीढ़ी पर ही थैला लिए प्रतीक्षा की। रसीद लेकर वह मनुष्य जल्दी-जल्दी जाने लगा। वसंत उसके मुँह की ओर देखता ही रह गया, उसकी दृष्टि को आकृष्ट न कर सका। जब उसकी पीठ हुई तो बोला, दबे हुए स्वर में—"पॉलिश बाबू जी!"

जानेवाले ने कोई उत्तर नहीं दिया। शायद सुना नहीं।

"नीच पेशा? नहीं विनम्र पेशा। यह नत-मस्तक कर लोगों के चरणों की ओर देखना सिखाता है। मैं के रूप में हमारा सबसे बड़ा शत्रु अहंकार हमारे शरीर में रहता है। उसकी प्रिय और मधुर की इच्छा ही काम है, उस इच्छा की बाधा के समय क्रोध उपजता है और

उसकी तृप्ति होने पर अतृप्ति जागती है—आग को बुझाने के लिए डाली गई घृत की आहुति के समान—वह अतृप्ति ही लोभ है। मेरा अहंकार लोगों के चरणों के नीचे दलित रहेगा। पेट के लिए कर्म कमा सकने पर भी मुझे बुद्धि के लिए उपयुक्त भोजन मिलेगा।"

वसंत ने उस दिन का काम समाप्त कर देना निश्चित किया। वह गणेशगंज में अपने मकान पर लौट आया। माता के भेजे हुए सामान को यथास्थान रखने लगा। जो चीज़ आवश्यकता, निपट आवश्यकता, से अधिक थी, उसने उसका बहिष्कार कर अलग रख दिया।

संध्या-समय मिश्रजी का लड़का एक इक्के में फिर कुछ और सामान लेकर आया। वह वसंत से सुबह उसके भोजन के प्रबंध के बारे में पूछ गया था। उसके अपने हाथ से ही पकाने के विचार पर माता ने कुछ छोटे-छोटे बर्तन भी उसके लिए भेज दिए थे।

उपयोग से अधिक जो वस्तु वसंत को मालूम दी, वह उसने लौटा दी, शेष बिना किसी हठ के उसने स्वीकार की।

मिश्रजी का लड़का जाते समय बोला—"माँजी कहती थीं, संध्या-समय यहाँ आकर मुझसे भेंट कर जाना। अनेक आवश्यक काम हैं।"

"नहीं, आज आना असंभव है।"

"शर्माजी नहीं होंगे घर पर। वह गोपाल बाबू के साथ कहीं जाने वाले हैं।"

"नहीं, कल आने की चेष्टा करूँगा, निश्चय रूप से नहीं।"

"और कुछ चाहिए तो बताइए, माँजी ने पूछ लाने को कहा है।"

"नहीं।" कहते हुए वसंत लड़के के साथ इक्के की ओर तक बढ़ने लगा।

लड़का वहीं पर खड़ा ही रह गया, जैसे धरती पर उसके पैर खिंच गए हों।

वसंत ने उसका भाव जानकर पूछा—"क्यों कुछ और कहना है?"

"नहीं, कहना तो कुछ नहीं है।" अवरुद्धकंठ उसने उत्तर दिया।

"फिर ?"

"माँजी बराबर रोती ही रहती हैं।"

"कह देना उनसे यह दुर्बलता है। व्यर्थ ही आँखे फोड़ देने से किसी को भी लाभ न होगा।"

"तुम्हें इतना कठोर नहीं होना चाहिए वसंतदादा !" लड़के ने अपनी अवस्था से अधिक गंभीर होकर कहा।

"चल रे उपदेशक !" कहते हुए वसंत ने धीरे से उसके सिर में एक चपत लगाया। "तेरी अभी संसार को समझने की बुद्धि नहीं।"

लड़का चला गया।

तीसरा परिच्छेद

गीता का स्वप्न

हुसेनगंज की ओर एक तंग और मलिन कुलिया में भीखू अपनी स्त्री चुनिया को लेकर रहता है। अधेड़ अवस्था के हैं दोनो। छोटा लड़का पाँच वर्ष का है। बड़ा लड़का उनसे अलग ही है। सदर में काम करता है। वहीं रहता भी है अपनी नववधू को लेकर। कभी-कभी स्त्री की आँख बचाकर माता-पिता के दर्शन कर जाता है। पिता उससे नाराज़ रहते हैं। और उसकी बहू की पटती नहीं सास से।

भीखू जूतों का काम करता है। पहले उसकी अपनी दूकान थी। पाँच-सात कारीगर उसके यहाँ बारहो महीने काम पर नियुक्त रहते थे। अच्छा पैसा कमाता था भीखू। सब नया ही काम बनाता था। शराब और अफ़ीम की आदत पड़ी हुई थी उसे, पैसा अधिक हो जाने से वे भी बढ़ गए। दूकान के काम में उसकी ठीक-ठीक उपस्थिति और निरीक्षण न रहने से काम बिगड़ने लगा, आमदनी घटने लगी। नौकरों की तनख़्वाह नियत समय पर न दी जा सकने लगी।

वेतन वसूल होना असंभव देखकर नौकर-चाकरों में से जिसके हाथ जो वस्तु लगी, ले-देकर चलता बना। दो, पैर से चलाने की मशीनें थीं। एक पहले ही भीखू बेच चुका था। दूसरी को हथिया कर एक कारीगर ने अपने वेतन की भरपाई लिखी। शेष तैयार सामान, चमड़ा छोटे-मोटे औज़ारों को लेकर दूसरे नौकरों ने अपने हिसाब की सफ़ाई की। डेढ़ साल से किराया चढ़ा था मकान मालिक का, उसने दावा ठोक दिया। कुर्की हो गई। दूकान में क्या रक्खा था भीखू के, दूकान के बाहर एक बहुत बड़ा ताला पड़ा था। उसी मकान के पिछले भाग में रहता था वह। बीमारी का बहाना कर रक्खा था उसने। ताले के साथ सारा भेद खुला।

दूकान से निकाला जाकर भीखू ने शरण ली उसी तंग कुलिया में। पड़ौस में एक दो इक्केवाले भी सपरिवार रहते थे। भीखू को गर्व था, अपने हाथ के श्रम पर। उसने पत्नी को धीरज बँधाया—"चुनिया, तू कुछ भी दुःख मत कर। तेरा बेटा जब कमाने-खाने लायक हो गया तो तुझे छोड़कर चल दिया, स्त्री का हाथ पकड़कर। जाने दे उसे। भगवान् उसका भला करें। तू रोटी-कपड़े की कुछ परवा न कर। मैं फेरी लगाकर तेरे खाने-पहनने को ही नहीं, देने-लेने के लिए भी ला दूँगा—बहुत-सा। सारा लखनऊ मुझे जानता है और मेरी कारीगरी का लोहा मानता है।"

चुनिया बोली—"करना पड़ेगा ही कुछ-न-कुछ।"

भीखू प्रसन्नता के भाव में था, दवा की पूरी-पूरी ख़ुराक ने उसके मस्तिष्क में असर कर रक्खा था, उसी प्रवाह में बोला—"दो-चार औज़ार बचे हुए रक्खे हैं ही यह, काम चलानेभर को बहुत हैं। तू कुछ अफ़सोस मत कर। तमाम राजा और नवाब लोगों की कोठियों को मै जानता हूँ। जिसके फाटक पर बैठ जाऊँगा, घंटे दो घटे की मरम्मत में ही चाँदी बटोर लाऊँगा।"

"काम ही अगर तुमसे होता तो यह हालत न होती।"

"सिर पर आ जाने से सब कुछ हो जाता है। सुन, तेरा जो सोना मैंने महाजन के यहाँ गिरवी रक्खा है, उसे शीघ्र ही छुड़ा लाऊँगा।"

"छुड़ा चुके, व्याज ही उन्हें निगल जावेगा।"

"और भी सुन चुनिया, मैं यह सब नशा भी छोड़ दूँगा। एकदम छोड़ देने से हानि करगा, इसलिए धीरे-धीरे।"

दूकान का दिवाला निकल जाने पर फिर भीखू को लोगों ने फेरी करते हुए ही लखनऊ में देखा। एक बोरा पीठ पर लटकाए, हाथ में तिखूँटा लोहे का भारी पैर लिए, भीखू गली और कूचों में आवाज़ लगाता है—"बनाऽऽइ जुतो ऽऽऽ, जुतो ऽऽऽऽ बनाऽऽइ!"

अच्छा कमा लेने लगा भीखू। सेक्रेटेरिएट के बाबू लोगों, स्कूल-कॉलजो के छात्र और शिक्षकों में उसका अच्छा प्रवेश हो गया था। बाते करने मे बड़ा प्रवीण था वह, हाथ की कारीगरी मे पर्याप्त सफ़ाई थी। काम मन लगाकर और पक्का करता। लोग उसे अच्छे पैसे देते थे। जिन लोगों ने उसे, एक संपन्न कारोबार का मालिक देख रक्खा था वह उस पर और भी कृपा करते थे।

सुबह बासी रोटी के साथ चाय पीकर वह निकलता था। मॉडल हाउस, नज़रबाग़, हीवेट रोड, कैंटोंमेंट रोड का एक टुकड़ा और स्कूल तथा कॉलेजो में घूमता हुआ वह दापहर के समय घर आ जाता था। आमदनी के अनुसार पत्नी के बताए हुए सौदे का अनुपात उसके हाथ, कधे, बग़ल और कभी-कभी सिर पर भी लिए हुए वह लौटता था। दिन मे सो जाता था, कोई ऋतु हो, कितना ही काम हो। बिना दिन मे सोए वह कहता था मेरा सिर भारी हो जाता है। शाम को चाय के साथ कुछ खा-पीकर तीन-चार बजे वह फिर फेरी मे चला जाता था। चाय का शौक़ पुत्र की बदौलत मिला उसे!

उसका लड़का बूट बॉय होकर घुसा था सदर में। फिर एक साहब के यहाँ उसको बैरागिरी मिल गई। चाय-पान वहीं सीखा उसने। तब वह पिता के साथ रहता था और उसका विवाह नहीं हुआ था। बची-

खुची कुछ चाय उसे घर ले जाने को मिल जाती थी। जिसे गरम कर वह पिता को पिलाने लगा, माता नहीं पीती थी पहले, पर बाद को वह भी उसे शरीर के लिए आवश्यक समझने लगी, हवा और पानी के समान। औषधि होकर वह आई थी उस घर में और महत्वपूर्ण स्थान लेकर वह बस गई वहाँ। हाँडी, पतीली, तवा, देगची, कड़ाई सबको पीछे छोड़ दिया उसने दौड़ में। विजय का हाथ ऊपर किए केतली सबसे पहले विराजती है चूल्हे के शीर्ष में!

घर लौटकर सबसे प्रथम भीखू को जेब के बचे-खुचे सिक्के पत्नी को समर्पित करने होते हैं। वह उन्हें सँभालकर जमा करती है, उन तक़ाज़ा करनेवालों का मुख बंद करने को जो किए गए वादों के दिन उसके द्वार खटखटाते हैं। वह अपने जेवर छुड़ा लाई थी महाजन के यहाँ से। लेकिन भीखू ने छोटी लड़की की पिछली बीमारी में उन्हें ले जाकर फिर रख दिया गिरवी। चुनिया को उसने भली प्रकार विश्वास दिला दिया था कि हमें बच्चा प्रिय है, सोना-चाँदी नहीं।

प्रत्यक्ष में बड़े सच्चे शब्दों में भीखू चुनिया से कहता है—"तेरी सौगंध, वह गंदी नाली का पानी पीता होगा जो शराब पीता होगा।" पर चुनिया कभी-कभी उसके रक्तिम नेत्र, उलझे पग और घिसे-टूटे बोलों से जान ही लेती थी सत्य को।

अफीम की गोली की आज्ञा दे रक्खी थी चुनिया ने भीखू को। डॉक्टर साहब ने कह रखा था चुनिया से कि यदि यह अफ़ीम छोड़ देगा एकदम तो बीमार पड़ जायगा। एक दिन ऐसा हो भी गया था। केवल एक ही दिन स्त्री ने किसी प्रकार भीखू के पेट में गोलियाँ नहीं पहुँचने दी थीं। हाथ पैर छोड़ दिए भीखू ने, रात-भर सोने नहीं दिया मुहल्लेवालों को, दोनों आँखें बाहर निकल आईं। ऐसा प्रतीत होता था कि वह दम तोड़ना ही चाहता है। चुनिया ने जब उसे गोली खिलाई तो भीखू ने तत्क्षण ही शय्या छोड़ दी। बोरा कंधे पर लटका और पैर हाथ में सँभाल चल दिया वह फेरी को।

उस दिन से चुनिया को गोली की करामात मालूम दी। पर उस दिन से उसने गोलियों की सप्लाइ रक्खी पूर्णतः आपने अधिकार में। नियत समय पर ठीक मात्रा वह निकालकर दे देती थी भीखू को।

उस दिन भीखू पहुँचा जाकर प्रमोद के द्वार पर, वसत के वहाँ से चले जाने के बाद ही। घर से निकलते-निकलते आज बड़ी देर हो गई थी उसे। सिर भारी था उसका, पेट साफ़ नहीं हो सका था उसका। मज़दूरी में जाना आवश्यक था, चला। सुबह की बोहनी के बड़े अजीब शकुन-अशकुन विचारता था वह। पहले पैसे में सारे दिन की कमाई का प्रतिबिंब देख लेता हूँ मैं, ऐसा कहता था वह।

"जब कोई बुलावेगा तभी जाऊँगा।" इस हठ को लेकर वह आज चला था घर से। हुसैनगंज के चौराहे पर निकलकर उसने दो सड़कों की नोक पर खड़े होकर आवाज़ लगाई—बना ऽ ऽ इ जुतो ऽ ऽ ऽ!"

आवाज़ में दुर्बलता प्रकट हुई उसकी, इसके अतिरिक्त सूर्य के अधिक ऊँचे उठ जाने के कारण नगर का रव वृद्धि पा गया था। उसने भीखू के विज्ञापन को प्रभाव-हीन कर दिया। भीखू ने कुछ विचारा, जेब से पैसा निकाल पास की दूकान से एक पैसे की बीड़ी खरीदीं। दूकान की झाँप पर जलते मुँह की एक रस्सी लटक रही थी, उसमें बीड़ी सुलगाई। शेष गिनकर एक सिगरेट् के टिन केस में रख लीं, हज़रतगंज से आती हुई एक मोटरकार को निकलने दिया और धुँवा छोड़ते हुए घुस गया वह सामने की गली में।

दो-तीन आवाज़ों को व्यर्थ करता हुआ वह सीधा पहुँच गया मॉडल हाउसेज़ में प्रमोद के यहाँ। प्रमोद उस पर बहुत कृपा करता था। जब भीखू उसके यहाँ पहुँचता, कुछ-न-कुछ काम निकालकर वह उसे दे ही देता था।

भीखू ने प्रमोद के बरामदे में पहुँचकर अपने नियत स्थान पर लोहे का पैर और चमड़े तथा औज़ारों का थैला रख दिया। एक छिछला

टिन उसने बोरे में से निकाला और उसे पास के नल में पानी से भर लाने से पहले द्वार पर खड़ा हो गया। प्रमोद पास ही के कमरे में गया हुआ था।

भीखू ने प्रतीक्षा की। प्रमोद लौट आया कमरे में। भीखू ने प्रीति और आदर के साथ अपने कपाल का स्पर्श किया हाथ से। प्रमोद ने प्रत्युत्तर दिया और वह चुप रहा।

ऐसा पहले कभी नहीं होता था। महीने दो महीने में जब भीखू वहाँ आता था, तब प्रमोद उससे प्रायः यही कहता था—'हाँ भीखू बैठो।"

भीखू मन में विचारने लगा—"हो सकता है, इनके मन में कोई विशेष चिंता हो इस समय।" वह खड़ा रहा चुपचाप।

प्रमोद बोला—"आज तो कुछ भी नहीं है भीखू।"

"पॉलिश ही कर दूँ फिर ले आइए जूते।"

"पॉलिश कर गया।"

"कौन ?" भीखू ने अधिकार छिने हुए की भाँति पूछा।

प्रमोद कुछ विचारने लगा।

भीखू बोला—"कौन दलीप ?"

"नहीं।"

"बुधुआ काना ?"

"नहीं, वह भी नहीं।"

"अपने हाथ से ही ?"

प्रमोद ने सिर हिलाया। उसके होठों के कोनों से कुछ हँसी बह गई।

"वह निस्संदेह वही काना होगा। मैं उसकी दूसरी आँख में भी सूजा घुसा दूँगा। मेरे बरसों के बँधे हुए गाहक हैं। वह इस तरह यदि मेरे पेट में हाथ डाल देगा तो उसे न छोड़ूँगा। जिधर वह फेरी लगाता है, मैं झाँकता भी नहीं। क्या करना है मुझे लालच बढ़ा के। भगवान् दो रोटी दें, यही प्रार्थना करता हूँ।"

"नाराज़ न होओ उस पर, वह नही था।"

"आख़िर होगा तो सही कोई ?"

"हमारे ही आपस का एक।"

"आपस का ?"

"हाँ।"

"आपलोग जब ऐसे छोटे काम करने लगेंगे, तो हम दीन क्या खावेंगे। नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। पढ़े-लिखे, रुपए पैसेवाले किसी दफ़्तर में बाबू बनेंगे न कि गली-कूचों में, लू और वर्षा मे दर-दर फेरी लगावेंगे।"

"सच बात जो थी मैंने कह दी भीखू तुमसे। तुम मानो न मानो यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है।"

भीखू चला गया अपना बोरा और पैर उठा कर। मन में कल्पना कर रहा था वह, स्वच्छ साफ़ वस्त्र पहने, सिर पर टोप जमाए हुए, पढ़े-लिखे एक बाबू की जो अँगरेज़ी मे सड़को पर कह रहा था—"बनाऽऽ इ जुतोऽऽ।"

भीखू के आँख के आगे अँधेरा छाने लगा। वह सोचने लगा—"फिर कौन मुझे काम देगा ?" वह ज़ोर से हँसा और उसने कहा—"नही हो सकता ऐसा, असंभव है यह असंभव ! प्रमोद बाबू ने मुझसे हँसी की है।"

दूसरे दिन का काम पिता के यहाँ से आरंभ करना निश्चित किया वसंत ने। बहुत सुबह उठ गया वह। उसके मन मे यह विश्वास जम गया था कि पकाने से अन्न का पोषक तत्व अधिकाश में नष्ट हो जाता है। वह फल-फूल और अन्न को कच्चा ही खाने की इच्छा करने लगा। एकबारगी ही ऐसा जीवन आरंभ कर देने से वह शायद बीमार पड़ जावे, इस भय से उसने धीरे-धीरे इस नए मार्ग में पैर बढ़ाने का विचार किया। उसने एक दिन बिलकुल अग्नि का त्याग कर देने का निश्चय किया।

सिगरेट् छोड़ देना पहला पग था। चाय की बारी आई—उसने उसी घड़ी, उसी समय से चाय को कम करना निश्चित किया। प्रण किया कि आज से एक ही बार चाय पिऊँगा। उसने गिनती के कुछ चने औरमूँगफली के दाने रात से एक कटोरी मे भीगने को छोड़ दिए थे, सुबह वे फूलकर, कुछ के मुखों पर अकुर भी फूट गए थे, बिस्तार में दूने हो गए थे। उसने नमक के साथ उन्हें चबाया और पानी पिया। इन दोनों चीज़ों का सयोग हमारे शरीर के लिए आवश्यक सभी पोषक तत्त्वो की उपलब्धि कर देता है। ऐसी उसकी पक्की धारणा थी। नही जानते, किसी पुस्तक मे उसे यह सार मिला था, या किसी प्रयोगी अथवा किसी वैद्य-डॉक्टर ने उसे बताया। अग्नि-सिद्ध दूध या उसके रूपातरों को वह निकम्मा बताता था। हाँ, बिना अग्नि के उपयोग किए दूध, क्रीम या भक्खन को गुणकारी कहता था वह। पर उनमें जितने लाभ का लालच था, उतना ही सक्रमण का भय!

झोला उठाकर वह चला, पिता के गृह की ओर! "यदि वह जूता खीचकर मेरे मार देगे तो, तो क्या अपमान हो जायगा मेरा? ससार के मान और श्रेष्ठता के भाव पर ही तो मै कुठार हाथ मे लेकर चला हूँ। एक के क्रोधित होने पर जब दूसरा भी उसी भाव से अवरोध करता है, तभी घटनाएँ होती हैं। दूसरा यदि चुपचाप सहन करले, तो फिर कोई भी दृश्य उपस्थित नहीं होता।"

मुहल्ला निकट आया। परिचय के अधिक लोग दिखाई देने लगे। जिनसे घनिष्ठता न थी, वे लोग उसे देखकर कानाफूसी करने लगे। जो उससे अधिक मिलते थे, उनकी दृष्टि बचाकर वह आगे बढ़ता जा रहा था।

पानवाले पंडितजी दूकान से हटकर बीड़ी पी रहे थे। वसत को झोला हाथ मे लिए हुए आता देखकर, बीड़ी फेक झट से हाथ धो दूकान की गद्दी मे बैठ गए। एक हाथ मे पान और दूसरे से चूने का लोटा खोदते हुए बोले—"नमस्कार!"

उत्तर देते हुए वसंत उनकी दूकान पर आया ।

पंडितजी बोले—"कहीं बाहर गए थे भैय्या, नहीं दिखाई दिए एक-दो दिन से।" लेकिन पंडितजी को मालूम था सारा इतिहास।

वसंत बोला—"यहीं था, जाता कहाँ ?"

"कॉलेज की हड़ताल का क्या हो रहा है ? सुना है सब लड़के टूट गए !" कहते हुए पंडितजी ने एक सिगरेट् के पैकेट् पर हाथ रक्खा।

"मैंने सिगरेट् छोड़ दी है पंडितजी ।"

"अच्छा किया, बहुत अच्छा किया। कलेजा जला देती है यह।"

वसंत आगे बढ़ने लगा। थोड़ी दूर पर आगे उसने देखा, मिश्रजी एक धोबी से बातें कर रहे थे। वह गति में यति दे सोचने लगा, "दूसरे मार्ग से चलूँ। यह एक हज़ार प्रश्न जिरह के करेंगे।" उसका साहस बढ़ा—"यह डरपोक होना है। मैंने कुछ भी बुरा काम नहीं किया है।"

वह पूर्ववत् बढ़ता गया। उसने पंडितजी को, मिश्रजी को आँखों पर देखा, विनम्र भाव से कहा—"प्रणाम !"

"नमस्कार, नमस्कार ! क्यों वसंत ! कॉलेज से आ रहे हो ? नहीं, तुमने छोड़ दिया, शर्माजी कह रहे थे ।"

वसंत ने मौन रहकर "हाँ" को प्रकट किया ।

"बुरी बात। हाँ, तुम कई दिन से घर पर भी नहीं आए ? क्या इसी के लिए माता-पिता नाना प्रकार के दुःख सहकर संतान का प्रतिपालन करते हैं। यह अनुचित उदाहरण है वसंत। पढ़-लिखकर क्या यही बुद्धि तुमने अर्जन की। आओ, बैठो।"

"इस समय क्षमा कीजिए, फिर दर्शन करूँगा । एक बात का विश्वास रखिए, मैंने अस्पष्ट मार्ग नहीं ले रक्खा है।"

"तुम जानो।"

वसंत अपने घर के निकट आया। बैठक के द्वारों को उसने बंद पाया। अनुमान किया, पिताजी घर पर नहीं हैं। पिछवाड़े के द्वार पर

उसने खट्-खट् की। भीतर से देवकी ने वसंत की आहट पहचानी। वह सब कुछ छोड़कर द्वार खोलने को आई।

वसंत बोला—"बैठक के द्वार खोल दो।" वह उसी ओर चला गया।

देवकी दौड़ी-दौड़ी बैठक में जा पहुँची। उसने द्वार खोल दिए।

पर वसत भीतर नहीं गया, बाहर सीढ़ियो पर ही बैठ गया।

देवकी ने अंदर से कहा—"वसत !"

"नहीं माँ, अदर न आऊँगा। यहीं बैठूँगा।"

देवकी रोने लगी—"देखो वसंत, तुमने हमारी क्या दशा कर दी। दिन-रात हम तुम्हारी ही चिता में घुले जा रहे हैं।"

"यह केवल अज्ञान है। तुम अपने ही मोह में पड़ी हो। मोह का दंड दुःख है। विदेशो में जब लड़का सयाना हो जाता है तो वह माता-पिता से अलग रहने लगता है। इससे उसको अपने बल का विश्वास मिलता है। पिताजी कहाँ गए हैं ?"

"तुम्हारे सिवा और कहीं ध्यान ही नहीं है उनका। गए होंगे कहीं तुम्हारी ही खोज में।"

"मैं क्या खो गया हूँ कहीं।"

"वसंत हम अनाहार रहकर प्राण छोड़ देंगे।"

"क़ानून और शास्त्र के अनुसार तुम्हीं पर इसका उत्तर रहेगा। मैं निर्दोष हूँ।"

"भीतर आओ।"

"नहीं।"

"मैं जानती हूँ, तुम इतने हठी हो।" देवकी फिर रोने लगी—"हा भगवान् ! ऐसे दिन की मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी।"

"एक प्रार्थना करने आया हूँ।"

"क्या कुछ धन चाहिए तुम्हें ?"

"नहीं।"

"फिर ?"

"अच्छा होता पिता से ही मैं यह भिक्षा माँगता। तुम हो, एक ही बात है।"

"घर ही यह तुम्हारा है। इसमें भिक्षा का उल्लेख ही क्या।"

"पिताजी के जूते का जोड़ा ला दो, मैला है।"

"क्यों ? क्या करोगे ?" माता के मन में कुछ संशय उपज गया था।

वसंत एक कोने से प्लिंथ की दीवाल पर बैठ गया था। उसने अपनी थैली में से बुरुस और पॉलिश की डिबिएँ निकाल ली थी—"पॉलिश करूँगा।"

कुछ धीरज में होकर देवकी ने कहा—"भीतर आओ। फिर वह कौनसा स्थान है उसके लिए।"

"तुम नहीं समझी हो, मैंने यही जीवन आरंभ किया है।"

देवकी फिर भी नहीं समझी, बोली—"क्या आरंभ किया है ?"

"यही लोगों के जूतो पर पॉलिश करना।"

देवकी का रुदन जारी था—"छीः छीः क्या करने लगे तुम। लोग क्या कहेंगे हमसे। हम सारे नगर की चर्चा के विषय हो जावेंगे। कुछ काम नहीं मिला तुम्हें और, तो कोई चिंता नहीं है। बाबूजी रेल के बड़े साहब से कहकर तुम्हें कहीं रेल के दफ्तर में ही नौकरी दिला देंगे।"

"मैंने नौकरी करने की कभी इच्छा पाली ही नहीं मन में। यदि तुम जूता निकालकर नहीं देती हो तो मैं उठकर चल देता हूँ। और कहीं समय का उपयोग करूँगा।"

इस आशा में कि वसंत वहाँ कुछ देर बैठा रहेगा। देवकी ने देहरी पर जूते का जोड़ा रक्खा। वसंत जबतक उसमें पॉलिश करता रहा वह भीतर से बराबर रोते हुए उसको समझाती रही। पर जैसे तेल में पानी नहीं मिलता, उसी प्रकार उस शिक्षा का वसंत के मन पर कोई असर नहीं हुआ।

वसंत को वहाँ पर पॉलिश करते हुए लोगो ने देखा, उनके मनमें कोई असाधारण जिज्ञासा उत्पन्न हुई नहीं। कई लोग जिन्हें ज्ञात था, वसंत पिता से लड़कर चला गया है, समझने लगे, ठोकर खाकर शीघ्र ही लौट आया। कुछ समझते थे, ठीक हुआ, समझदार लड़का, पिता से लड़कर जगहँसाई के सिवा और क्या मिलता इसे। कुछ, जिन्हें दूसरों के विग्रह में आनद आता था सोचने लगे, मूर्ख लड़का—क्यों लौट आया होगा। पहले लड़ना था नहीं, जब लड़ चुका, तो फिर क्या देखनी थी यह दिशा, गया—गया !

जूते में पॉलिश हो जाने पर देवकी भीतर से दूसरा जोड़ा उठा लाई कि वसंत वहाँ पर रुका रहे। जोड़ा उसके समीप रखकर उसने कहा—"मैं जल्दी से तुम्हारे लिए खाना ले आती हूँ।"

"मैं खा-पीकर आया हूँ।"

"उतने सुबह क्या खा लिया तुमने ?"

"चाहिए था जो।"

"रात खाया था कुछ ?"

"हाँ, रोटी।"

"कहाँ ?"

"स्वयम् बनाई।" वसंत को खाँसी आई।

"पहले भी तुम्हारा एक-दो बार खाँसना सुना। तुम्हें सर्दी लग गई। रात भूमि पर सोए ?"

"नहीं. सेठजी ने कुछ फ़रनीचर भी दे रक्खा है। खाँसी का कारण दूसरा है। मैंने कुछ मूँगफली चबाई थीं, कच्ची।"

"मत खाना वह। बड़ी बुरी वस्तु है, फिर कच्ची तो और भी विष है।"

"यहीं पर तो मेरा विचार नहीं मिलता। मै गणित की इकाई से बहुत धीरे-धीरे उसे बढ़ा रहा हूँ। क्रम-क्रम से उन्नत कर कोई भी वस्तु हमारे स्वभाव में प्रविष्ठ हो सकती है।"

"दोनों बेला मैं तुम्हारे लिए भोजन बनाकर भेज दूँगी, प्रदीप के हाथ। वह उसी मार्ग से स्कूल जाता है, घूमने को भी उधर ही से चला जायगा। उसकी माँ ने ही यह प्रस्ताव किया था मुझसे।"

"भोजन पर ही अपना केंद्र हमने स्थापित किया है। माँ, मनुष्य भोजन से ही नही जीवित है। मैंने यह सुना है, शरीर के पोषक तत्व वायुमंडल में बहुत सूक्ष्म होकर फैले हैं, जिन योगियों ने साँस के विज्ञान का रहस्य पाया है, वे उसे हवा में से खीचकर जीवित रहते हैं।"

"तुम भी क्या अजीब बात कहते हो।"

"भारतवर्ष अद्भुत का विश्वासी था। विदेश की शिक्षा ने हमारे उस विश्वास को नष्ट कर दिया। शायद हमारी कला, हमारा उद्योग और हमारा व्यापार नष्ट होने से हमें इतनी हानि नहीं हुई जितना उस विश्वास को खोकर। हमारे देश की स्त्रियों ने उस विश्वास को सँभाल रक्खा था पर—"

"बक-बक लगा रक्खी है, मैं खाना चढ़ा आती हूँ।" पति के मार्ग को देखती हुई देवकी जाने लगी थी।

"तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ होगा। क्यो नही ऐसा समझती हो, जो हो रहा है, उसके कर्त्ता हम नहीं। काल के डोरे में बँधे हुए हम, काठ की प्रतिमाओं के समान इंद्रियों का व्यापार करते हैं, हृदय का स्पंदन यदि हमारा है तो क्यों नहीं वह हमारी इच्छाओं के अधीन गति में तीव्र, मध्य और मंद नहीं हो जाता।"

देवकी अपने आँसुओ को सुखा चुकी थी, इस विचार को जमाकर कि वसंत धीरे-धीरे मान जायगा, वह एक दिन हमारे इस सूने किए गए घर में फिर प्राण सरसा देगा। उसकी फिर वही हठ बनी देखकर वह फिर रोने लगी।

"क्या पागल हो तुम। मैं एक इतवार छोड़ कर प्रत्येक दूसरे इतवार को यहाँ नियमित रूप से आऊँगा।"

"कुछ पानी तो पी लो।" कहकर वह भीतर गई। "मेरे आने-तक चले न जाना।"

वसंत चुपचाप दूसरे जोड़े में पॉलिश करता रहा। देवकी बीच में एक बार भीतर से आकर उसे झाँक गई बैठक में से। वह फिर भीतर चली गई और खाने-पीने के सिलसिले को आगे बढ़ाया। मटर की खेचड़ी बड़े चाव से खाता है वसंत। उसने जल्दी-जल्दी कर वह रूखी आग पर, एक छोटी-सी बटलोई में। "कदाचित् आ जाय वह खाने को।"

वह दौड़कर फिर बैठक में गई। पति के आने की बाट देखी। "इतनी देर लगा दी मोटर पर भी। आ गए होते तो ठीक था। क्रोध शांत हो गया था अब, बेटे से भेंट हो जाती और दोनों मिलकर कदाचित् मना भी लेते इसे। बेटे को इस प्रकार बैरी बना देने से अधिक और दुर्भाग्य की क्या बात होती है।" उसने वसंत की ओर देखा, किस तन्मयता से अपना काम कर रहा था। "इतनी मिहनत से पढ़ा-लिखा था। इतना श्रम लाट साहब के दफ़्तर में करता। चुन्नी के बाबू कहते हैं, बिजली के पंखे और खस टट्टी से बाहर निकलने पर ही ज्ञान होता है कि ऋतु कौन है। गरमियों में नैनीताल जाता! हम दोनों भी जाते। वहीं से बदरीनाथजी के दर्शन करते। पर भाग्य ही न थे ऐसे, आज्ञा ही नहीं है भगवान् की।" वह फिर भीतर चली गई। चूल्हे में भोजन बनाने लगी।

कुछ देर बीत जाने पर वह एक बार फिर बाहर जाकर देख आई। एक जोड़ा जूतों का लकड़ी के गोदाम में से उठा लाई। पुराना, फटा, मैला और सूखा हुआ था वह। वसंत के निकट उसे सरकाकर बोली—"एक जोड़ा और है यह।"

वसंत ने उसे उठाकर जाँचा और बोला—"यह कौन पहनेगा? बेकाम है। उठाकर कूड़े में फेंक दो इसे, किसी को देने योग्य भी नहीं।"

"पॉलिश कर दो, चमक जायगा तो अच्छा दिखाई देगा।"

"जगह-जगह पर तड़क गया है यह।"

"जैसा विचार हो फिर तुम्हारा। मैं जाती हूँ, चूल्हे पर आँच तो बढ़ नहीं गई।"

इस बार कुछ देर लग गई देवकी को। अचानक उसने जूतों की फट्-फट् सुनी फ़र्श पर। वहाँ को जाते हुए ज्ञात हुआ, वसंत तैयार जूते के एक जोड़े को फ़र्श पर पटककर कह रहा है—"ये जूते तैयार हुए रक्खे हैं, इन्हें ले जाइए।"

"बिलकुल एक अनजान मनुष्य के से वाक्य। ममत्व का कहीं पर लेश भी नहीं। क्या हो गया इस लड़के को? किसी शत्रु ने इसे कुछ खिला तो नहीं दिया?" सोचती हुई वह बैठक में आई।

"जा रहा हूँ मैं।" मोहहीन भाव से उसने कहा। जूतों को आगे को खिसकाकर।

बैठक की कुर्सी पर से देवकी ने एक धोती उठाई और कहा—"आओ भीतर आ जाओ खाना खा लो, लो यह धोती है।"

"नहीं, मुझे देर हो रही है। मैं पका हुआ अन्न त्याग देने के विचार में हूँ।"

"पागलपन!" वसंत को जाने पर ही तुला देखकर देवकी ने कहा—"दो-चार मिनट आओ भीतर बैठ जाओ। वह भी आते ही होंगे, उनसे भी भेंट हो जायगी।"

"नहीं भीतर न आऊँगा।"

"क्यों?"

"पिताजी असंतुष्ट होंगे।"

"मैं कहती हूँ न होंगे।"

वसंत ने पीठ की। माता फिर रो उठी। माता के आँसुओं पर द्रवित नहीं होता वसंत, कठोर वसंत, चला ही जाता है। देवकी ने घबराकर कहा—"संध्या-समय आना।"

"नहीं।"

"कल सही, मैं खाना बना रक्खूँगी।"

उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। शायद दूरी ने देवकी के स्वर को वसत के सुनने योग्य नहीं रक्खा, धूसर कर दिया।

कुछ देर द्वार पर खड़ी रह देवकी ने देखा, जब वसंत उसकी दृष्टि की ओट ही हो गया, तो द्वार बंदकर देवकी भीतर चली गई। उसने जूतो को तखत के नीचे छिपा दिया था।

थोड़े ही अंतर में शर्माजी लौट आए गोपाल बाबू की कार में। पत्नी ने कहा—"वसंत आया था।"

"तुमने रोक नहीं लिया उसे।"

"बहुत आग्रह किया तो था, न माना। कहाँ गए थे ?"

"प्रोफ़ेसर साहब के यहाँ।"

"क्या कहते थे ?"

"हमारा ही तो दोष है न ? कहते थे, मैं न जाऊँगा उसे समझाने। उसका दिमाग़ ख़राब हो गया है। कहीं कोई चीज़ उठाकर मेरे मार देगा तो ?"

"दिमाग़ ख़राब हो गया ? नहीं, झूठ बात ! अभी तो इतनी देर वह मुझसे बाते कर गया। बाहर बैठकर उसने आपके जूतो में पॉलिश की।"

शर्माजी पर जैसे बिजली का धक्का प्रकट हुआ—"जूतो में पॉलिश की ?"

"हाँ रक्खे तो हैं, तखत के नीचे।"

"तब इससे तो प्रोफ़ेसर साहब की ही बात पक्की होती है। वह कहते थे, वसंत चमार हो गया। वह बाज़ारों और गलियो में लोगो के जूते साफ़ करते फिर रहा है। इसे क्या तुम एक सही मस्तिष्क का काम कहती हो ?"

"मैं तो समझती थी, वह यहीं अपने घर के जूतों में पॉलिश कर

रहा है। शायद आपसे मेल करने को यह सेवा ढूँढ़कर लाया है। अक्सर जब वह अपने जूतो में पॉलिश करता था, तो आपके जूतों को भी उठा ले जाता था। मैं क्या समझूँ ?"

"निराली ही समझ दे रक्खी है तुम्हें भगवान् ने। बस अब हो गया। तुम व्यर्थ ही मुझे उसको घर लाने के लिए कहोगी। वह निःसंदेह पागल हो गया है।"

"मैं कहती हूँ, नहीं हुआ है।"

"तुम्हारी समझ ही कितनी है। एक पढ़ा-लिखा, श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ छोकरा जब इस तरह चमार का काम करने लगा, तो फिर वह हमारे लिए त्याज्य हो गया, मैं उसकी छूत मानूँगा।"

वसंत वहाँ से सीधा गोपाल बाबू की कोठी पर पहुँचा। माली उसके पहचान का था। फाटक के निकट ही एक क्यारी खोद रहा था वह, बोला—"साहब नहीं हैं यहाँ, सुबह की चाय पीकर मोटर में न जाने कहाँ गए हैं। आते ही होंगे। आप बैठिए न, कुर्सी पड़ी है बरामदे में।"

"नहीं माली यहीं पर ठीक है।" वह वहीं हरी दूब पर बैठ गया। उसने कोठी पर दृष्टि निक्षिप्त की। वह स्थान अनेक मधु स्मृतियो की संगति से अधिकृत था।

माली घबराकर खुर्पी छोड़कर उठा। वसंत ने उठकर दोनों हाथ पकड़ लिए।

"नहीं सरकार, ऐसा नहीं हो सकता, मैं दौड़कर कुर्सी ले आता हूँ।"

"नहीं माली, मैं यह सब दिखावा छोड़ चुका हूँ।" वसंत ने फिर उसका प्रतिरोध कर कहा।

खुर्पी उठाते हुए माली ने कहा—"हाँ सरकार, दुनिया, को सादगी ने बनाया है और उजाड़ दिया उसे फ़ैशन ने।"

"बहत सुंदर माली! क्या एक हज़ार रुपए की बात तुमने कही!

यह तत्त्व है, बहुत समय चाहिए, बहुत अनुभव, चाहिए, बहुत बुद्धि चाहिए इस बात को समझने में।" वसंत इस बार दूसरी जगह पर बैठा। उसने दृष्टि की पहली रेखा पर पूरा समकोण लिया, वहाँ से लीला के कक्ष की खिड़की दिखाई देती थी। लीला कमरे में है या नहीं, वसंत नहीं जान सकता था। काँच पर परदे खिंचे थे। वसंत घास पर बैठा है, लीला का जान सकना संभव था। परदो से कुछ काँच छूटा ही रह गया था।

"लीला कहाँ है माली?"

"होगी अपने कमरे में। अभी मास्टरनीजी उन्हें पढ़ाकर गई हैं।"

"कौन?"

"वही स्त्री-कॉलेज की प्रोफ़ेसरनी जिनके होंठ पर तिल है।"

"अच्छा?"

"अब विवाह होनेवाला है उनका।"

वसंत के मानसी संसार में जैसे कोई सुंदर-सच्ची प्रतिमा संतुलन खोकर गिर पड़ी। श्वास-प्रवाह कुछ दंड के लिए जहाँ-का-तहाँ ही रह गया। विकृत रेखा कोई भी न आने दी उसने अपने मुख पर। पूछा—"कब?"

"ज्योतिषी पंडित कर रहे हैं विचार, शाम को कल भी आए थे वह। नौकर-चाकरो पर यह बात अभी खुली नहीं है। इसी वैशाख में होगा इतना ही मालूम है।"

वसंत ने फिर पूछा—"कहाँ से आवेगी बरात?"

"इधर ही कहीं झाँसी की ओर से आवेगी।"

"जबलपुर से तो नहीं।"

"ठीक है वहीं से सरकार! आपको तो मालूम है।" माली ने एक ढेले के सिर पर खुर्पी मारकर उसे तोड़ डाला।

वसत ने मन के अंधकार में टटोला। उस प्रतिमा का अंग-प्रत्यंग चूर-चूर होकर पहचान से परे हो गया था। "माली, तुम अपने जूते

में पॉलिश नहीं कराते ?"

हँसकर एक असंबद्ध प्रश्न माली ने सुना—"मेरे पास जूता ही कहाँ ? एक है वह देशी, जब कभी अमीनाबाद उसे पहनकर जाता हूँ, तो काट देता है दोनो एड़ियों पर। उस पर कहाँ पॉलिश। सरकार आप तो हँसी उड़ाते हैं। मज़दूर को चुपड़ी रोटी से मतलब ?"

"सब के ही दिन लौटते हैं।" कहते हुए वसंत उठा। उसने जंभाई ली, दूब पर से अपना थैला उठाया।

"इस थैले में क्या है ?"

"पॉलिश करने का सामान।" सरल सत्य कहा वसंत ने।

माली ने समझा वसंत हँसी कर रहा है। वसंत की ओर से उदासीन होने लगा वह।

फाटक की ओर देखकर वसंत ने कहा—"न जाने कब आवें तुम्हारे साहब।"

"आते ही होंगे अब।"

"उधर चलूँ मालीजी।" कहता हुआ वसंत कोठी की ओर जाने लगा।"

"हाँ, हाँ, कहिए तो बैठक खुलवा दूँ।"

"नहीं, नहीं, तुम अपने काम में हानि न करो।" कहता हुआ चला गया वसंत। जाकर बरामदे में एक बेंत की कुरसी रक्खी हुई थी। बैठ गया उस पर, मन नहीं लगा उसका। थैले-सहित उठकर गया लीला के कक्ष की ओर !

लीला अपने कमरे में ही कुछ पढ़ रही थी। उसने वसंत को उधर आते हुए देख लिया था। जिज्ञासा हुई उसके मन में—"वसंत के आने का कोई अवसर नहीं यह। एक मिटा दिया गया पेंसिल का आकृति-जाल ! एक भुला दिया गया स्वप्न ! कोई विशेष बात होगी। पिता का घर छोड़कर जो यह आज हमारे द्वार पर आया है।" वह उत्सुक हो गई अत्यंत। उसका मन पुस्तक पर से उचट गया। केवल

दिखावे के लिए ही उसकी दृष्टि खुले हुए पेज पर रह गई !

सुंदरी रसोईघर में थी। लीला के कमरे का द्वार बंद था, खिड़कियाँ भी। जब वसंत उसके कक्षवाले बरामदे के भाग में आ पहुँचा, तो वह अचकाकर उठ बैठी। उसने दबे पैर परदों की संधियाँ अच्छी तरह मिला दीं। वह चुपचाप कमरे में ओट पर से बाहर देखने लगी। कुछ आहट से और कुछ परदों से होकर लीला ने देखा, वही था।

वसंत ने लीला के द्वार पर कहा—"पॉलिशवाला ?"

"पॉलिशवाला ?" लीला ने हँसते हुए बरामदे में देखा।

"पॉलिशवाला ?" माली ने देखा, वसंत लीला के द्वार के निकट भूमि पर बैठ गया था। उसको आश्चर्य होने लगा, इस प्रकार भूमि पर वहाँ वसंत को बैठते हुए उसने अपनी नौकरी के पिछले तीन वर्षों में कभी नहीं देखा था। वह उसी ओर मुँह कर काम करने लगा।

वसंत ने बैठकर फिर कहा—"पॉलिशवाला !" उसने अपनी थैली सीमेंट की टाइलों पर उलट दी।

लीला ने भीतर अनुमान किया—एक मंद्र और एक तार पर के स्वरों से पॉलिश की डिबियाँ और बुरुस उस थैले में से बाहर निकले। उसने चेष्टा कर वसंत को देखा खिड़की के कोने से। नहीं दिखाई दे रहा था वह वहाँ पर से। वह कुछ और आगे बढ़ी।

बाहर वसंत ने मन में विचार किया—"कोई नहीं है क्या कमरे में। रसोईघर में माता के निकट होगी वह। पहले ही मुझसे बातें करने के प्रतिबंध थे उस पर, अब तो शायद कुछ और भी कठोरता होगी। इतने ही में वसंत ने सुना, जैसे कोई छोटी और हलकी वस्तु मार्बल के फ़र्श पर गिरी। उसे विश्वास हुआ, है कोई कक्ष में और वह है लीला ही !

खिड़की पर लीला की कघी रक्खी थी। वसंत को देखने के प्रयास में वह उसके अंचल के स्पर्श से भूमि पर गिर पड़ी। लीला ने देख लिया था, वसंत एक बुरुस हाथ में लेकर अपने जूते की धूल साफ़ कर

रहा था। उसके सामने का उसका सामान उसने देख लिया था। वह घबराकर पीछे को हटी। कंघी भी खिंच गई। उसका गिरना उसे ज्ञात भी नहीं हुआ। वह दौड़कर चली गई माता के पास रसोईघर में, मानों कोई भूत उसके देखने में आ गया हो।

"वसंत आया है माँ।"

"तुम घबराई-सी क्यों हो?"

"कहाँ? ठेस लग गई पैर में। शायद इसलिए कहती हो।"

"कितनी लगी?"

"बहुत मामूली।"

"सावधान तुम बाहर न निकलना हाँ। दूसरी बात है अब। वह लड़का आवारा हो गया। नौकरों में से नहीं है कोई वहाँ? छोकरे को बुला लाओ, नल पर है वह।"

छोकरा आया। सुंदरी ने कहा—"वसंत बाबू आए हैं वहाँ, जाकर उन्हें कुर्सी दे दो, बरामदे में ही। बैठक बंद है न?"

"हाँ।"

"मत खोलना उसे।"

नौकर गया वसंत के पास।

"भय लग रहा है वसंत को देखकर माँ!"

"भय? कैसा?"

लीला ने सब कुछ वर्णन किया। माता की उत्सुकता भी चरम की ओर बढ़ी। दोनों साथ-साथ गईं उसे देखने को। दबे पैर परदों से ढकी खिड़की से उसे झाँकने लगीं। उसी समय फाटक के निकट ही उन्होंने मोटर का भोंपू सुना। वे दोनों सिमटकर अंदर चली गईं, कुछ झलक पाकर वसंत की। माली बैठक खुलवाने को दौड़ा और वसंत अपने थैले को समेट आ पहुँचा पोर्च के निकट। ड्राइवर तेल की मालिश कर रहा था अपने क्वाटंर में। वह भी दौड़ा हुआ आ गया कुर्त्ते में अपना सिर डालकर।

गोपाल बाबू मोटरकार में से उतरे, उतरते ही उन्हें थैला हाथ में लिए वसंत ने प्रणाम किया। उन्होने उसकी ओर देखा ही नहीं। वसंत ने उनकी पीठ पर कहा—"पॉलिशवाला!" उन्होंने फिर भी उस पर दृष्टि नहीं घुमाई। वसंत ने बहुत अधिक अपमान अनुभव किया। कुछ देर और रुक गया वहाँ पर। संभव है, बाबू साहब किसी गहरी चिंता में हों।

भीतर गए गोपाल बाबू। हँसती हुई सुंदरी मिली। बोली—"देखा उसे?"

गोपाल बाबू भी हँसे और कहने लगे—"यह लड़का पागल हो गया है, मैंने तो देखा भी नहीं उसकी ओर। उसका उत्साह बढ़ाने की आवश्यकता नही है कोठी के भीतर। तुम लोग तो कोई बोले नहीं न उसके साथ?"

सुंदरी ने कहा—"नहीं।"

"कब से आया है वह यहाँ?"

"थोड़ी देर हुई।"

एक नौकर से गोपाल बाबू ने कहा—"जाकर बैठक के द्वार बंद कर दो।" फिर माली से कहा—"उनसे कह दो, जाओ। साहब का जी ठीक नहीं है, इस समय चले जायँ। और हाँ सब नौकरों से कह दो वह जब यहाँ आवे, तो उसे टाल दिया करें।"

"बहुत अच्छा हुज़ूर!" माली चला गया।

साहब पिछवाड़े के बरामदे में बैठकर, आराम कुर्सी पर, कपड़े बदलने लगे। सुंदरी ने पंखे का बटन दबा दिया।

पोर्च से बहुत दूर फाटक की ओर जाकर माली खड़ा हो गया। जब वसंत ने उसकी ओर देखा तो उसने संकेत कर उसे अपने पास बुलाया। वसंत ने इसे अपमान समझा। माली के व्यवहार में उसे बड़ा द्रुत परिवर्त्तन दिखाई पड़ा! "जब मान की कल्पना ही छोड़ चुका हूँ तो फिर अपमान कैसा?" वह विनत होकर डोरे से खिंचे हुए

खिलौने की तरह माली के पास चला गया।

"इस समय जाइए वसंत बाबू।"

"माली! इस तरह तुम मुझसे कभी नहीं बोले।"

"हम क्या करें, मालिक का हुकम। उनका जी ठीक नहीं है।"

"तुम नही जानते नए नौकर हो। बूढ़ा चपरासी पदम, मर गया! वह जानता था, मैं इस घर में बचपन से ही कितना हिला हुआ हूँ। आज यदि वह जीवित होता तो, कभी ऐसा न कहता।"

"फिर संध्या समय आ जाइएगा।"

इतने में दो ठेलेवाले आ पहुँचे ठेला लेकर। माली उनके साथ बातें करने लगा—"बस इतने ही गमले और हैं। इन्हें लाद लो। बड़े धीरज से। वह गमले तो सब ठीक-ठीक पहुँचा आए थे न?"

वसंत वहीं पर माली के पास जा पहुँचा बोला—"कहाँ जा रहे हैं ये गमले?"

"सिविल लाइन में, साहब की कोठी पर।"

"क्यो?"

"साहब शायद अब वहीं चले जावेंगे।"

"कब?"

"मालूम नहीं।"

"मालीजी, जाओ, साहब से कहना, वसंत पॉलिश करने के लिए एक जोड़ा जूता माँग रहा है।"

"क्या कह रहे हो वसंत बाबू?"

"बिलकुल सही बात।" वसंत ने थैले में से निकालकर उसे एक मैला बुरुस और एक फटा चीथड़ा दिखाया।

माली वसंत की ओर ढुलकने लगा—"क्यो क्यों बाबू, ब्राह्मण हो, पढ़े-लिखे। ऐसे नीच पेशे पर क्यों रीझे तुम?"

"यह एक बनाई और फैलाई गई बात है। कपट का व्यवहार करनेवाला यदि साफ़-सुथरे और बहुमूल्य वस्त्र पहनता हो, बढ़िया-से-

बढ़िया खाना खाता हो, तो क्या वही उसके उच्च कर्म कहे जावेंगे। तुम माली का काम करते हो। तुम्हारा पेशा छोटा इसीलिए कहा जाता है कि तुम धनहीन हो। मैं कहता हूँ, यही काम करते हुए यदि तुम्हारे मन में पाप नहीं है, तो तुम किसी बड़े आदमी से छोटे नहीं हो।"

माली वसंत के भावों में बँध गया—"कह तो रहे हैं आप सरकार! ठीक ही।"

"जाओ फिर पूछ देखो, नहीं कहेंगे तो चला जाऊँगा।"

माली ने उनके पास जाकर यही सब कहा।

गोपाल बाबू डाँटकर बोले—मूर्ख कहीं का। अगर वह मानता नहीं, तो दो-चार आदमी मिलकर उसे फाटक के बाहर कर दो। वह पागल हो गया है। शर्माजी को यह उचित था कि उसका किसी से इलाज कराते।"

माली घबराकर लौटा। "कोई जूता नहीं है पॉलिश के लिए। इस समय जाइए आप।"

"अच्छा माली।"

माली ने समवेदना का हाथ वसंत की पीठ पर रक्खा और उसे फाटक की ओर घुमा दिया।

वसंत ने फिर उस कोठी की ओर नहीं देखा। वह कुछ सोचने लगा।

"थू!" माली ने एक ओर को होंठ से तमाखू दबाकर उसकी पीक थूकी।

"तमाखू खा रक्खी है तुमने? ज़रा-सी मुझे भी दो तो।"

"आप?"

"हाँ माली। सिगरेट् छोड़ दी है मैंने तीन दिन हुए। इस समय एकाएक उस विष के लिए प्राणों में पिपासा जाग उठी। लाओ माली थोड़ी-सी दे दो।"

गोपाल बाबू और सुंदरी दोनों बैठक में आकर फाटक पर यह सब

देख रहे थे। लीला भी अपने कमरे में चली गई थी। वसंत के साथ के बचपन के अनेक चित्र उसकी स्मृति में उलटने लगे। उसने मन में कहा—"अभागा, वसंत! यदि इसके साथ कहीं मेरा विवाह हो गया होता तो? तो? उसने परदा हटाकर देखा, वसंत की फैलाई हुई हथेली में माली अपने मैले साफे की गाँठ में से खोलकर कुछ दे रहा था। लीला ने वेदना और घृणा मुख में व्यक्त कर धीरे-धीरे कहा—"छीः।"

गोपाल बाबू ने सुंदरी से कहा—"कितना मूर्ख है यह माली! कैसा उलझ रहा है उसके साथ? यह नहीं होता उससे कि झट निकाल बाहर करे।"

"दुर्भाग्य बेचारी देवकी का।" सुंदरी बोली।

"दोनो फाटक बंदकर पहरा बिठाना पड़ गया मुझे वहाँ चौबीसो घंटे! जान पड़ता है, हमें सिविल लाइंस की कोठी में शीघ्र-से-शीघ्र चला जाना पड़ेगा।"

वसंत ने माली के हाथ से तमाखू लिया। उसे सूँघा—"बहुत तेज़ तो नहीं है?"

"नहीं।"

"खा लूँ?"

"आपकी इच्छा।"

गोपाल बाबू ने क्रुद्ध होकर सुंदरी से कहा—"जाओ,छोकरे को भेजो। वह माली को यहाँ बुला लावे। फौरन् अभी।"

सुंदरी रुकी रही वहीं पर—"अब जा ही रहा है वह। क्रोध प्रकट न कीजिए अपना। पागल ही ठहरा, कहीं आइने न तोड़ जाय कोठी के।"

गोपाल बाबू चुप हो गए।

एक ठेलेवाला बोला—"माली! एक चिलम तमाखू हो तो दे दे भइया।"

माली ने उत्तर दिया—"आता हूँ, ठेला लाद लिया ?"

"हाँ।"

वसंत ने होठों तक ले जाकर वह तमाखू की चुटकी रोक ली। उसने उसे फेंका नहीं। "इसे रख लोगे माली। यह जूठी नहीं है।"

माली ने हथेली पसारी—"क्यों ?"

"नहीं खाऊँगा माली। जिस रस की तृष्णा को हम त्यागते हैं, वह बड़े ही भयंकर आकर्षण के साथ हमें पराजित करने आता है। यही दो-चार, पाँच-सात दिन। यदि हमारे पग स्थिर रह गए तो हमारी शक्ति बढ़ जाती है।"

वसंत थैला सँभालकर जाने लगा—"जयराम माली !"

"जयरामजी की बाबू !"

वसंत चला गया।

माली ने सोचा—"पागल हो गए हैं यह ? भगवान् जानें !"

वसंत सीधा गणेशगंज में अपने घर पहुँचा। शाम हो चली। उसे भूख लग गई थी। उसने रोटी पकाकर खाई। फिर वह कहीं नहीं गया। द्वार बंद कर तख़त में लेट गया। उसे नींद आ गई, उसने दिया भी नहीं जलाया। कब रात हुई उसे पता भी न था। सपना देखा, आधी रात की सघनता में किसी ने उसके द्वार खटखटाए। वसंत ने द्वार खोल दिए। एक वृद्ध, स्वच्छ-श्वेत वस्त्रों से भूषित, सफ़ेद ही सिर के बाल और दाढ़ी-मौंछ, उन्होंने हाथ में कुछ लेकर कहा—"वसंत तुम्हारा ही नाम है ?"

"हाँ।"

हाथ बढ़ाकर वृद्ध ने उसे कुछ देते हुए कहा—"लो।"

"क्या है यह ?"

"देख लेना।"

"किसने दी ?"

"जान लोगे।" कहकर वह चले गए।

वसंत ने उजाला कर देखा, पुस्तक में बाहर सुनहरे अक्षरों में लिखा था, "गीता।"

सूर्य की तिरछी किरणों ने जब प्रभात-समय, वसंत की पलकों को उघाड़ा, तब वसंत की छाती पर वह पुस्तक थी और उस पर था उसका हाथ। पुस्तक वह थी जिसे संध्या की ज्योति में वह पढ़ते-पढ़ते सो गया था।

वसंत उठा। उसने उस स्वप्न को स्मरण किया। उसने उस हाथ में की पुस्तक के आवरण पर पढ़ा—"श्रीमद्भगवद्गीता!"

सिर से, पैर से, हाथों से जैसे उसके एक बिजली-सी दौड़ गई। "स्वप्न नहीं कहूँगा मैं उसे! कितना स्पष्ट था! हिमालय के समान वयस्क और शुभ्र, उनका शांत स्पर्श मैंने ज्ञात किया था, वाणी अब भी मेरे कानों में गड़ी हुई है, रेकर्ड पर के गीत की रेखा के समान! जिसे हम प्रत्यक्ष कहते हैं, वह भी क्या समय की धूल के पड़ जाने से धूमिल नहीं हो जाता?"

कभी-कभी वसंत ऐसे ही गीता के पृष्ठों को उलट लेता था। उसे यह ज्ञात था कि वह एक अमर पुस्तक है, सांप्रदायिकता की जिसमें छाया भी नहीं। पर उस पुस्तक पर उसकी श्रद्धा बढ़ी नहीं थी इतनी। यदि देखा जाय तो विश्वास की सघनता है श्रद्धा और एक-सी विचार-शृंखलाओं के जुड़ते-जमा होते रहने से उपजता है विश्वास।

वसंत को उस पुस्तक का उसी घड़ी से विश्वास हुआ। उसने उसे माथे पर लगाकर कहा—"इसी में मुझे पथ और पथ का ध्रुवतारा दिखाई देगा। आज से नियम-पूर्वक इसका पाठ करूँगा।"

चौथा परिच्छेद

हड़तालिए

इतवार था उस दिन। कुछ कच्चे और भीगे चने तथा मूँगफलियो का आहार कर पानी पीकर वसंत ने थैला उठाया और चला हॉस्टलो की ओर, गोमती पार! निकटतम हॉस्टल में पहुँचा। पहले ही कमरे में गोपाल रहता था, उसका सहपाठी। हड़तालियों में से नहीं था वह। उसके पिता इलाहाबाद में डिप्टी कलक्टर थे। अच्छी मोटी रक़म उसके व्यय के लिए चली आती थी वहाँ से माहवार, दूसरी-तीसरी तारीख़ तक। दिल खोलकर खाता-पीता और खेलता-पढ़ता था वह। कहता था—"मुझे क्या पड़ी है जो मैं कॉलेज छोड़ूँ! यही तो जीवन के कुछ नपे-तुले वर्ष है, जिनमें कोई चिंता नहीं है। मैं क्यो अपने लिए व्यथा मोल लूँ!"

जल्दी ही उठनेवालो में से था गोपाल। वसंत ने उसका द्वार पॉलिश की डिबिया से खटखटाकर कहा—"पॉलिशवाला!"

कुछ स्वर पहचानकर चाय पीते-पीते गोपाल ने शंकित हो द्वार खोले। देखा, वसंत खड़ा है बाहर। गोपाल ने हँसकर कहा—"हो चुकी हड़ताल? सुनता हूँ कल सभी लड़के आ जावेंगे कॉलेज में। तुम भी न?"

वसंत ने सिरा हिलाकर प्रकट किया—"नहीं!"

"नहीं? क्यों, क्यो? आओ चाय तो पी लो।" गोपाल उसका हाथ पकड़कर उसे कमरे के अदर खींचने लगा।

"मैं चाय नहीं पिऊँगा।"—वसंत ने अपनी जगह पर स्थिर रह कर कहा।

"नहीं वसत, यह न होगा। तुम्हें पीनी ही पड़ेगी, कम से-कम एक प्याला, केतली में बहुत चाय है। आज कोई दूसरा है भी तो नहीं मेरे साथ।"

वसंत ने फिर बाहर ही अटकते हुए कहा—"मैंने छोड़ दी चाय। तुम आग्रह न करोगे मित्र। मैं कुछ और काम से आया हूँ।"

"क्या ?"

वसंत ने उसे हाथ में की पॉलिश की डिबिया और थैला ऊँचा कर दिखाया।

गोपाल ने कौतूहल की हँसी, हँसी। "क्या मतलब ?"

"पॉलिश करूँगा, जूता है तो लाओ।"

बड़ी ज़ोर से हँसकर गोपाल ने वसंत की पीठ पर थपकी दी—"ख़ूब, अच्छा पेशा ढूंढ़ निकाला तुमने। संघर्ष कम है इस लाइन में! पूँजी, नही के बराबर और आमदनी, यदि काम चल गया तो अच्छे-अच्छे बाबुओं के वेतन के समान! क्यों ?"

"धन ही लक्ष्य नहीं है मेरा।"

"फिर ?"

"मज़दूरी की प्रतिष्ठा हो, सस्ते श्रम का करनेवाला तुच्छ न समझा जाय।"

"तो तुम आंदोलन में पड़ गए, कुछ नवीन शब्दावली लेकर। अच्छा है। नवीनता प्रसिद्ध करती है आदमी को। कुछ मनुष्यों का इष्ट जितना धन कमाना होता है, कुछ को प्रसिद्धि भी लुभाती है उतनी ही। भीतर तो चलो।"

"नहीं, भीतर भी नहीं चलूँगा।"

"मैं इस पेशे के कन्वेंशनो को, रूढ़ियो को तोड़ना भी नहीं चाहता।"

"क्यों ?"

"जो इसके काम करनेवाले हैं, उनसे विभक्त हो जाऊँगा नहीं तो।"

"चलो वहीं अंदर कुर्सी पर बैठकर पॉलिश करोगे, तभी तो श्रम प्रतिष्ठा को प्राप्त होगा।"

"वह अनुपयुक्त है, कमरा मैला हो जायगा। यहीं पर बैठूँगा। जूता ले आओ।"

मुकुंद उठकर आया पास के कमरे से निकलकर। कुछ देर वह उनकी बाते सुन रहा था। हाल ही में वह आया था वहाँ यूनिवर्सिटी बदलकर। वसंत से उसका कुछ परिचय था नहीं। उसे यह भी ज्ञात नहीं था कि वसंत कॉलेज का छात्र है।

एक पॉलिशवाले के मुख से संयत भाषा और शुद्ध उच्चारण सुनकर वह वहाँ पर चला आया। गोपाल ने कहा—"आओ मुकुंद चाय पियो।"

"धन्यवाद!" कहकर मुकुंद भीतर कुर्सी पर बैठ गया। गोपाल ने एक जोड़ा जूता निकालकर बाहर वसंत को दिया। उसे लेकर वसंत द्वार के एक ओर बरामदे में बैठ गया और अपना काम करने लगा।

चाय पीते-पीते मुकुंद ने गोपाल से वसंत का समस्त परिचय प्राप्त किया। फिर पूछा—"माता-पिता हैं नहीं क्या इनके?"

गोपाल ने उत्तर दिया—"हैं।" फिर उसने वसंत से कहा—"क्यों वसंत! पिताजी से आज्ञा ली थी तुमने?"

"वह कब देते?"

"तुम्हारे हाथ का छुआ खावेंगे? वह तो बड़े पुराने विचार के हैं।"

"मैं अलग रहने लगा हूँ।"

मुकुंद चाय पीकर उठा। अपने कमरे में जाकर एक जोड़ा जूते का निकाल लाया वह भी। बोला—"आपका यह विचार बहुत उत्तम है। भगवान् आपको बल दे, जिससे समाज में फैला हुआ एक ग़लत विश्वास दूर हो। एक जोड़ा मेरा भी पॉलिश कर दीजिए, कृपा कर।"

"बड़ी प्रेम-भरी वाणी आप बोले। पॉलिशवाला है तो क्या? समता का व्यवहार होना चाहिए न उसके साथ भी। शिष्ट वाणी बोलनी चाहिए न उससे भी।"

"आदत तो बनाई जाती है न? तुम्हारे जैसे कुछ भी पढ़े-लिखे

व्यक्ति ये काम करने लगें, तो लोगों को सबसे ही सभ्यता और समानता से बर्ताव करने का अभ्यास पड़ जाय।" मुकुंद ने अपने जूते का जोड़ा वसंत के समीप रखते हुए कहा।

गोपाल बोला—"तुम्हें यह एक ऐसी अजीब बात सूझी है वसंत कि एक सप्ताह में ही तुम्हारा विज्ञापन हो जायगा। लोगों को तुम्हें काम देने में आनंद आवेगा।"

मुकुंद ने कहा—मेरी राय मानो, तो तुम्हें जूतों की मरम्मत भी करनी आरंभ करनी चाहिए। थोड़े से अभ्यास से, मैं समझता हूँ आ जायगा।"

"धीरे-धीरे करूँगा सोच रहा हूँ।"

"इतवार है आज नखास चले जाओ, और आवश्यक औज़ार वहाँ से ले आओ, सस्ते ही मिल जावेंगे।" गोपाल ने कहा।

"ठीक है, यही करूँगा।"

लक्खन, बिहारी, गुप्ता, ब्रजेन एक के बाद दूसरा लड़का चला आया उस विंग का वसंत के पास। सबने उसे घेर लिया, मानो कोई मदारी खेल दिखा रहा हो। सबने उसके नए पेशे के साथ समवेदना दिखाई। किसी ने एक, किसी ने दो जोड़े उसे पॉलिश करने को दिए। पॉलिश आवश्यक न होने पेर भी कुछ लड़कों ने उसके सामने जूतों को ला-लाकर रख दिया।

"ऐसे नहीं।" वसंत बोला—"करल-मिल जावेंगे जूते। मुझे ढूँढ़ने में कष्ट होगा। आप लोग अपने-अपने कमरों में ले जाइए। मैं एक-एक कर या दो-दो कर अपने आप ले आऊँगा।"

हॉस्टल में उपस्थित प्रत्येक लड़के ने उसे पॉलिश करने को दिया। कम-से कम एक सौ जोड़े होगे। तीन बजे तक वह यहाँ कठिन परिश्रम करता रहा। तीन-एक रुपए के सिक्के बटोरकर, चला। बड़ी ज़ोर की भूख उसे सता रही थी। हॉस्टल के बाहर आकर कुछ फल खाए उसने। हॉस्टल के लड़कों के खिलाने-पिलाने के समस्त

आग्रह को उसने माना नहीं। कहने लगा—"कोई पॉलिशवाले को खाना, फल-फूल, चाय नहीं देते। मैं भी नहीं लूँगा। नहीं तो उस परंपरा में आघात होगा।"

खा-पीकर जब वह स्वस्थ हुआ तो उसने पैदल ही नखास जाने का विचार किया। चला वह। नखास पहुँचकर घूमते-घूमते एक दूकान के सामने खड़ा हुआ। भीड़ अधिक थी नहीं।

दूकान में एक ओर कुछ अगरेज़ी के उपन्यास सजा रक्खे थे उसने। उसके पास ही एक नहाने के टूटे टब में कुछ रंगीन मुखपृष्ठ वाले मासिक पत्र थे। बीच में उसने एक कपड़ा बिछा रहता था उस पर कुछ टूटी हुई फाउनटेने, घड़ियाँ, बटन, रंगीन काँच के मोती, पुराने चश्मे रख रक्खे थे। इसके बाद चमकाकर कुछ पीतल रक्खा हुआ था। कुछ परदों के रिंग, दराजों के दस्ते, नल की टोंटियाँ, फौजी ब्राउन कोटों के बटन, बकसुए, सिपाहियों के कंधे पर के नंबर आदि। उनसे मिला हुआ चीनी और तामचीनी का सामान उसके पार्श्व में लोहा लगा हुआ। पेच-परेक, जंग लगी रेतियाँ, हथौड़े, दाँत टूटी आरियाँ, ग्रामाफान का साउडबॉक्स टूटा हुआ एक, घोड़ों और मनुष्यों के पैरों की घिसी हुई नालें, कुछ मोटरों के टूटे-फूटे छोटे-छोटे पुरज़े, एक अलार्म घड़ी की घंटी आदि के बीच में एक लोहे का टूटा हुआ मोचियों का पैर भी था। उसके पास, एक चमड़े के बकस में मेम लोगों के भाँति-भाँति की छाँटों के स्कर्ट, ब्लाउज़, अंडरवियर, ऊन के पुलओवर, सिर की टोपियाँ थीं। बकस के बाहर ऊँची एड़ी के कई जोड़े जूते भी सजा रक्खे थे। पीछे एक सिरे से दूसरेतक फिर पॉलिश और वार्निश कर फ़रनीचर रक्खा हुआ था। फरनीचर के ऊपर दो आइने और एक दर्जन छोटे-बड़े, तस्वीरों की चौखटें। चौखटों में अधिकांश रंगीन चित्र थे, विदेशी जीवन के। एक टूटी क़लई का बाथरूम जग, दो मिट्टी तेल के ६ इञ्च चौड़ी बत्ती के स्टोव भी एक मेज़ पर रक्खे हुए थे।

दूकानदार एक बेत के टुकड़े के सिरे पर एक रूमाल बाँधकर, चीज़ों पर बैठी हुई धूल को फटकार रहा था। उसकी आँखों में ताज़ी रेखा सुरमे की खिंची हुई थी और उसकी गहरी लाल मूँछों की जड़ों पर एक सूत ऊँची सफ़ेदी समभाव से उगी थी। पान चबाते हुए न-जाने वह किन मनसूबों में पड़ा था, वसत उसकी दूकान के सामने खड़ा हुआ, किताबों ने नहीं खींची उसकी दृष्टि। चमार की सुई, एक ओर से अपना एकांत तोड़कर बाहरी जगत से मिली हुई आँखवाली, उसके मन में गड़ी हुई थी। लोहे के पैर पर उसकी दृष्टि जमी। उसने देखा उसे, मानो पहचाना कि वह उसीकी कोई खोई वस्तु है। दूकानदार ने उसका टूटा हुआ पैर नीचे की ओर कर रक्खा था।

वसंत ने उस पैर को उठाकर पूछा—"इसके दाम ?"

"तीन रुपए।"

"तीन रुपये !"

"हाँ, तीन रुपए का तो लोहा ही है इसमें ! दस सेर से कम न होगा।"

"ऐसी मत उड़ाओ बड़े मियाँ। दस सेर ? हैं ! इसका तो पैर भी टूटा हुआ है।"

"दो पैर काफी हैं काम चलाने को।" बड़े मियाँ ने 'चलाने' पर पर्याप्त ज़ोर दिया।

वसंत ने उनके काव्य को समझकर उसकी दाद दी।

बड़े मियाँ प्रसन्न हो उठे कि गाहक समझदार है, बोले—"जो मुनासिब हो, दे दीजिए बाबू। क्या करेंगे आप इसका ?"

"जो काम है इसका, वही।"

"आप हँसी कर रहे हैं।"

"नहीं बड़े मियाँ ! राँपी, सुई, सँड़सी हथौड़ी भी है ?"

"नहीं।" बड़े मियाँ ने दुःख के साथ कहा।

वसत ने बटुए में से डेढ़ रुपया निकालकर बड़े मियाँ को

दिया—"ठीक है न ?"

"कम हो गया कुछ। आपकी ख़ुशी।" दाम रख लिए उन्होने।

वसंत ने एक दुअन्नी और देते हुए कहा—"लीजिए, आपको अप्रसन्न करना नही है मुझे।"

बड़े दिनों की इच्छित किसी वस्तु के मिल जाने मे जो प्रसन्नता होती है, वही वसंत को हुई। उसने उठाकर उसे कंधे पर रख लिया, ठीक फेरीवाले चमारों की भाँति !

बड़े मियाँ दूकान के बाहर उठकर आए ! चिथड़े बँधे हुए बेंत से दिखाकर बोले, "वह शरबतवाला बैठा है न नुक्कड़ पर, उसी लाइन में दो चार दूकान छोड़कर एक लोहेवाला नए-पुराने औज़ार लेकर बैठता है सभी तरह के। वहाँ मिल जायगा जो कुछ तुम चाहते हो।"

धन्यवाद दे उन्हें वसंत उधर ही चला। सुई को छोड़कर और सब कुछ मिल गया वसंत को वहाँ। सुई मार्ग मे बनवा ली उसने रकाबगंज के पास एक लोहार की दूकान में। कंधे पर रक्खा हुआ लोहा उसे पीड़ा पहुँचाने लगा था। वसत ने कहा मन मे—"अब क्या है ? अब तो इस पीड़ा को अपनी बनाकर रखना है। अभ्यास से जीवन में घुल मिल जायगी यह।" उसने एक कंधे के थक जाने पर दूसरा बदल दिया।

एक जोड़ा फटे हुए जूते का भी वह ख़रीद लाया नखास से, लोहे को छोड़ सब चीज़ें उसके थैले में थीं। वह दिनभर का हारा-थका घर की ओर जाना चाहता था, उसे याद आई कि कुछ चमड़ा भी मोल ले जाना चाहिए। मार्ग में ही उसने चमड़ा ख़रीदा और फिर अमीनाबाद आया कुछ कीले, धागा और एक पैसे का मोम भी मोल ले, गया गणेशगंज को।

एक बड़े स्पष्ट विज्ञापन की भाँति वसंत जा रहा था। कंधे पर पैर उसके, बग़ल में गोल लपेटा हुआ चमड़े का एक टुकड़ा, हाथ में थैला। उन सब भारों को वह बारी-बारी से बदलता हुआ चला जा रहा था।

कुछ जान-पहचान के लोग, जो उसे मिले, उन्होंने उससे बातें कीं। कुछ ने दूर से ही उससे आँखें चुरा लीं। कुछ ने उससे घृणा कर भूमि पर थूका। कुछ ने उसके नैतिक साहस की प्रशसा की—पर ऐसे थोड़े थे। कुछ एक ब्राह्मण के बेटे के इस पतन पर मन-ही मन बहुत प्रसन्न हुए। कुछ द्वेष के वश होकर उससे जलने लगे।

फ़तेहगंज से जब तमाखू लेकर भीखू लौट रहा था, जेब के पैसों की गिनती करते हुए, जब ताड़ीवाली गली उसे अपनी ओर खींच रही थी, दोनो हाथो से, तब वसंत भीखू के पास से होकर गया विरुद्ध दिशा की ओर। उसके जाने के बाद भीखू ने लौटकर देखा, वसत की लोहे से दबी पीठ भीड़ में मिल छिपने लगी थी।

भीखू ने कुछ अनुमान कर आवाज़ दी—"जनकू !" फिर मन-ही-मन बोला—"नहीं है वह !" फिर उसकी आँखे अवस्था के बनाए हुए गड्ढे से जैसे बाहर निकलने को हो उठीं। उसने दाहने हाथ की मुट्ठी ज़ोर से बाँधी, दाँतों को पीसा और कंधे पर के लोहे का संतुलन संभालकर वह ताड़ी पीने चला गया !

घर आने पर वसंत दोनों हाथ पैर छोड़कर तखत पर लेटा रहा कुछ देर। मुंशीजी से एक दृढ़ लकड़ी का टुकड़ा माँग लाया, रखकर चमड़ा काटने को। एक पत्थर भी ढूँढ़ लाया, राँपी तेज़ करने को। उसने लालटेन जलाकर उजाला किया। रोटी बनाकर खाई और दूकान में एक ओर अपना सामान सजाकर बैठ गया।

एक छोटे-से शिल्प से लेकर ऊँचे-से-ऊँचे साहित्य और कला के लिए भारतीय विचार गुरु की खोज करता है। वसंत को भी गुरु का भान हुआ। नखास और वहाँ से लौटते हुए मार्ग में, उसने दो-तीन चमारो से काम सिखा देने के विषय पर बातचीत की थी। कोई भी राज़ी नहीं हुआ। वे उसकी मज़ाक़ उड़ाने लगे। अधिकाश जो बोले, उसका मर्म यही था कि यह वसंत के वश की बात नहीं है। पढ़ा-लिखा बोझा नहीं ढो सकता। लोहा कंधे पर रख दर दर की धूल फाँकना

आसान बात नहीं। एक ने कहा—"कानपुर चले जाओ। वहाँ मिलेगा बढ़िया चमड़े का काम सीखने को। पढ़े-लिखे हो, आसानी से किसी फ़ैक्टरी में काम मिल जायगा तुम्हे। किसी दिन मशीनों पर काम करने लगोगे बहुत जल्दी, कमाई भी अच्छी होगी वहाँ। इस मरम्मती काम में क्या रक्खा है। नया काम करो साफ़, इस गंदे काम से क्या होगा।"

वसंत के विचार को वे चमार नहीं समझे। फ़ैक्टरी और मशीन इनको यथार्थ उन्नति के साधन नहीं समझता था। उसने किसी और कोने में गुरु की खोज करने को सोचा। उसे एकलव्य याद आया।

उस फटे हुए जूते के जोड़े को निकालकर उसने सामने रक्खा, जिसे वह नखास से मोल लेकर लाया था। "इसी जोड़े मे मेरे गुरु के चरण होंगे। मै अभी इसको सीकर पॉलिश कर नए के ही समान बना लूँगा।" उसने एक-एक कर दोनो जूते हाथ मे लेकर उनकी परीक्षा की। दोनों पंजो पर की सिलाई उधड़ गई थी उनकी और दोनों एड़ियाँ घिस गई थीं नीचे से। वैसे जूते में बहुत मरम्मत थी नहीं—सोल ठीक ही थी, ज़रा-सा दाहने में एक चाँदी की दुअन्नी के बराबर छेद हो गया था।

तागा बटकर वसंत ने उस पर मोम रगड़ा। राँपी और सुई तेज़कर बैठ गया वह, उस जूते की मरम्मत करने को।

घर लौटते-लौटते भीखू को ख़ूब रंग चढ़ा हुआ था। परंतु उसे बहुत कम नशा अपने क़ाबू में करता था। हुसैनगज के चौराहे पर जब वह आया। जीरे के जलवाले को जब उसने एक कुल्हड़ भरता हुआ देखा, तो याद आई उसे दवा की। छोटे लड़के को उसके बुख़ार था कई दिन से। अपने-आप अच्छा हो जायगा, यह समझते रहे उसके माता-पिता दोनों। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। एक होमियोपैथ प्रायः मुफ़्त ही उसे दवा दे देते थे। चुनिया ने आज उनके यहाँ से दवा ले आने की विशेष प्रार्थना की थी।

"दवा भूल आया ?" भीखू का नशा टूटा कुछ देर को। बड़-बड़ाता हुआ चला वह—"अच्छा हो जायगा कल को वह अपने-आप ही। मौसम ख़राब है। सरदी लग गई थी उसे, बदपरहेज है, आम खा दिए उसने। कह दूँगा डॉक्टर साहब मिले नहीं।" भीखू गली में को बढ़ा।

चुनिया चबूतरे में भीखू के ही पथ में आँखे बिछाए बैठी थी। पास ही चारपाई पर उसका लड़का ज्वर में उतप्त पड़ा हुआ। माँ एक हाथ से उसके पंखा कर रही थी और उसे ढाढ़स बँधा रही थी—"दवा लेकर आ पहुँचेगे अभी वह, दवा खाओगे और कल को ठीक हो जाओगे।"

भीखू दिखाई दिया कुछ देर बाद गली मे आता हुआ। भारी लोहे में कंधा दिए और हाथ मे एक थैला सँभाले। चुनिया को धीरज हुआ। भीखू के आँगन में पैर रखते ही उसने पूछा—"दवा लाए ?"

सुनी-अनसुनी कर भीखू ने बेटे के माथे पर हाथ रखकर पूछा—"रमइ, कैसे हो बेटा ? बुख़ार उतरा नहीं ?" उसने थैला भूमि पर रख दिया था।

"नहीं उतरा।" रोता हुआ रमइ बोला।

"दवा लाए नहीं ?" कुछ करुणा और शेष शासन-भरे स्वर में पत्नी ने पूछा।

"झूठ न बोलूँगा चुनिया ! नहीं लाया दवा।" कंधे पर का लोहा उतारकर भीखू ने भीतर एक कोने में रख दिया, थैला भी। तमाखू की पुड़िया बाहर एक आले में जमा दी। जेब से चाय का बंडल निकाल-कर चुनिया को देते हुए बोला—"लो यह चाय का बडल।"

"फेंक दो, क्या करूँ मैं इससे ?"

"गोल मिरच होगी घर में। चाय बनाओ, उसमें पीसकर कुछ गोल मिरच छोड़ दो। रमइ को पिला दो और ओढ़ा दो कुछ। पसीना उतर जायगा और बुख़ार निकल जायगा, समझीं।"

"बड़े इलाजवाले बनकर आए हैं ?"

भीखू चुपचाप चिलम ढूँढकर तमाखू की पुड़िया में हाथ डाल रहा था, चुनिया बोली—"तुम्हें ताड़ी पीने की याद रही और बच्चे के लिए दवा लाना भूल गए ?"

"अरी पगली, सुक्खन के बाप मिल गए । बड़ी पुरानी जान-पहचान है मेरे साथ ।" चिलम में तमाखू जमाता हुआ बोला—"बेटा नौकर है कानपुर की किसी मिल में, बड़ी सेवा करता है पिता की। सभी हमारे-जैसे बेटे नहीं। यह उमर थी हमारी कि मरते समयतक फेरी करते रहें ! अगर बेटे की समझ पर पत्थर न पड़े होते तो—। हाँ, ज़बर्दस्ती खींच ले गए। दोस्त का कहना कैसे टाला जा सकता था। मेरी दूकान पर भी तो नौकरी की थी उन्होंने कुछ दिन। तुम्हें याद नहीं ?"

चुनिया को कोई आकर्षण न था पति की कहानी में। वह रमई के पंखा करने में दत्तचित्त थी। कुछ न बोली।

भीखू पत्नी के और भी समीप गया। पाँचों उँगलियों से चिलम में का तमाखू दबाते हुए बोला—आग है ?"

"धरी है, क्या-क्या कर लेगी समझते हो तुम ? रमइ बुख़ार में पड़ा कराह रहा है। किसका जी लगा चूल्हा जलाने और अपने खाने को करने को।"

"अरी क्यों फिकर करती है ठीक हो जायगा। घर-घर लोग बीमार हैं। हवा ही कुछ ऐसी चली थी।"

"मेरे खाने को कुछ भी भूख नहीं है। तुम बाज़ार से लाकर खा लेना।"

"आजार-बाज़ार से कुछ न लाऊँगा। तू बैठी रह यहीं रमइ के पास। मैं अपने-आप कर लूँगा रोटी। साग-पात है कुछ ?"

"लाए थे ?"

"मुझे मालूम न था। जाने दे अचार रक्खा है, उसी से खा लेंगे।"

कहता हुआ भीखू रसोई में पहुँचा। दियासलाई रगड़कर उसने बत्ती को दिखाई मिट्टी के तेल की। धुआँ देते हुए उजाला किया उसने।

पड़ोसी इक्केवान उनका, नल पर से दाने की बाल्टी में पानी भर-कर ला रहा था। अंदर झाँकते हुए बोला—"आ गए भीखू दादा!"

'हाँ भइया।" तेल की कुप्पी में से चूल्हे की लकड़ियों में कुछ तेल गिराते हुए भीखू ने जवाब दिया।

"कैसी है रमई की तबीयत?" बाल्टी भूमि पर रखकर बोला वह।

"ठीक हो जायगी भइया। खोल दिया घोड़ा?"

"हाँ, दवा खिला रहे हो?"

चुनिया कुछ बड़बड़ाने लगी थी। अब स्पष्ट बोली—"दवा खिला रहे हैं यह?"

चुनिया को नाराज़ देखकर इक्केवान ने कहा—"फिकर न करो भौजी। ठीक हो जायगा एक-दो दिन में। कितने दिन हो गए आज?" बाल्टी उठा ली उसने और रुककर उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा।

"चार दिन!" भीखू ने कुप्पी की लौ लकड़ी से छुवा दी थी। चूल्हा जल उठा।

"चार दिन! अः कोई फिकर नहीं।" इक्केवान चला गया।

चुनिया बोली—"कैसी बदबू फैला दी, बीमारी में भी किसी को चैन नहीं लेने देते।"

भीखू चुप-चाप रहा। आग जलाकर उसने चिलम भरी और स्त्री-पुत्र के निकट भूमि पर बैठ गया नारियल लेकर, लगा गुड़गुड़ाने। आग पर एक पतीली में पानी भरकर रख आया चाय के लिए।

"तुझसे कहूँगा-कहूँगा सोच रक्खा था। भूल भूल गया। जान पड़ता है, भीखू की ये रूखी रोटी भी छीन लेंगे।" भीखू ने फिर नारियल की नली मुँह में ली।

चुनिया के मन में चिंता डाल दी उसने, रिस और मान निकल भागा उसमें से जैसे चलनी में का पानी।

"कैसे बच्चे को पालेंगे और कैसे अपने अंतिम दिन पूरे करेंगे। और हाँ भीखू को कोई बेईमान नहीं समझे, कैसे भीखू जिनका देना है उनका देकर परलोक का बोझा कम करेगा।" उसने फिर गुड़गुड़ाना आरंभ किया।

इस प्रकार आधी खुली बात ने चुनिया को बड़ी गहराई में डुबा दिया। रह न सकी वह, बोली,—"कुछ कहोगे भी?"

"क्या कहूँ—जान पड़ता है अब दिन इस प्रकार भी न कटेंगे। उतनी अच्छी दूकान चलती थी। बीस आदमियों के कुटुंब पलते थे! ऐसा दिन दिखाया भगवान् ने। ऐसा भी अधिक न चल सकेगा। इच्छा उसकी।"

"उसकी इच्छा क्या। तुम्हारे ही कर्म बोल रहे हैं।"

"जब से उस जूते की दूकान में आग लगी और मेरा चार हज़ार रुपया मारा गया। तब से ही बराबर घाटा हुआ।" भीखू ने फिर तमाखू पिया। "बात यह है चुनिया", जेब से पाँच आने के पैसे निकालकर उसने उसके सामने रख दिए—"पढ़े-लिखे भले घर के जूता गाँठने की फेरी करने लगे हैं।"

"दारू पी रक्खी है तुमने। बक रहे हो! और पैसे कहाँ हैं?"

"बस यही हैं जो कुछ हैं। दो पैसे का तमाखू और एक चाय का बंडल। खिलाया-पिलाया सब दोस्त ने ही। जब जब मैंने जेब में हाथ डाला उन्होंने रोक दिया। सारी यूनिवर्सिटी घूमा बस यही कमाया। हॉस्टल का एक कहार कहता था, भीखू पढ़-लिखकर अब बाबू लोग जूतों का काम करने लगे। एक बाबू आज दिन-भर यहाँ जूते बनाता रहा, लड़कों की भीड़ ऐसी लग गई उसके पास जैसे गुड़ पर मक्खियाँ भिन-भिनाने लगती हैं। एक लड़का भी तो छूटा न था, जिसने उसे काम बनाकर पैसा नहीं दिया। भीखू आज यह पढ़े-लिखे जूता बनाने लगे हैं, कल को चौका-बासन में हाथ मारेंगे फिर हमें तुम्हें कौन पूछेगा—हम क्या करेंगे कैसे पेट भरेगा।"

"तुम सच कह रहे हो न ?"

"राम जाने चुनिया, अभी दीपक जलाया है जैसा सुना वही। एक अक्षर भी तो मैंने अपनी ओर से नहीं जोड़ा।" भीखू उठने लगा—"पानी उबल रहा है।"

"बैठो तुम यहीं रमइ के पास। आँख लगी है उसके। मै कर लूँगी सब।" चुनिया ने चाय की पत्ती छोड़ बर्त्तन भूमि पर उतारकर ढक दिया। चूल्हे की लकड़ियाँ खींचकर बाहर कीं। दो-चार दाने आलू के लाकर भीखू के समीप बैठ गई और उन्हें छीलने लगी।

भीखू ने इतनी देर में कुछ और याद कर लिया था—"एक मुझे मिला भी फ़तेहगंज में—सुंदर गोरे मुँह का, साफ़ बढ़िया कपड़े पहने। कंधे पर देखता हूँ, रक्खे हुए है लोहे का पैर। मैं उसे अच्छी तरह पहचान न सका, चल दिया था। लेकिन जब मेरा ही पेशा करने चला है तो जायगा कहाँ ? एक दिन मिलेगा। पहले समझा दूँगा कि भाई तुम पढ़े लिखे हो, बीस काम तुम्हारे करने के हैं, मेरे रास्ते से हट जाओ। जब—"

चुनिया को अब यह बड़-बड़ अच्छी नहीं लग रही थी, बोली—"हो गया बस जो भी भाग्य में होगा भुगत लिया जायगा।"

"हो क्या जायगा!" भीखू ने दूर रक्खे हुए नारियल पर फिर हाथ रक्खा, फिर कुछ सोचकर हाथ खीच लिया—"अगर मेरी आढ़त में इन्होने पैर रक्खे तो मैं इनका हुलिया बिगाड़ दूँगा।"

रमई बोला—"अम्माऽऽऽ"

"हाँ बेटा।" चुनिया ने जाकर उसके माथे पर हाथ रक्खा।

"रोटी।" लड़का बोला—"भूख लग गई।"

"दूँगी, अभी पकाती हूँ। चाय पियोगे ?"

"हाँ।"

चुनिया आलू छोड़कर चाय बनाने गई। भीखू ने रमई के सिर-हाथ पर अपना हाथ रक्खा और बोला—"बुखार तो नहीं जान पड़ता

अब।"

"पिसी गोलमिरच छोड़ दी थी तुमने इसमें?"

'हाँ।"

"छै बजे के लगभग ख़ूब पसीना हुआ इसे।"

रमई फिर बोला—"रोटी, अम्मा!"

"अभी ताज़ी बनाकर देती हूँ बेटा।"

रात में बड़ी देर जूते की मरम्मत कर वसंत ने उसी समय उस पर पॉलिश की। मेज़ पर सजाकर उसने उसे रख दिया और सोते-सोते कहने लगा—"काम को काम सिखा देता है। गुरु की कल्पना अहंकार का दलनकर नम्रता लाने के लिए है। नम्रता को पाकर ही प्रकृति अपने रहस्य की चाबियाँ देने लगती है।"

दूसरे दिन सोमवार था। सुबह ही उठ गया वसंत, तब तारों ने अपनी चमक खो नहीं दी थी। शौच-स्नान की निवृत्ति पर उसने गीता का पाठ किया। फिर कुछ कच्चे फल और भिगोया हुआ अन्न खाकर पानी पिया। फिर वह अपने काम में लग गया। उसने गुरु का जूता उठाकर उसमें कुछ छील-छाल की, एड़ियों पर—एक हाथ बुरुस का और मारा उस पर। जूता चमकने लगा। वसंत ने फिर उसे रख दिया सजाकर मेज़ पर!

"किसका जूता होगा यह? मैं इसके आजतक के पहननेवाले की केवल कल्पना करता हूँ। जिसे मैंने इसे पहनाया है वह भी कल्पना-जगत् की वस्तु हैं। एक आत्मा की छोड़ी हुई देह में जैसे कभी कोई दूसरी आत्मा घर बना लेती है, वही उपमा क्या इसके संबंध में नहीं हो सकती? इसका पहननेवाला नहीं जानता कि उसके द्वारा परित्यक्त यह जूता मेरे यहाँ प्रतिष्ठा का प्राप्त हुआ है।"

"धूल, काँटे और ताप से हमारी रक्षा करनेवाला जूता, हम उसे आदर क्यों देते नहीं? जब हम सुंदर बिछौने की ओर बढ़ते हैं, तो उसे दूर ही उतारकर रख देते हैं। हमारे वह कष्ट का साथी, हम

उसे ऊँचा आसन नहीं देते? क्योंकि वह मलिन है, अधिक स्पष्ट शब्दों में हमने उसे मलिन बना रक्खा है।"

वसंत के दोनों कंधे दुख रहे थे, पर उसका ध्यान कहीं दूसरी जगह स्थित था। इस कारण उसे वह बाधा उतनी कष्टकर नहीं बोध हो रही थी। यही होता भी है। पीड़ा पर विचार का जम जाना ही उसे बढ़ा देता है, विस्मृति ही उपशमन है।

सब के पहले ही वसत पहुँच गया कॉलेज के फाटक पर। एक ओर उसके, भूमि पर अपना आसन जमा लिया उसने। थैले में से लकड़ी-पत्थर की सिल्लियाँ निकालकर सजाई उसने, एक ओर को औज़ार रक्खे, एक ओर चमड़ा, कीलें-तागा। मोम उसने जेब में रख लिया। लोहे का पैर अपने सामने। ख़ाली बोरा भूमि पर अपने बैठने के लिए बिछा दिया। एक छिछला बैनाकार टिन भी साथ लाया था वह, शायद विदेशो से आई हुई मछली का था। उस टिन में पानी भरकर ले आया वह।

वसंत बिलकुल तैयार होकर बैठ गया, अपनी चलती-फिरती दूकान पर। उसने नामरूप में अस्पष्ट गुरु का ध्यानकर बाँया कान पकड़कर छोड़ा फिर हाथ जोड़े दोनों, क्यों? वह नहीं जानता। ऐसा करते हुए उसने एक चमार को देखा था एक दिन, दिन का कार्य आरंभ करते समय। उपचेतना ने यह प्रेरणा दी थी उसे। अवकाश पाकर उसने एक पैर कुछ फैला दिया और अँगूठे पर लपेट तागा बटने लगा।

सबसे पहले आए हड़तालियों के सरदार। वसंत को उस अजीब संसर्ग में घिरा हुआ बैठा देखकर वे वहीं खिंच आए। उनको आता देख, वसंत ने आवाज़ दी—"बनाऽइ जुतोऽ"

सभापति की बग़ल में एक कापी थी। पहले वह ही बोले—"वसंत! क्या हो गया तुम्हें?"

"देख लो भाई! छिपाकर कुछ भी नहीं रक्खा है।"

मंत्री बोले—"प्रोफ़ेसरों के घेरे में कुछ और बात फैली है।"

वसंत ने बटे हुए तागे का एक सिरा दाँतों में दबा लिया था, दूसरा दोनों हथेलियों में बट रहा था। एक तरफ़ के खुले दाँतों में से ही बोला—"होगी।"

कार्यकारिणी के एक सभासद ने कहा—"आपने उस दिन पार्क-वाले व्याख्यान में कुछ छीटे कुछ प्रोफ़ेसरों पर भी तो फेंके थे। इसी से।"

सभापति ने कुछ याद-सा किया, कापी हाथ में ले उससे अपने मस्तक का स्पर्श करते हुए। उन्हें आई कुछ याद की झलक-सी, वह हँसे ख़ूब खिलखिलाकर।

वसंत ने बटे हुए तागे पर मोम माँजते हुए कहा—"क्यों सभापति महोदय, कॉलेज के क्लास में जाने का इरादा कर आए हो न घर से?"

कुछ हँसे वह—"कैसे कहते हो?"

"साइन्स के प्रेक्टिकल की कॉपी जो लिए हो हाथ में।"

"कॉपी नहीं, यह तो हमारी मिनिट बुक है। हड़ताल की सारी कार्रवाई लिखी गई है इसमें। देख लो।" पर सभापति ने कापी दी नहीं वसत को।

"मैं कुछ और समझा था।" वसंत ने कटाक्ष किया।

"क्या?"

"यही कि"—वह फिर चुप हो गया।

"कॉपी उस समय कहाँ से आती। यह प्रेक्टिकल की कॉपी थी मेरे पास। हमने इसमें ही उल्टी तरफ़ से लिखना आरंभ कर दिया। लेबिल लगा देंगे इधर, तो सीधी हो जायगी।"

"हड़ताल एक असफलता रही। देख रहे हो न स्पष्ट। कॉपी सीधीकर तुम भी दरजे में चले जाओ। मंत्री महोदय आप भी कोई किताब छोटी-सी छिपाकर रख ला रहे हैं न जेब में, झट से कैप बदल लेने के लिए। फाउंटेन आपकी जेब से अपना सिर बाहर निकाले हुए

है ही !" वसंत ने कहा ।

हँसने लगे सब । बात यह झूठी थी नहीं । अनेक सरदारों के पास छिपाकर रक्खी हुई किताबे और नोटबुक थीं । और वे एक दूसरे को देखते हुए क्लास में पदार्पण कर लेने के निश्चय के साथ आए थे घर से । सरदार होने की लाचारी मे उप-पथ ग्रहण नहीं किए थे उन्होंने ।

वसंत ने पूछा—"असली सरदार नहीं आए ? बीमार सभापति मे मेरा अर्थ है ।"

स्थानापन्न सभापति बोले—"एक अर्ज़ी भेजनेवाले हैं सुना है वह, प्रिंसिपल के पास, डॉक्टर के हस्ताक्षरों के साथ ।"

वसंत बहुत ज़ोर से हँसा ।

मंत्री बोले—"हम तो इनका काम आगे बढ़ाने में अपनी सब कुछ बलि दें और यह इस तरह कपट करें ।"

सभापति—"ऐसा तो क्या करेंगे वह ? अभी कुछ कहा नही जा सकता, जबतक यह बात साबित नहीं हो जाती अच्छी तरह ।"

मंत्री ने घड़ी देखकर कहा—"किसी का भी पता नहीं है । लज्जा ही नहीं है उन्हें ।"

सभापति ने कहा—"जैसे हम यह सब कुछ अपने स्वार्थ के लिए कर रहे थे । चलो वसंत, हम भी चलें क्लास में ।"

"मेरा निश्चय बहुत विचार के बाद हुआ है, मुझे मत बहकाओ । तुम्हारी इच्छा जाने की है तो कौन रोक सकता है ? केवल नैतिक प्रतिबंध के सिवा और कहीं कुछ नहीं ।" डोरा सँभालकर वसंत ने रक्खा, जो घर से बटकर लाया था, उसी के साथ । उसने फिर घोषित किया—"बनाऽ इ जुतो ऽ"

प्रचार-मंत्री बोला—"पहले मैं यह समझा था वसंत, जैसे तुम इस विदेशी शिक्षा-पद्धति के चलते-फिरते कार्टून बनकर आए हो । पर तुम्हारे भाव और वाणी की गंभीरता, तुम्हारे सामान की परिपूर्णता देखकर मेरा विचार बदल गया । मेरे जूते में हाफसोल लगाओगे ?"

"क्यों नहीं ?" वसंत ने प्रसन्नता से कहा—"बैठा ही इसलिए हूँ यहाँ पर। स्वाँग नहीं बनाया है कोई।"

प्रचार-मंत्री ने जूता खोलकर दे दिया वसंत को। वसंत बड़े मनोयोग और परिश्रम के साथ उस जूते की मरम्मत करने लगा।

क्लास आरंभ होने को आधा घंटा रहा। किसी हड़तालिए की छाया का पता नहीं था उस मार्ग से। एक-दो अवश्य आ गए थे उस भीड़ में। सभापति ने कहा—"चलो भीतर देख आवें।"

एक-दो बोले—"नहीं, हमने तो वहाँ जाने की पवित्र सौगंध ले रक्खी है हम न जावेंगे।"

कुछ लड़कों के साथ सभापति गए भीतर देखने।

लड़कों की भीड़, कॉलेज को जानेवाली, बढ़ने लगी थी उस मार्ग से। वे सब हड़तालिए न थे। बड़ी घृणा और अस्पृश्यता के भाव से वे उस छोटे से छात्रों के झुंड की ओर देख रहे थे, जो वसंत के आस-पास जमा थे, वे फिर बहुत-से लड़कों को साथ लेकर दूर से झाँक रहे थे, हड़तालियों को तो नहीं, वसंत को जूता गाँठते हुए।

कितने स्वाभाविक ढंग से वसंत बैठ गया था वहाँ पर, मानो कई पीढ़ियों से मिला हुआ पेशा है वह उसका। दोनों पैरों के बीच में जूता भिगाकर दबा रक्खा था उसने। किस सहज भाव से वह घुमा-घुमाकर सुई को छेद रहा था चमड़े में। सुई के दाँत में उधर का डोरा दोहरा खींचकर इस तरफ के डोरे में गाँठ ले रहा था। बीच-बीच में लकड़ी पर रक्खे हुए एक चमड़े के टुकड़े में वह तेज़ कर ले रहा अपनी सुई को।

ताँगे में प्रमोद आया। उतर गया वसंत के पास। एक और भी छात्र बैठा था उसके साथ, राय साहब का लड़का, सीधा कॉलेज के भीतर को चला गया।

"आज तो और भी पूरे साज़ व सामान के साथ हो तुम।" प्रमोद ने कहा।

भवानी ने पूछा—"किताबें कहाँ हैं ?"

प्रमोद ने उत्तर दिया—"किताबें ? अरे जो कह दिया हज़ारों की भीड़ में, जो लिख दिया—पढ़ा हज़ारों ने, उसमें अंतर आने दिया तो फिर मनुष्यता ही क्या रही। अपनी कहो, जाते क्यों नहीं—तुम्हारे चाचा का लड़का तो गया।"

"जावे वह, मैं अपनी जानता हूँ।"

प्रमोद ने प्यार से उसका हाथ पकड़कर धीरे-धीरे पूछा—"क्या सच जॉइन नहीं कर रहे हो ?"

"नहीं।" दृढ़तापूर्वक कहा भवानी ने।

"फिर क्या करोगे ?"

"स्वदेशी धंधा खोलूँगा।"

भगवान् कॉलेज की नाटक-मंडली का नायक था। कुछ चित्रकला से भी प्रेम और कुछ हारमोनियम पर भी अँगुलियाँ दौड़ा लेता था। मिलनसार—पढ़ने-लिखने में अच्छा, बी० ए० पास कर चुका था। प्राचीन भारत का इतिहास लेकर एम० ए० में अध्ययन कर रहा था। कॉलेज के उत्सवों में वह नाटक तैयार कर खेलता था। नाटक की ही धुन थी उसे जीवन के लिए। वह भी बोला—"मैं भी जाकर किसी नाटक-कंपनी में नौकरी कर लूँगा। देश में हित के विचार फैलाने के लिए रंग-मंच किसी भी और साधन से कम नहीं है।"

भैरव चुपचाप बैठा हुआ था अबतक, वसंत, की कारीगरी का अवलोकन कर रहा था, कहने लगा—"वसंत इसके बाद मेरे जूते की बारी होगी।"

"निस्संदेह।" वसंत ने कहा।

प्रमोद ने कहा—"क्यों भैरव ! तुम तो क्लास में नहीं जाओगे, मैं जानता हूँ। तुमने पहले ही नौकरी के लिए चार जगह दरख़्वास्तें दे रक्खी हैं।"

भैरव—"वहाँ तो जाने का विचार नहीं है अब। एक बहुत बड़ी

प्रकाशन-कंपनी का प्रेस खुल रहा है, वहाँ काम करूँगा।"

"कंपोज़िटरी ?" भगवान् ने प्रश्न किया।

"नहीं, अख़बार भी तो निकल रहा है उनका दैनिक। किशन-चंदजी ने कहा है हम तुम्हें प्रूफ़रीडरी दिला देंगे, ख़ाली समय में कुछ क्लर्की भी करनी पड़ेगी। और घर से आते-जाते विज्ञापन-विभाग के लिए आर्डर भी लाने पड़ेंगे।"

"अर्थात् सिर, कंधे, गर्दन, हाथ-पैर सब जगह बोझा धर दिया जायगा।" प्रमोद ने हँसकर कहा—"सुना है, संस्था राष्ट्रीय बुनियाद पर खड़ी होगी ?"

भैरव ने इस बात का कोई उत्तर न देते हुए कहा—"परिश्रम कर सका, योग्यता दिखाने का अवसर मिल गया, तो संपादकीय विभाग में घुस पड़ने का सुयोग मिल जाय कदाचित्।"

कॉलेज आरंभ हुआ। पाँच-चार लड़के और आए भीतर से। सभापति और मंत्री तथा और भी बहुत-से लड़के जिनके लौट आने की आशा की जाती थी, नहीं आए।

प्रमोद ने कहा—"नहीं आए हड़ताल के कर्णधार, कहाँ है ?"

"क्लास में।" एक ने कहा।

"असली सभापति की अरज़ी आई है दफ़्तर में, छुट्टी के लिए।"

वसंत राँपी से चमड़ा काटते हुए बोला—"मैं समझ गया था, तभी जब मैंने उनकी जेबें किताबों से भारी देखी थीं।"

फाटक की दीवाल में सब लड़के बैठ गए थे। वसंत के पास जूतों की मरम्मत के कई पेशगी आर्डर जमा हो गए थे। वह हाथों से परिश्रम करता हुआ, उन छात्रों की बातचीत में पूरा-पूरा भाग ले रहा था।

घटेभर में ही कॉलेज के हड़तालिए लड़के, जिन्होंने कॉलेज में फिर प्रवेश नहीं किया, वसंत के पास से उठकर चले गए। हड़तालियों की बहुत बड़ी संख्या कॉलेज में प्रविष्ट हो गई थी।

हड़ताल के स्थानापन्न सभापति को बीच में एक घंटे का अवकाश

था। फाटक की ओर झाँका उसने। वसंत को अकेला अपने काम में निरत देखकर वह उसके पास चला आया। वसंत ने देख लिया था उसे आते हुए, कोई विशेषता नहीं दी उसके आने को। चुपचाप गर्दन नीची किए अपना काम कर रहा था।

"कुछ मरम्मत मेरे जूते में भी है वसंत।"

वसत ने उसकी ओर देखा। उसके मुख मे विवश हँसी फूट पड़ी।

"क्यों हँसते क्यो हो? कॉलेज के बिना तलब किए ही उन्होने क्षमा माँगी है प्रिंसिपल से।"

"सभापति ने?"

"हाँ।"

"चलो जो भी है सब ठीक है।"

"कहना मानो वसत।"

"कुछ मालूम हुआ? कुल कितने अनुपस्थित हैं आज कॉलेज में? बिना प्रार्थना-पत्र के?"

"लगभग चालीस।"

"उस सूची में हस्ताक्षर किए थे दो सौ लड़को ने। मैं सोचता हूँ इन चालीसों में भी आधी संख्या कोई-न-कोई बहाना बना कल को हाजिर हो जायगी कॉलेज में।" वसत ने कहा—"तुम भी भरती हो गए, इतने शीघ्र, मुझे विश्वास न था।"

"छोड़ो इसे, अब यह एक पुरानी कहानी हो गई!"

"निस्सदेह! कुछ लड़के यहाँ पर बैठे थे।"

"कौन-कौन?"

"वही प्रमोद, भगवान्, भवानी, नंदा, प्रसेन, भैरव आदि। दो-तीन ने मुझसे जूते भी बनवाए यहाँ बैठे-बैठे।"

"वह घर को गए या कॉलेज को?"

"इस फाटक से तो नहीं घुसे कॉलेज में, वैसे भगवान् जानें।"

"देखता हूँ, इस हड़ताल में एक बहत आदर्श जीवन की बलि

दे दी गई।"

वसंत अपने स्वरूप को देखकर कुछ चौंका। उसने स्थिर होकर पूछा—"कैसी ?"

सभापति उदास होकर कुछ सोचने लगा था।

वसत ने फिर कहा—"अगर बलिदान में सत्य है तो एक भी फलदायक हो सकता है। सत्य गणित की बुनियाद पर स्थिर नहीं। मेरा मतलब है—भिन्न भिन्न विचार और मनसूबों के, भिन्न-भिन्न दिशाओं पर आघात करनेवाली एक सौ की सख्या से एक ही सख्या, केवल यदि अपने विचार, अपने प्रतीक, अपनी प्रतिमा और अपने केंद्र में स्थिर है तो उनसे अधिक शक्तिशाली है।"

"नहीं वसंत, उठो हम नही मानेंगे। मैं उन हड़ताल के बाद संधि करनेवाले छात्रो का नायक होकर तुम्हारे पास आया हूँ। उन्होंने तुम्हें खींचकर कॉलेज के भीतर ले आने की प्रार्थना की है।" उसने वसंत का हाथ पकड़कर उसे उठा लिया। वह उसको खींचकर कॉलेज के भीतर ले जाने लगा।

"हाथ छोड़ दो भाई ! क्या पागल हो गए हो ? मैं काम कर रहा हूँ।" वसंत ने अपना हाथ छुड़ा लिया।

"प्रिंसिपल साहब ने भी कहा है।"

"वसत केवल अपनी प्रेरणा को मानता है। क्योंकि यह जीवन मेरा है—मैं चाहूँ जो खेल इससे खेलूँ।" वह अपने आसन पर बैठकर हँसते हुए बोला—"तुम तो कहते थे, मेरे जूते की मरम्मत कर दो। कहाँ यह दूसरा ही गीत गाने लगे।"

सभापति चला गया, हतप्रभ होकर।

वसंत के चारो ओर एक भीड़ लग गई थी। एक संख्या आ रही थी बराबर, दूसरी ओर उसके दर्शन कर जा रही थी। आस-पास यह समाचार बड़ी तीव्रता के साथ फैल गया कि एक बी० ए० पास ब्राह्मण का लड़का चमार हो गया। एक प्रवाह कॉलेज के भीतर से भी

लड़कों का उसे देखने के लिए आ रहा था। जिसे जब अवकाश मिलता, उसे देखा जाता। कोई उससे दो बात कर जाता कोई समझाता, कोई अपने जूते की मरम्मत कराने के बहाने से उससे बहुत देरतक बकबक करता, कोई उसकी हँसी उड़ाने के मतलब से जाता।

प्रोफ़ेसरों में से सबसे पहले दर्शनशास्त्र के अध्यापक उसके पास आए। प्रिंसिपल की आज्ञा थी की कोई प्रोफ़ेसर उससे बात न करे। दर्शन-शास्त्री ने विशेष आज्ञा ली। वह चले वसंत के पास उसके अध्ययन के लिए, उस असाधारण उदाहरण के मानसिक विश्लेषण के लिए। शुद्ध वैज्ञानिक उद्देश्य को लेकर। भीड़ चीरकर वसत के निकट पहुँचे।

वसंत ने उनको हाथ जोड़ दिए, चुप रहा।

कुछ देरतक उन्होने वसत को देखा। सोचने लगे, कितना सधा हुआ इसका हाथ जान पड़ता है। बहुत ही अच्छे कारीगर की दक्षता इसमें दिखाई दे रही है। उन्होने पूछा—"वसत कितने दिन से यह काम करते हो?"

"चोबीस घंटे नहीं हुए हैं अभी।"

प्रोफ़ेसर ने मन में कहा—"उपचेतन मन हमारा एक अगाध रहस्य से परिपूर्ण वस्तु है। अभ्यास और साधन यह दुर्बल इच्छाशक्ति-वाले व्यक्तियों के लिए है। काल देश के समान दौड़कर भी छोटा किया जा सकता है। एकाएक चोट खाकर कभी-कभी हमारी उपचेतना जाग्रत हो समय को जीत लेती है।"

वसंत साँस भी नहीं ले रहा था मानो। उसके पास पर्याप्त काम जमा हो गया था। छात्र उसके पास अपना जूता छोड़ नंगे पैर ही चले गए थे बहुत से। वसंत ने अब नए आर्डर लेने बंद कर दिए थे।

एक मनुष्य भीड़ में से निकल रहा था। एक दूसरा साइकिल रोक उससे पूछने लगा—"क्यों क्या तमाशा है?"

"कुछ भी नहीं जी। एक चमार जूता गाँठ रहा है बस, ज़रा साफ़ कपड़े पहने है।"

साइकिलवाले की तृप्ति न हुई। साइकिल पीठ की ओर कर झाँका उधर, बात वहीं पाई। बोला—"वाह, मैं कहता था क्या मामला है!"

प्रोफ़ेसर ने पूछा—"वसंत तुम्हारा विवाह हो गया?"

वसंत ने सिर उठाकर देखा उनकी ओर, कुछ गभीर होकर मुसकाया—"नहीं।"

प्रोफ़ेसर बोले—"तुमसे बहुत बातें करनी थीं वसंत।"

"कहिए न।"

"कुछ प्राइवेट टाइप की हैं वे।"

वसत हँसकर अपने काम मे लग गया।

प्रोफ़ेसर सोचने लगे—"इसके कार्य की शैली, बोलने का ढंग, वेश सब कहते हैं कि इसका मस्तिष्क एबनॉर्मल नहीं है। इसकी कल्पना का साथ तर्क छोड़ता हुआ प्रतीत नही होता। केमिस्ट्री के प्रोफ़ेसर की धारणा ठीक नहीं। इसको कुछ गहरा मानसिक आघात पहुँचा है अवश्य। कोई सामाजिक अत्याचार हुआ है इस पर, उसकी प्रतिहिसा के लिए इसने यह पेशा ग्रहण किया है।"

वसंत ने अपने हाथ की घड़ी में देखा, तीन बजनेवाला था। उसने फिर सामने रक्खे हुए अपने काम पर दृष्टि की। उसने श्राति की साँस ली—"बन जावेंगे ये संध्यातक!"

"मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया तुमने वसंत!"

"पूछिए न यहीं पर।"

"तुम्हें जीवन की किसी प्रकार की घोर निराशा भी हुई, इधर हाल ही में।"

"निराशा?"

"कोई मानसिक आघात, जिसने तुम्हारे किसी विचार-क्रम को

तोड़ दिया।"

वसंत सोचने लगा, उसे लीला याद आई। पर उसने छिपा दिया! लीला की उस मानस में उभरती हुई छायाकृति पर फटे और मैले जूतों का ढेर रख दिया।

"वसंत कभी तुमने अनुराग भी किया है?"

"यह जूते जो बना रहा हूँ, यह क्या बिना अनुराग के ही है।"

"ठीक है, पर यह तुमने करण बदला है—इसके स्थान में क्या था पहले?"

वसंत ने सिर ऊँचा कर प्रोफ़ेसर को आँखों पर देखा, बड़ी तीव्रता के साथ। फिर कहने लगा—"नहीं बताऊँगा।"

प्रोफ़ेसर ने अपमान अनुभव किया—"कारण?"

"मेरी इच्छा। मैं आपके कॉलेज को छोड़ चुका हूँ। कोई नैतिक अधीनता नहीं रही हमारे आपके बीच में। अपने मन का अधिकारी मैं हूँ। क्या होता है इससे आप प्रोफ़ेसर हैं और मैं एक चमार हूँ तो।"

प्रोफ़ेसर का माथा ठनका यह कोरा उत्तर पाकर। मानसिक विश्लेषण का यह निष्कर्ष निकाला उन्होंने कि अवश्य इस लड़के को कुछ सनक हो गई है।

एक दूसरा विचार भीड़ की ओट में जन्म लेने लगा था। एक-दो आवाज़ें बीच-बीच मे वसंत की ओर संकेत दे, हो रही थीं—"सीआइडी है!"

वसंत सुनी की अनसुनी कर रहा था। इस बार कुछ लड़कों ने, चूसे गए आम की गुठलियाँ और छिलके बरसाए वसंत के ऊपर एक साथ, कई दिशाओं से, इस मंत्र के साथ—"सीआइडी है!" दूसरी आवृत्ति में जब उनके हाथ खाली हो गए थे तो उन्होने पास खड़े हुए दर्शको की टोपियाँ उतार कर बरसा दीं वसंत पर। छीना-झपटी में प्रोफ़ेसर साहब का टोप भी गिर गया वसंत के ऊपर। प्रोफ़ेसर साहब हड़बड़ाकर भीड़ से बाहर निकलने की चेष्टा कर रहे थे, किसी का

हाथ लग गया उनकी टोप पर, किसी ने जानबूझकर गिराया न था उसे।

पहले छिलकों के गिरते ही वसंत उन्हें बीनकर फेंक रहा था। उसका पैर प्रोफ़ेसर साहब की टोप पर गिर पड़ा। वसंत ने कितनी ही सँभलने की चेष्टा की, पर उसका पैर हैट पर पड़ ही गया—वह भीतर से चूर-चूर हो गई। वसंत ने क्षमा-याचना के साथ टोपी उठाकर उन्हें दी।

बड़ा खट्टा मुँह बनाकर प्रोफ़ेसर साहब ने टोप ली। उन्होंने भीतर-बाहर से उसे टटोला। पुरानी टोपी थी बरसों की, रक्षा के साथ रखने से ही साफ़ थी, अंदर का तमाम पिथ उसका चूर-चूर हो गया था। उसी पिचकी हुई टोप को लेते ही, प्रोफ़ेसर का मुख उतर गया। आँखें लाल हो गईं! किस पर? वसंत पर उन्होंने घूरकर उस छोकरे की ओर देखा। टोप का गढ़हा छिपाकर घुटने पर, वह लौट चले कॉलेज के भीतर।

कुछ छोकरों ने फिर वही दुहराना आरंभ किया था कि अनेक कॉलेज के छात्रों ने डाँट-डपटकर भगा दिया उन्हें।

वसंत फिर अपने काम में बैठ गया। उसे क्रोध नहीं आया कुछ भी। वह बोला—"क्यों आवे मुझे क्रोध, जब मैं सीआइडी हूँ ही नहीं तो।"

दो मनुष्य भीड़ में से बाहर निकलते हुए कहने लगे—"बड़ा बना हुआ है।"

दूसरे ने पहले से कहा बड़े धीरे से—"है ज़रूर। सुना है, हड़तालियों को तोड़ने और उनका भेद लेने आया है। किसी बाबू का लड़का है, सरकारी पेंशन पानेवाले का।"

"इसी कॉलेज में पढ़ता था।"

"लेकिन भइ खूब। क्या बढ़िया चमार का पार्ट कर रहा है।"

"सब हड़तालिए तोड़कर रख दिए। क्या करामात दिखाई।

आज सब लड़के हाज़िर हैं कॉलेज में।"

वसंत हँसने लगा—"बड़ा विचित्र है यह संसार ! किसी को ठीक तरह से काम करने नहीं देता।" उसकी कमीज में कुछ धब्बे पड़ गए थे आम के उसने धोया उसे। "बेचारे प्रोफ़ेसर साहब को टोपी टूट गई साझे में !"

प्रोफ़ेसर साहब ने प्रिंसिपल साहब से जाकर कहा—"सीआइडी तो नहीं है वह ?"

प्रिंसिपल ने निश्चित स्वर में कहा | "नहीं।"

"ठीक मालूम है आपको ?"

"हाँ।"

"लेकिन वह एक ग़लत नमूना होकर वहाँ पर बैठा है। उसे फौरन ही वहाँ पर से हटाइए। सीधी तरह से नहीं मानता तो पुलिस की सहायता लीजिए !"

"नही, इससे उत्तेजना फैलेगी। दबी हुई आग फिर फैलने लगेगी।"

"कॉलेज और उसके स्टाफ के प्रति उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं रही। दूसरे छात्रो पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा। मैं कहता हूँ, वह बड़ा विष बो रहा है छात्रों के बीच में। कॉलेज का सारा डिसिप्लिन ख़तरे में है। मैं कहता हूँ आपसे आपके सँभाले सँभलेगा नहीं।"

प्रिंसिपल ध्यानस्थ हुए।

"कठोरता से नहीं, पर एक दृढ़ शासक की भाँति अपने अधिकार का प्रयोग कीजिए।" प्रोफेसर ने उस टूटी टोपी के माथे पर हाथ फेरा।

प्रिंसिपल आज विजय के उल्लास में थे। उन्होंने विद्यालय की स्थानविच्युत ईंटों को फिर समेटकर यथास्थान लगा दिया था। वह समझते थे, मैंने आज इतने शतक छात्रों के आवारा होने से बचा दिए। इनमें अनेक अपने गृहों की आशा और स्तंभ होंगे। मुसकराकर

पूछने लगे—"हैट टूट गई ! कैसे ?"

"क्या बताऊँ ?"

"मारपीट हो गई थी क्या किसी से ?" परिहास कर कहा उन्होने।

"उसी उजड्ड का पैर पड़ा इसमे। मैं देखता हूँ आज मेरी बारी है तो कल को और मेरे सहयोगियों की। आज मेरी टोप टूटी है तो कल को और प्रोफ़ेसरों की।" बहुत गभीर होकर उन्हाने कहा।

प्रिंसिपल भी गंभीर हुए—"आपको इतना पैसिव न होना चाहिए। आप स्वयं कहते हैं उसका पैर पड़ गया। जानबूझकर कोई अपराध करना दूसरी बात है।"

"मैं इसे सबकौनशश एक्शन मानता हूँ, वह भी इच्छा-शक्ति का व्यापार है।"

प्रिंसिपल साहब ने मेज़ पर रक्खी हुई घंटी बजाई।

"उसको हटाइए वहाँ से।" प्रोफ़ेसर ने अंतिम बार कहा।

"और यदि वह सीआइडी हुआ तो ?" धीरे से कहा उन्होने।

"तो भी क्या हुआ ? आपके जूरिसडिक्शन के भीतर आपकी बिना आज्ञा के ही किसी को कुछ करने का कोई अधिकार नहीं। सीआइडी नहीं है वह। पिता ने उसे आवारा समझकर घर से निकाल दिया है।"

प्रिंसिपल साहब ने फिर घंटी बजाई।

एक चपरासी ने प्रवेश किया।

"फाटक पर देखो क्या गड़बड़ मची है। कह दो, वहाँ कोई भीड़ इकट्ठी न करें। हमारे काम में गड़बड़ पहुँचती है उससे।" प्रिंसिपल ने हुक्म दिया।

चपरासी फाटक पर पहुँचा और प्रोफ़ेसर साहब अपने क्लास में। क्लास आरंभ हो चुका था, तीन-चार मिनट बीते।

चपरासी को अच्छी तरह ज्ञात था कि आज वसंत बाबू फाटक पर

बैठे हुए जूता गाँठ रहे हैं। सारे कॉलेज की उस दिन की वह विशेष चर्चा थी। बड़े-छोटे सब के ही बीच में। सब देख आए थे जाकर वह अजीब दृश्य और पड़े हुए थे सब एक अजीब चक्कर में।

"आप लोग यहाँ पर से हट जाइए, भीड़ न लगाइए यहाँ पर।" चपरासी ने बड़े विनीत भाव से हाथ जोड़कर कहा।

वैसे भी भीड़ अब उतनी अधिक थी नहीं। आस-पासवाले तृप्त हो चुके थे। थोड़े से राहगीर भले आदमी जो खड़े थे, चपरासी की बात सुनकर छँट गए। वसंत बाबू दिखाई दिए चमड़ा काटते हुए।

"यह भीड़ का कारण बने हुए आप हैं वसंत बाबू। मैं समझा था कोई मदारी बैठा हुआ तमाशा दिखा रहा है या कोई ताक़त की दवा बेच रहा है। प्रिंसिपल साहब नाराज़ हो रहे हैं। आप उठिए यहाँ से। या कॉलेज के क्लास में जाइए अपनी जगह पर या घर को।" चपरासी ने वसंत के निकट आकर कहा धीरे-धीरे।

"देखो चपरासी, जाकर कह दो उनसे। मेरे पास कोई हिंसात्मक भाव नहीं। मेरी कटनी, राँपी और हथौड़ी यह बिलकुल ही निर्दोष हैं। मै उनकी सीमा से बाहर बैठा हूँ, यह भूमि उनकी नहीं है। जिसकी होगी उसको कर देने को तैयार हूँ। जाओ कह दो, वह फाटक के बाहर बैठा हुआ है।"

"यह मालूम है उन्हें।"

"और पेशेवाले भी तो यहाँ पर बैठते हैं न?"

"हाँ।"

"बस तो हो गया। जाओ।"

चपरासी ने जब यह बात जाकर प्रिंसिपल साहब से कही तो वह हँसने लगे।

संध्या-समय कॉलेज के बंद होने का समय निकट आया। धीरे-धीरे सब लोग विदा होने लगे। वसंत भी अपना काम दे-ले चुका था। एक जोड़ा बनाने को उसके सामने रक्खा था और एक जोड़ा उसके हाथ

में था। उनको पूरा कर उसने भी अपना दिन समाप्त कर देने की चिंता की।

बहुत तीक्ष्ण दो आँखों को वसत ने अपनी ओर देखता हुआ पाया। दाहने हाथ में लोहे का पैर लिए, बाँए से कधे पर थैला सँभाले, बग़ल में मोटे चमड़े का पूरा एक थान!

मद से भरीं, यम के त्रास को लिए हुए वे थीं। वसंत ने अपनी पलकें गिरा, आँखे चमड़े की उस मोटाई पर जमा लीं, जिसको वह छील रहा था। राँपी को अपने वश के बाहर पाया उसने। जितना गहरा वह चमड़े को काटना चाहता था, वह उससे अधिक धँसने लगी; जिस सीध मे वह उसे चलाना चाहता था, वह वक्र गति ले रही थी। वसत के मन ने कहा—"विद्रोह उसका नहीं है। तेरी दृष्टि और हाथ पर से हटा हुआ मन कही और है।"

वसंत मुख और आकृति से उसे पहचानता है। उसने उसे बहुत देखा है। एक बार उसने फिर उसकी स्मृति की। उसकी धँसी हुई आँखें, कई दाँतो के टूट जाने से उसके और भी पिचके हुए कपोल। उसकी बढ़ी हुई दाढ़ी मे शुभ्रता अधिक। उसके रूखे और कठोर श्वेत मूँछों पर अनेक नाक के बढ़े हुए बाल पड़े हुए थे। उसके वस्त्रों में धूल और पुरानापन था, जगह-जगह पर का फटा हुआ यत्न से सी दिया गया। कंधे पर उसके एक रेशमी चादर थी हल्के बदामी रंग की, शायद उसके सुख के दिनो की शेष स्मृति उभारने के लिए। अपने छेदयुक्त दोनो कानों में वह किसी दिन स्वर्ण-हीरक के फूल पहन चुका है, अब उसने गरम मसाले में से निकालकर दो लौंग खोंस लिए हैं।

वह धीरे-धीरे वसंत के निकट चला आया। वसंत ने अपना काम छोड़कर उसकी ओर देखा।

उसने हाथ का लोहा भूमि पर रख दिया और दाहने हाथ की तर्जनी उठाकर कहा—"देखो, तुम बड़े आदमी के लड़के हो, बड़ा

काम करते। पढ़े-लिखे हो, मेज़-कुर्सी पर बैठकर वही पढ़ते-लिखते। छीः छीः इस तरह इज़्ज़त गँवाकर भूमि पर बैठे हुए, क्या गंदा काम कर रहे हो?"

"मैं अपने को पढ़ा-लिखा नहीं कहता, पर तुम्हारे विचार के अनुसार समझूँगा अपने को। मैंने यदि अपना मान गँवा दिया तो तुम्हारे इस काम को जिसे नीचा कहा जाता है, क्या प्रतिष्ठा नहीं दी? दो ही दिन में क्या सारा लखनऊ नहीं बोल उठेगा कि चमारों की बिरादरी में एक कॉलेज पढ़ा लड़का भी है।"

"बिरादरी में?" उसने अपना थैला और चमड़ा भी भूमि पर उतार दिया।

"हाँ, पेशे से ही जाति बन जाती है।"

"तुम्हारी बात का मैं विश्वास नहीं करूँगा। मेरी इतनी बड़ी उमर हुई। लखनऊ में मैंने बहुत कुछ बनते और बिगड़ते हुए देखा है। वीरान में कोठियाँ और कोठियो में उल्लुओं के घोंसले बनते देखे हैं। भिखारी को लक्ष्मी का वरदान मिलता हुआ भी मैंने देखा और मैंने देखा एक समय के संपन्न मनुष्य को कूड़े गाबर मे से दाने को ढूँढते हुए।" उसने कुछ यति देकर कहा—"लेकिन यह नहीं देखा कि एक पढ़ा-लिखा इस तरह लोहा लादे हुए मारा-मारा फिरे।"

"समय सब कुछ दिखा देता है। इसे भी देखो और यह कभी न समझो कि मेरे मन में तुम्हारे लिए किसी शत्रुता का भाव है।"

"यह झूठ बात है। मैंने पूरी पूँछताछ की है। मैंने तुम्हारे पिता को देखा है, यह सच है मैंने कभी उनका जूता बनाया नहीं। उनका अच्छा मकान है, उनके पास ख़ूब रुपया है। फिर यह क्या मामला है कि तुम्हें इस प्रकार एक-एक पैसा जोड़कर पेट पालना पड़ रहा है। तुम्हारे पिता के घर में क्या तुम्हारी सौतेली माता है?"

"नहीं, यह सब कुछ नहीं है। मैं पैसे या पेट के लिए यह काम नहीं कर रहा हूँ। समाज में फैले हुए पाखंड पर मैं चोट करना चाहता

हूँ। ये जो भक्ति का शोर मचाते हैं, पर जिनके भाव अशुद्ध हैं उनको दिखाना चाहता हूँ कि मनुष्य नीच काम करके भी पवित्र हो सकता है। काम भावना करती है। हाथ में आहुति लेकर यदि मन में त्याग नहीं है तो क्या वह मनुष्य उस व्यक्ति के समान नहीं है जो ऐंजिन में कोयला झोकता है? और मेरा मन यदि मज़दूरी पर ही अधिक न टिका रहे, मैं अपनी भावना को सँभाले रहूँ, तो मेरा काम क्या धार्मिक न कहा जायगा? काम तो मनुष्य के मन को जाग्रत-युक्त रखने के लिए एक साधन है।"

श्रोता की समझ में यह सब कुछ नहीं आया, वह बोला—"अपना यह पढ़ा-लिखा ज्ञान-ध्यान तुम रक्खो अपने पास। सुनो, मेरा नाम है भीखू। बड़ा भारी कारख़ाना चलता था मेरा कभी लखनऊ में। इस फाटक पर मैं कई बरस से बैठता हूँ। अगर तुमने मेरी जगह पर अपना जाल बिछाया तो ठीक न होगा। सुनो, मैं बाल-बच्चेवाला हूँ। ख़ास-ख़ास स्थानों पर ही मज़दूरी करता हूँ। आदमी स्वतंत्र है, चाहे जो पेशा करे धर्म और न्याय-संगत यह मैं तुम्हारी बात मानता हूँ। पर अगर तुम हमारे पेट में हाथ डाल दोगे तो बाबू, तुम समझदार हो जानते ही होगे पेट की आग कैसी भयानक वस्तु है। इसके अतिरिक्त मुझे अफ़ीम खाने की भी बुरी लत है। रोटी न मिले, वह चाहिए।"

वसंत के ऊपर भीखू की वक्तृता का प्रभाव पड़ा, वह अपनी चीज़ें समेटने लगा।

भीखू बोला—"इस वक्त जो कुछ तुम्हारा काम शेष है उसे पूरा कर लो। समझदारी की बात ऐसी होती है। क्या करूँ बाबू, भगवान् के भजन के दिन थे।"

"कटनी दबाते-दबाते, धागा खींचते-खींचते, कील ठोंकते-ठोंकते भी यह सब कुछ कर सकते हो।" वसंत ने कहा।

भीखू न टीप सका उस बात को।

वसंत को एकाएक कुछ ख़्याल आया और उसने फिर अपनी चीज़ें निकालनी आरंभ कीं।

भीखू बोला—"क्यों ?"

"मैं रास्ते के उस ओर बैठ जाऊँगा। अभी तुम्हारे लिए तुम्हारी जगह रिक्त कर देता हूँ।"

पाँचवाँ परिच्छेद

उसका विवाह

दूसरे दिन यह समाचार बड़ी तीव्रता से लखनऊ के सभी छोटे-बड़े घरों में बिजली के समान फैल गया। नगर के दैनिक-पत्रों ने इस समाचार को ख़ूब काला टाइप लगाकर छापा। दो पत्रों ने वसंत का चित्र भी दिया और एक ने उसके इस सामाजिक विद्रोह पर टिप्पणी भी लिखी। उसने वसत को इस अप्रतिम नैतिक साहस पर ख़ूब बधाई दी।

थोड़े ही दिन बाद वसंत लखनऊ की सड़कों पर के विशेष चरित्रों में से एक हो गया। अनेक लोगों का यह भ्रम गया नहीं था कि वह एक सीआइडी है। वसंत ने इस बात की कोई चिंता नहीं की। वह धीर गति से ख़ूब पक्का काम करता और कम-से-कम मज़दूरी ग्रहण करता।

वह मार्ग में एक सिरे से आवाज़ देता हुआ निकल जाता, जो भी उसको सामने बुला काम दे देता, वह सतुष्ट होकर बैठ, कर देता। वह प्रचार के लिए नित्य नई-नई दिशाओं में चला जाता। लोग ऐसे उसे पुकारते, मानो बड़ा पुराना-परिचित वह है उनका। वह चमार क्यों हो गया ? इसका समाधान जानने की उनकी प्रधान इच्छा रहती थी, जूते की मरम्मत गौण।

सुबह-शाम मिलाकर दो से लेकर तीन रुपए तक की मज़दूरी वह करता था। संपन्न लोग जो उसके पढ़े-लिखे होने के कारण उसका पारिश्रमिक दूना-चौगुना कर उसे देते थे, वह सदा उन्हें लौटा देता था। लोग देखने लगे, उसने अपने पेशे को ऊँचा उठा लिया था।

उसके जीवन का व्यय कुछ नहीं के ही समान था। वह धीरे-धीरे कच्चे फल और अन्न का व्यवहार बढ़ाने लगा। शाम को अपने हाथ से रोटी पकाता, कच्ची सब्ज़ी में कुछ नमक मिलाकर उसके साथ उसे खाता। माता के भेजे हुए खाने, मिठाई को जब उसने बार-बार लौटा दिया तो देवकी उसके लिए फल भेजने लगी। एक दिन उसने माता के भेजे हुए संतरे भी यह कहकर वापिस भेज दिए कि मैं बहुत सस्ते फल खाता हूँ।

पिता से मिलने वह अभीतक नहीं गया। रुपए जमाकर उसने सबसे पहले सेठजी के किराए की पहली किस्त चुकाई। सेठजी के द्वारा उसे मालूम हुआ कि उसके पिता उससे बहुत ही क्रुद्ध हैं। वह कभी वसंत का मुख न देखने की इच्छा करते हैं। उन्होंने देवकी से बड़े निर्मम शब्दों में बेटे को उस घर के भीतर न घुसने देने के लिए कह रक्खा है।

एक दिन देवकी, शर्माजी को बिना बताए सध्या-समय वसंत के घर चली गई थी, उस दिन शर्माजी ने गृहिणी से बारह बजे रात तक कलह किया।

वसंत के विचार में जम गए दो रंग—एक श्वेत, दूसरा काला। घर पर अब उसका समय इन्हीं दोनों के प्रयोगों में बीतने लगा। जो कुछ धन उसके पास होता, वह उसका एक पैसा भी जमा नहीं करता था। अपने प्रयोग को आगे बढ़ाने में ही सब व्यय कर देता, भाँति-भाँति के रासायनिक द्रव्य और बर्त्तन ख़रीद कर ले आता वह।

वह श्वेत रंग था जस्ते के भस्म—सफ़ेदे का। वह उसकी शुभ्रता को तोड़कर उसके भीतर से अपने प्रवेश का मार्ग बनाना चाहता था।

उसे ज्ञात था श्वेत रंग में सभी रंग वर्त्तमान हैं। वह क्रम-क्रम से या एक साथ ही उस सफ़ेदी में से तीन आदि रंगों को निकाल लेना चाहता था। पर प्रकृति का वह रहस्य तोड़ लेना सरल न था।

कालिमा थी कोयले की। उसको पानी में घोल लेने के लिए कोई सस्ती विधि वह ढूंढने लगा। फेरी करते-करते भी यही सोचता रहता। भाँति-भाँति के घोलों का उस पर क्या असर होगा, यह विचारता। घर आकर वही प्रयोग करता।

हड़ताल की सभा के खोखलेपन को देखकर वह किसी सभा में नहीं जाता। सिनेमा से उसकी कभी प्रीति न थी। न किसी खेल-तमाशे में रुचि। पुराने मित्र उसने भुला दिए, नई मैत्री किसी से जोड़ी नहीं।

गीता से उसका सहज स्नेह हो गया। एक आवृत्ति उसकी वह नित्य करता। और कुछ नहीं पढ़ता था। गीता में उसे जो मान-अपमान, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, शीत-उष्ण, राग-द्वेष के बीच से जो मध्यम मार्ग दिखाई दिया, उसने उसके मन को मोहित कर लिया। उसकी वह उदासीन वृत्ति विकास पाने लगी। दो सिरों के बीच का विंदु ही शांति का स्थान है। उसी पर संतुलन पाकर बुद्धि में स्थिरता आती है। उसका एक-एक श्लोक उसकी श्रद्धा और विश्वास को पाकर उसपर अपने अर्थ को प्रकट करने लगा। वसंत आनंदमग्न हो उठता था, कभी-कभी।

प्रभात के चाय की मेज़ पर, गोपाल बाबू, सुंदरी और लीला चाय पी रहे थे। गोपाल बाबू बोले—"वह तो कुशल हुई, जो मैंने तुम्हारी हठ नहीं मानी।"

सुंदरी ने इस बात को अस्वीकार कर कहा—"कौन जान सकता है, क्या होता। पर मेरा तो अपना दृढ़ विश्वास है—इस दशा को न पहुँचता वह।"

लीला चुपचाप बड़े सूक्ष्म दर्शन से चाय के धरातल पर तैरता हुआ एक कृष्ण विंदु चम्मच से बाहर निकाल रही थी। उसके चम्मच डालते

ही न जाने वह कहाँ डुबकी लगा ले रहा था। चम्मच में कुछ चाय लेकर वह प्रीच में फेककर ज्योंही प्याला अपने अधरतक बढ़ाती कालिमा फिर ऊपर तैरती दृष्टिगोचर होती।

दूसरी सिगरेट् जलाकर गोपाल बाबू बोले—"वह पूजा-पाठ, शंख-घंट, गीता रामायण ने एक अजीब दृश्य दिखा दिया बिचारे शर्माजी को।"

"उनकी स्त्री के लिए भारी दुःख हो गया। शर्माजी तो दस आद-आदमियों से मिल-जुल, घूम-फिरकर अपना दुख भुला-बिसरा लेते हैं, देवकी इस चौबीसों घंटे के काँटे से घुली जा रही हैं। जब उन्होंने हमारी कल को कोठी बदल देने की बात सुनी तो आँसू भरकर बोलीं, एक हमारा सहारा था, वह भी छुटा।"

"अपने ही विचार को सही समझना दूसरे के लिए भी, यह भारी अहंकार है, अज्ञान है। अपने ही स्पर्श को पवित्र समझना, जो उनकी भाँति मस्तक में भस्म-चंदन न लगावे वह महान् अधार्मिक, यह कोई न्याय नहीं। मैं कहता हूँ धार्मिक पुरुष के पास सबसे बड़ी सहनशीलता होनी चाहिए। समय के परिवर्तन के साथ यदि वह चल नहीं सकता तो उसे कुढ़ना भी उचित नहीं है। हमारे यहाँ चाय पीने में तक कैसी टालमटूल करते थे वह उन दिनों?"

"और एक प्याला?" सुंदरी ने पूछा।

लीला ने अंत में विजय पा ली थी उस कालिमा के ऊपर, वह चाय न पीकर।

सुंदरी ने पति के प्याले में चाय बनाकर लीला से कहा—"लीला! तुम?" उसने लीला के प्याले को देखा—"तुमने तो वही नहीं पी, क्यों?"

"न जाने क्या गिरा है इसमें?"

"दूसरा प्याला ले लो।"

"नहीं।"

पर सुंदरी ने एक दूसरा प्याला उसके सामने भी रख दिया।

"क्यों लीला! तुमने अपने साथी के इस नवीन जीवन पर अपने विचार नहीं प्रकट किए?" गोपाल बाबू ने पूछा।

लीला मुसकाती हुई चाय पी रही थी।

सुंदरी ने उसकी बाँह का स्पर्श कर कहा—"चुप क्यों हो? कहती क्यों नहीं कुछ?"

"बड़ी मैत्री थी इनके बचपन में।" गोपाल बाबू ने कहा।

चाय पी चुके वे। ट्रे और प्याले उठा ले गया नौकर। लीला वहाँ से उठकर अपने कमरे में चली जाती, पर माता-पिता के प्रश्न ने उसे वहाँ पर बाँध लिया था।

वसंत का साथ जब छूट गया था तब से लीला कम उसका उल्लेख करती थी! और जब उससे विवाह की बातचीत चली थी तो बिलकुल उसका नाम न लेती। कहीं पर उसकी चर्चा चलती तो वहाँ से उठ जाती, एक-न-एक बहाने के साथ।

स्थिति बदल दी उस लोहे और चमड़े के भार ने, जिसे लादे-लादे वसत लखनऊ की धूल और कीचड़-भरी गलियों में घूम रहा था। अब लीला वसंत के संबंध की बातो के चलने पर माता-पिता के पास से उठकर चली नहीं जाती। पर अभीतक उसने वसंत के बारे में कुछ कहा नहीं था।

यह एक बहुत मामूली भ्रम सा सामाजिक सुधार-प्रिय गोपाल बाबू के मन में रह गया था, उसे मिटा देने के लिए ही उन्होने लीला से प्रश्न किया था। उन्होने फिर अपना प्रश्न दुहराया—"क्यों लीला! वसंत के इस जीवन को तुम कोई सामाजिक सुधार कहती हो? अपना, केवल अपना विचार कहना। मेरे क्या विचार हैं, उनका कोई प्रभाव न पड़ना चाहिए तुम्हारे निष्कर्ष में?"

"मूर्ख है वसंत।" लीला ने कहा।

गोपाल बाबू खिलखिलाकर हँसने लगे। सुंदरी भीतर चली गई

थी। उसे पुकारने लगे—"सुनो, सुनो, आओ तो सही यह क्या कह रही है, लीला।" वह फिर हँसने लगे। मेज़ पर हाथ पटक फिर लीला की बात का स्मरण कर हर्ष से उछलने लगे।

सुंदरी वहीं पर भीतर सोने के कमरे में मैले कपड़े छाँट रही थी। गोपाल बाबू की पुकार सुनकर धीरे-धीरे बोली—"इन्हें तो यही सूझता है काम के समय भी। धोबी अभी आ पहुँचेगा। मुझे किसी को अपने आलस पर बिठा देना बड़ा अखरता है। कल को यही कहेंगे फिर, यह भी मैला वह भी मैला। धोबी को समय पर कपड़े भी नहीं दे सकती हो।" वह गोपाल बाबू के तकिए में से खोल खींच रही थी भीतर।

गोपाल बाबू ने फिर बाहर से शोर मचाया। सुंदरी ने वह खोल बाहर निकालकर ही उनके पास जाना निश्चित किया था। जल्दी की उसने उसे खींचने में। कुछ छोटा था तकिए से और था कुछ दिन का भी—फट गया बीच से।

सुंदरी खीझकर उठी, उस तकिए को हाथ में लिए हुए ही बैठक में चली गई। मार्ग में कहती हुई यह—"छी: कैसे होंगे यह!" बाहर आकर बोली—"क्या कहते हो?"

"क्या कह रही है यह—लीला।" उन्होंने लीला की ओर संकेत किया।

अंतःकरण की ताड़ना पाकर लीला चुपचाप गंभीर हो गई थी। कोई उसे मानो भीतर से धिक्कारता था—"क्यों कह दिया तूने वसंत मूर्ख है। क्या सचमुच में वसंत मूर्ख है? तूने तो बचपन से लेकर बहुत दिनोंतक उसको देखा है। साथ-साथ खाई और खेली है। यदि वह मूर्ख ही था तो तूने क्यों उसे अपनी गुड़िया विवाह में दे दी?"

"क्यों लीला! कैसा है वसंत?"

लीला अधरों पर हँसी और आँखों में पश्चाताप लिए उठ खड़ी

हो गई थी, उसने अपनी मास्टरनी की मोटर की आहट पा ली थी।

सुंदरी भार की हँसी के साथ बोली—"तुम्हें तो यही पड़ी है। कितनी सुंदर बेल थी इसमें, फट गया!"

गोपाल बाबू ने न देखा उसकी ओर, लीला को लक्ष्यकर बोले—"कहती क्यों नहीं लीला।"

लीला ने हाथ से अपने कमरे की दिशा दिखाई।

"हाँ, मैं जानता हूँ वह आ गई हैं। अभी तुमने क्या कहा था?"

लीला को फिर साहस हुआ—"यही कि बसंत मूर्ख है।"

गोपाल बाबू फिर हँसे, पर सुंदरी के ओष्ठाधर की रेख न खिची।

लीला को याद पड़ा और उसने फिर कहा—"हाँ वह बचपन में भी यही करता था।" वह फिर दुविधा में पड़ गई।

गोपाल बाबू ने उसे अभय करते हुए पूछा—"क्या क्या, लीला! कहो, कहो।"

सुंदरी ने खोल अब बाहर निकाल सका था, बड़े कोमल हाथों से। लीला की ओर देखने लगी वह।

"कोठी-भर के तमाम जूते इकट्ठे कर यह एक बोरे में भरता था और उन्हें घसीटते हुए तमाम हाते में फिरता था—चिल्लाता भी जाता था—बनाऽइ जुतो ऽ, बना ऽ इ जुतो ऽ"—लीला बोली।

गोपाल बाबू ने ताली बजाकर कहा—"ख़ूब!"

इस बार सुंदरी को भी हँसी आ गई। लीला के सिर में एक हल्की चपत लगाकर बोली—"हैं?"

"झूठ थोड़े कह रही हूँ। माँ! कई दिन उसने ऐसा किया था। मुझे तो बहुत स्पष्ट याद है। तुम भूल गईं क्या?"

"मनुष्य पालने में ही पहचान लिया जाता है। यह झूठी बात नहीं है। शर्माजी को यह पहले ही ज्ञात हो जाता तो बहुत-कुछ ऐसे दिन के दर्शन न होते।" गोपाल बाबू ने उठते हुए कहा।

"बात न चीत, मेरा इतना सुंदर खोल फट गया।" सुंदरी बोली—

"मास्टरनीजी आ गई हैं।"

गोपाल बाबू ने लीला को रोककर फिर पूछा—"क्यों लीला, यदि इस मूर्ख कालिदास के साथ कहीं तुम्हारा विवाह हो गया होता तो।"

सुंदरी बहुत मद स्वर में बोली—"छीः कैसे हो न जाने तुम ?"

"मैं उस मूर्ख के बिना पंडित हुए अपने गृह के द्वार अनावृत न करती।" कहती हुई लीला अपने कमरे में चली गई।

लीला के उत्तर की जो प्रसन्नता गोपाल बाबू को हुई उसे फीका कर देने के लिए सुंदरी ने नाक-भौं सिकोड़कर कहा—"ऐसे ही तो बालक ढीठ हो जाते हैं।"

"तुम उन्हें डरपोक और संकुचित ही बना देने की पक्षपातिनी हो।"

"जगत के भले-बुरे से शून्य वह एक अनुभवहीन लड़की है। पढ़ा है उसने बहुत पर देखा कुछ भी नहीं। इस प्रकार बेसिर-पैर की बातों से उसको ढीठ बना देना नहीं तो क्या है ? शील किसका आभूषण नहीं है ? फिर कन्या, उसकी तो मणि है।" सुंदरी ने कहा, बड़े मृदु-मधुर संभाषण में।

"चार मनुष्यों को देखकर कोने की ओर छिप जानेवाले, सिर नीचा कर पैर के अँगूठे से भूमि कुरेदनेवाले, एक अपरिचित को देख रक्तकपोल कर लेनेवाले स्वभाव को तुम शील कहती हो।"

"और क्या हुआ फिर शील ?" दर्प में भरे स्वर से सुंदरी ने कहा।

"शील हुआ असत्य की ओर पैर बढ़ाने का भय और सत्य को प्रकट करने का साहस।"

"यह भी हुआ। लेकिन यह नहीं मान सकती मैं कि चार अपने से रिश्ते और आयु में बड़े लोगों के बीच में आगे बढ़कर सब से पहले और सबके ऊपर बोलना। अपने भोजन, अपने विश्राम, अपनी रुचि, अपने स्वभाव के आगे किसी को कुछ नहीं समझना, गुरुजनों को आदर

न देना, गृहस्थ के छोटे और मलिन काम करनेवालों को घृणा से देखना। मैं इनको गुण कदापि न कहूँगी।"

"तुम कहाँ से कहाँ ले चलीं बात को।"

"वह तो इसे मैंने ऐसे पथ में बचपन ही से अभ्यासी बना रक्खा है कि यह बड़ी-बूढ़ियों के चरण छूती है, धर्म और भगवान् में इसका विश्वास है, फ़ैशन के प्रवाह में बह नहीं जाती। आपके मना करने पर भी मैंने पूजा के बर्त्तन मलने, वहाँ बुहारी देनी इससे नहीं छुड़वाई। केवल इसलिए कि इसका अहंकार दबा रहे। कन्या का धन है यह, समय किसी का एकसा नहीं। कष्ट को देख लेने से फिर सुख का वियोग हमें दुखी नहीं करता।"

"पानी रख दिया गया गरम होने को? नाई नहीं आया? मुझे जल्दी जाना है एक जगह।"

"हाँ रख दिया गया।"

गोपाल बाबू नहाने के लिए चले गए। सुंदरी ने उनके वस्त्र ठीक सिलसिले में रक्खे और फिर सुई-तागा लेकर कुछ सीने लगी।

मास्टरनी का नाम है मिस जगदंबिका। अभी कुछ ही दिन से लीला को पढ़ाने के लिए आती हैं। अंगरेज़ी के साहित्य में आपने इसी वर्ष एम० ए० पास किया है। स्त्री-कॉलेज में भी आप पढ़ाती हैं। अच्छा वेतन मिलता है वहाँ।

सुंदरी उन्हें लीला के पढ़ाने के लिए नियुक्त करने के पक्ष में बिलकुल न थीं। क्योंकि उसकी वेश-भूषा, रंग-ढंग कुछ भी पसंद न था सुंदरी को। उसके हल्के रंग में रँगे हुए अधर-कपोल, उसकी ऊँची ऐड़ी का जूता, उसके बिलकुल नंगे हाथ, आधा खुला वक्ष, नंगे सिर अधि-कांश कटे बालों मे प्रायः लुप्त कान, उसे कानी आँख नहीं अच्छे लगते थे। जगदंबिका की दो बातो से तो उसे बहुत ही घृणा थी। पहली वह अभी तक अविवाहिता थी और दूसरी वह अपने हाथ से मोटर चलाती थी।

उससे सतर्क रहती सुंदरी। जब वह पढ़ाने आती तो यथासंभव उतनी देर भीतर अपने कमरे से उसकी बातो पर कान रखती। उससे मिलने को आनाकानी करती। जगदंबिका भी सुंदरी को एक परदे और घूँघट में वंदिनी, सुरुचि और संस्कृति से अपरिचिता, अंधविश्वास और बुढ़िया पुराण को भार से दलित, अपढ़ और गँवार समझती थी।

सुंदरी ने सीते-सीते सुना। वसंत की ही चर्चा चली हुई थी छात्रा और अध्यापिका में। वह मन में कहने लगी—"एक घटे के लिए आती हैं यह। उतनी बड़ी रक़म का चेक ले जाती हैं हर महीने। पंद्रह-बीस मिनट हो गए हैं इनको आए हुए अभी तक पढ़ाई आरंभ नहीं की। दुनिया का न्याय करेगी यह। अपनी ओर नहीं देखतीं कि संसार क्या कहता है मुझसे?"

जगदंबिका ने कहा—"पर देखने में वह युवक सुंदर है। सुनती हूँ पढ़ने-लिखने में बहुत होशियार।"

लीला पुस्तक के पेज उलटने लगी थी, मन में का पछतावा उसके अभीतक मिटा नहीं था। उदासीनता के साथ उसने उत्तर दिया—"हाँ।"

"तुम्हारी ही बिरादरी का है, यह सुना था मैंने। एबट रोड के फुटपाथ पर बैठे हुए मैंने उसे देखा। यह जानने को मैं उत्सुक थी। अविभावक, समाज या उसके मस्तिष्क किसने उसके साथ यह खेल खेला है, मुझे बड़ी जिज्ञासा हुई। मैंने उसके पास अपनी मोटर रोक दी। मेरे संकेत की ओर ध्यान ही नहीं दिया उसने। पुकारने का उसको साहस न हुआ मुझे। मोटर से उतरकर मैंने उसे मरम्मत करने के लिए अपना जूता दिया।"

"बातें की होंगी आपने उससे?"

"हाँ।"

"पागलपन होगा वही?"

"मैं नहीं समझती।"

सुंदरी बहुत कुढ रही थी भीतर से। ज़ोर से खाँसना आरंभ किया उसने। बाहर उन दोनो बात करनेवालों को उसकी उपस्थिति का ज्ञान हुआ।

लीला ने हैमलेट् पढ़ना आरंभ किया और जगदंबिका ने अंगरेज़ी में बाते करनी। सुंदरी के मन-बुद्धि उस प्राचीर को पार कर उनके विचार में धँस जाते थे। पर अंगरेज़ी वह उसके लिए दुर्गम ओट थी। बार-बार वह वहाँ पर हार मानकर बहुत दुख अनुभव करती थी।

जगदंबिका ने अंगरेज़ी में कहा—"मुझे यह ज्ञात न था, तुम्हारा उसके साथ विवाह ठहरा था?"

लीला ने भी अंगरेज़ी में उत्तर दिया—"हाँ कुछ बातचीत चली थी।" उसने फिर पुस्तक पढ़नी प्रारंभ की और अध्यापिका को अपने विषय में घसीट लेने के लिए उसने पुस्तक के संबंध में प्रश्न किया—"और कुछ समालोचको का कहना है, एक ही विचार मे निरंतर रहने के कारण हैमलेट् पागल हो गया था। आप क्या समझती हैं?"

जगदंबिका को इस प्रश्न का उत्तर देने का विचार भी नहीं हुआ। उसने कहा—"क्यों लीला, तुम उस नए चमार पर कुछ दया नहीं करतीं। उसके साथ तुम्हारा विवाह क्यों रोक दिया गया? जो कुछ मैंने सुना है, मैं उस पर विश्वास नहीं करना चाहती। तुमसे ठीक-ठीक सत्य का पता चलेगा।"

सुंदरी रोष में भरकर उठी। अंगरेज़ी न समझने पर भी वह यह समझ गई कि मास्टरनी पढ़ा नहीं रही है। कोई बाहर की बातें कर रही है। और बहुत कुछ संभव है, वह लीला के लिए हितकर बातें नहीं हैं। इसी से तो उसने भाषा बदल दी। मुझसे छिपाने के लिए।

उठकर वह पति देवता के पास पहुँची।

फोन पर घटी बजी बैठक में।

गोपाल बाबू स्नानागार के बरामदे में बैठकर दाढ़ी बना रहे थे।

क्रोध से भरी सुंदरी उनके पास जाकर खड़ी हुई, बोली—"तुम नहीं मानते मेरी बात ?"

"क्या ?" प्रशांत भाव से पति ने कहा। एक हाथ से गाल का चमड़ा और दूसरे से सेफ़्टी खींचते हुए।

"मैं नहीं हूँ तैयार उस कुलक्षणा के पैर अपने घर के भीतर देखने के लिए।"

"क्यों क्या हो गया ? आज फिर तुम उस पर प्रज्वलित हो उठी हो।"

"मेरी अबोध लीला के सामने रखने के लिए वह एक अशुद्ध आदर्श है। उसे हटाइए अभी।"

"यह कारण मैं नहीं मान सकता।"

"वह गालों को रँग कर लाती है।"

"तो क्या यह अक्षम्य अपराध हो गया ? तुम नहीं देती हो माथे पर बिंदी। शृंगार की एक शैली है यह। किसी को कुछ पसंद है, किसी को कुछ।"

"मैं लीला को पढ़ाओ मत यह नहीं कहती। मास्टरनी बदल दो, कोई वयस्क लाओ। जिसे संसार और गृहस्थ का भी अनुभव हो, जो ठीक-ठीक उपयुक्त शिक्षा दे सके।"

"जगदंबिका बहुत होशियार है। तुमने कभी बातें भी की हैं उससे ? अँगरेज़ी ही नहीं संसार के साहित्य में बड़ी गहरी पैठ है इसकी। पेरिस में रहकर इसने फ्रेंच सीखी है। यह बड़ा सुंदर लिखती है अँगरेज़ी में।"

"लिखती होगी, पर यह अच्छी स्त्री नहीं है।"

गोपाल बाबू ने धीरे-धीरे कहा—"चुपो, चुपो, लीला आ रही है।"

लीला ने आकर कहा—"राजा साहब के यहाँ से फोन आया है कि वह आज सुबह एक एक शिकार पर चले गए हैं। उनसे भेंट आज

न हो सकेगीं।"

"और कुछ ?" उन्होंने पूछा।

"नहीं।" लीला चली गई। सुन लिया था उसने केवल इतना ही कि वह स्त्री अच्छी नहीं। लीला विचारने लगी जाते-जाते—"कौन अच्छी न होगी यह ?" उसके मन ने एक दम उत्तर रक्खा—"अध्यापिकाजी ?" लीला ने कमरे में आकर जगदंबिका के मुख की ओर देखा और उसे सुंदर और निर्दोष पाया।

सुंदरी बोली—"लीला का क्या डर है मुझे। आप यदि नहीं मानेंगे तो मैं उससे न पढ़ने के लिए लीला को ही सम्मत कर लूँगी।"

"लीला समझती है उसके स्वभाव और उसकी विद्वत्ता को। वह कभी न मानेगी।"

"अच्छा यही सही।"

गोपाल बाबू ने उस्तरा मेज़ पर रखकर कुर्सी बिलकुल सामने खिसकाई, सुंदरी से बोले—"नहाकर मैं आज अवश्य जगदंबिका के साथ तुम्हारा परिचय कराता हूँ। चार बातें उसके साथ कर लोगी, उसके मन को समझ, अपने मन का मैल धो लोगी। क्या रक्खा है इन छोटी-छोटी बातों में। वह तुम्हारे यहाँ की नौकरी की भूखी नहीं है। लीला के स्नेह के कारण ही वह उसे पढ़ाने आती है।"

"उसके विवाह की अवस्था बीत रही है, वह विवाह क्यों नहीं करती ?" सुंदरी ने अंतिम अपराध उस पर लगाया।

"यह भी क्या कोई अपराध है ? वह कवयित्री है।"

"तो इससे क्या होता है ?" सुंदरी ने कहा—"चूरन और चने बेचनेवाले भी तो अनेक कविता करते हैं।"

"अरे उसके हृदय है, अनुभूति है, उड़ान है। उसके आँखें हैं देखने की।"

"यह सब किसके नहीं ?"

"गृहस्थ की झंझटों से बाहर सिर निकालकर तुमने कभी प्रकृति

और संसार को देखा ही नहीं है। जब देवता के सामने बैठीं तुम, तब भी तुम्हारा वह अपना नहीं गया। तुमने भगवान् से हाथ जोड़कर यही माँगा, हमें दुःख, रोग और मृत्यु से बचाओ, हमारे दूध-पूत और अन्न-धन की वृद्धि करो!"

"यह तो सभी करते हैं। मैं भगवान् से किसी के लिए दुःख और बुराई तो नहीं माँगती हूँ।"

गोपाल बाबू ने अँगौछे से नाक के आसपास का, कनपटियों और गले पर का शेष साबुन का फेन पोछा। नौकर आकर उनके अस्तरे-बुरुस को उठा ले गया, धोने के लिए। गोपाल बाबू ने पूछा उससे—"पानी रक्खा है केतली में?"

"हाँ सरकार।" उसने उत्तर दिया। वह एक क्षण किसी दूसरे प्रश्न की प्रतीक्षा में खड़ा रहा। जब गोपाल बाबू ने उसपर से दृष्टि हटा ली, तो चला गया।

"उसके हृदय और बुद्धि को तो पढ़े-लिखे ही समझते होंगे। लेकिन मेरे जैसे गँवार तो उसकी चाल-ढाल और स्थिति-वर्ताव को हिंदू गृहस्थ के लिए अनुकूल नहीं समझते। शर्माजी की स्त्री भी एक दिन उसके बारे में बहुत-सी बातें कर रही थीं।"

"दूसरे के आचरण को लेकर उसकी टीका और भाष्य करना बहुत बुरा स्वभाव है। तुम्हें ऐसों की बातों के सुनने में प्रीति न होनी चाहिए।"

"उन्होंने या मैंने अपने मन से थोड़े गढ़ा कुछ। जैसा सुना उन्होंने, वैसा ही कहा मुझसे। और भी तो बहुत से ऐसा ही कहते हैं। आश्चर्य है यह ऐसी क्यों होगी? क्या इसको ताड़ना देनेवाले बड़े-बूढ़े न होंगे इसके सबंधी। यही है विष, स्त्री के बंधन खोलकर उसे स्वतंत्रता दे देने का। कैसी ढीठ स्त्री है यह, पुरुषों की सभा में बिना झिझक के प्रवेश करती है, लेक्चर देती है। हम तो सुनकर लाज से धरती में गड़ी जाती हैं।"

"मैं कहूँगा तुम अबोध हो, उसके जीवन और विचारों से यदि तुम्हारा परिचय हो जाता तो तुम उसकी घृणा छोड़कर उसका अनुराग प्राप्त करतीं। नित्य ही वह तुम्हें दर्शन देकर तुममे बाते करती, ऐसी इच्छा रखनीं।" गोपाल बाबू ने स्नान के लिए तैयार होते हुए कहा।

सुंदरी ने भौंहों को नचाकर हाथ में भी गति दी। उसके काँच की चूड़ियों के साथ सुवर्ण की चूड़ियाँ लड़ पड़ीं। उस झीनी झनक ने, प्रतिक्षण उत्तप्तमान वातावरण को और भी उदास कर दिया। "उस कलमुँही के दर्शन बिना ही तो मेरी सब साधे अपूर्ण पड़ी हैं न।"

"क्या हो गया तुम्हें ? इतनी पूजा-व्रत करती हो और इस प्रकार लोकनिंदा की कीच से खेलती हो। चलो, मैं आज अवश्य तुम्हें उससे मिलाता हूँ। नहा लेता हूँ। इस समय अब कहीं जाना है नहीं मुझे। एक-दो प्याले चाय के पिला दो तुम मुझे।" गोपाल बाबू ने स्नान करने के लिए प्रवेश किया स्नानागार में।

सुंदरी दबे पैर सीधे अपने कमरे में पहुँची।

उस दिन फिर लीला का मन पुस्तक पढ़ने में नहीं लगा। पढ़ाने में जगदंबिका का भी नहीं। टेलीफोन का समाचार देकर जब लीला लौटी मास्टरनी के पास, तो उस समय उसके मन में माता का डर न था।

जगदंबिका ने पूछा—"माताजी भी वहीं हैं ?"

"हाँ।"

"एक बात पूछती हूँ लीला। उत्तर के लिए तुम बाध्य नहीं हो। तुम्हारी इच्छा हो तो तुम उत्तर देना नहीं तो नहीं। यह उत्कंठा इसी लिए मेरे मन में उपजी है, मैं जानना चाहती हूँ—जो मेरा दुःख है, वही क्या विश्व-संसार का भी दुःख है। या केवल, केवल मैं ही इस विषाद की रागिनी का भार बहन करने को हूँ।"

"कहिए न, मैं आपके प्रश्न का उत्तर दूँगी।

"वह तुम्हारे मानसिक वेग की कहानी है।"

"कुछ भी हो।"

"उसे तुमने सयत्न छिपा रक्खा होगा।"

"तुम्हें दिखाकर मैं उसे फिर ढक दूँगी।" विस्फारित अधर हुए लीला के। सुंदर, सम और चमकीली दशन-पंक्ति दिखाई दे गई उसकी।

बिना किसी छंद और सजावट के जगदंबिका ने अपना प्रश्न रक्खा उसके सामने—"तुमने कभी वसंत को प्यार भी किया?"

"मैं उत्तर दूँगी आपको, किंतु"—लीला का गला सूख गया। वह माँ के कमरे में जाकर देख आई, कोई न था वहाँ।

"मैं न कहूँगी किसी से भी।" जगदंबिका ने भरोसा दिया।

"उस पर कोई कविता तो न लिख देंगी आप?"

"ऐसा भी कहीं होता है।"

"मेरा मतलब है, उसके आभास पर उससे आवेश पाकर।"

"यह कठिन प्रतिज्ञा है लीला! जो पंक्तियाँ लिख चुकी हूँ, उसी में यदि तुम्हें यह चित्र दिखाई दे गया तो?"

"अच्छा यह न सही।"

"एक की निंदा-स्तुति करनेवाले छिद्रान्वेसी और चाटुकार कहलाते हैं। कवि, उसका बहुत ऊँचा आसन है, उसका संबंध है समष्टि की चेतना। नहीं पहुँच सकूँगी मैं वहाँतक।"

"मेरा प्रकृत अर्थ है—आप भी मेरे एक ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देंगी न?"

"क्यों नहीं? नहीं तो वह अन्याय न होगा।"

"हाँ, मैंने उसे प्यार किया। जीवन के इतने दिन और वर्ष, इतने शोक और हर्ष की घटनाएँ, इतने आँसू और गीतों की स्मृतियाँ, एक को दूसरी छिपाती चली जा रही है। पर वह घटना इन सब को छेदकर ऊपर चली आती है।" लीला ने उस दिन की बात का वर्णन किया—कनेर का फूल तोड़ने की चोट जब वसंत ने छिपा दी थी।

यह सब सुनकर जगदंबिका ने एक लंबी साँस ली। ओष्ठाधरों के संकोच पर उसे शीतल करते हुए। कहा उसने—"कभी-कभी छोटी अवस्था में ही विवाह कर देने की प्रथा को सुंदर समझती हूँ। पर भलाई और बुराई के ये दो पक्ष प्रत्येक बात के साथ बड़ी घनिष्ठता से जुड़े हैं।"

कुछ ही देर पहले सुंदरी अपने कमरे से छात्रा और अध्यापिका की बातें सुनने लगी थी। अँगरेज़ी में ही थीं। सुंदरी ने यह स्पष्ट समझा कि ये बातें पढ़ाई के संबध की नहीं हैं, यह अवश्य बाहरी बातें हैं। यह डायन निःसंदेह अपना विष लीला के भी फैला रही है।

सुंदरी सवेग चली वहाँ से रसोईघर में। पति के लिए चाय की पत्तियों पर पानी छोड़ा, सीझने के लिए। स्नानागार का द्वार खुलने का शब्द सुना उसने। वह पति के निकट दौड़ी चली आई। "इतनी जल्दी स्नान कर लिया?"

"हाँ जल्दी की, फिर उससे तुम्हें बातें करने का अधिक समय न मिलेगा इस कारण।"

"जैसे कोई कह रहा है मुझसे, तुम इस अध्यापिका को न आने दो यहाँ। यह लीला पर अपने विचार छाप जायगी। यह लीला को अपना ही सा बना देगी—सारे नगर की चर्चा का विषय, एक विकृत नमूना! तुम अभी जाकर कह दो उससे। मैंने फिर उसकी बातें सुनीं अभी। वह न जाने क्या-क्या कह रही हैं लीला से अँगरेज़ी में।"

"तुम्हारी भलाई के लिए तो मैने उतने उपाय किए थे तुम्हें अँगरेज़ी पढ़ाने के। यदि कुछ पढ़ लेतीं तो आज यह व्यर्थ का भ्रम न उपजता तुम्हारे मन में।"

"मैं नहीं मानती तुम अभी जाओ, तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। कह दो उससे, मैं अब लीला को पढ़ाना नहीं चाहता, वह कल से न आवे। एक अक्षर भी आज उसने पढ़ाई नहीं की है। न जाने क्या-क्या कह रही है वह। कल्पना करो, यदि लीला उसका आदर्श लेकर यह कह दे

कि मैं विवाह न करूँगी तो ?"

"तो हो क्या जायगा ?" बड़ी ही सरलता के साथ गोपाल बाबू ने उत्तर दिया।

"हैं ! हो क्या जायगा ? बड़े साधारण भाव से तुम इसे सहन कर गए ! तुम्हें लज्जा नहीं आवेगी जब जाति-बिरादरी नगर-पड़ोस के लोग इस बात की चर्चा करेंगे ?"

"लज्जा कैसी ? यह भी क्या किसी की चोरी है ? विवाह भगवान् की बनाई हुई प्रथा नहीं है, वह तो मनुष्य का ईजाद किया हुआ एक बंधन है। मैं उसे बुरा नहीं कहता, लेकिन यदि कोई विवाह के जुए में अपनी गर्दन नहीं देना चाहता, तो वह वैसा करने के लिए मुक्त है। अनेक विवाह के जोड़े तुम्हारे सामने मौजूद हैं, जिनकी प्रकृति नहीं मिली है। उनके अंचल में ग्रंथि पड़ जाने से क्या हृदय मिल गया ? दिन-रात के कलह-क्रोध, गाली-गलौज, रोने-झीखने के विवाह से क्यों तुम किसी के अविवाहित रहने को हेय समझती हो ?"

उसी समय जगदंबिका सृष्टि के प्रवेश पर खड़ी हुई लीला को सुना रही थी अपना अनुभव—"सुनती यही हूँ कि प्रकाश और तम, हिम और तपन, सुख और दुख तथा मिलन विरह ये दोनों ही अपने-अपने युगों के साथ हैं। ये चक्र में हैं, इनकी बारी है। पर मैंने अपने जगत में केवल विषाद ही पाया। मैं चिरकाल से ही उसके साथ रहने के कारण उसकी अभ्यस्त हो गई। मैंने उन्हीं विरह के क्षणों को प्यार किया फिर, उन्हीं को गूँथ-गूँथ मैं मालाएँ पिरोती हूँ। उन्हीं को मैंने अपने गीतों के बंधन पहनाए हैं। केवल एक कल्पना और चिरसंसर्ग इन्हीं ने हमें खींचा है।" जगदंबिका ने हठात् रुककर कहा—"लीला, तुम सुन रही हो ? मैं अधिक दार्शनिक तो नहीं हुई जा रही हूँ ?"

"हाँ मैं सुन रही हूँ, पर कारण अभी खुला नहीं।"

"छाया का ही वरण कर लिया मैंने। किसी के सिर पर लादे हुए भार से अपनी इच्छा का बोझ रुचिकर हुआ मुझे। प्रकाश को देखकर मैं घनत्व की छाया में अपने को छिपा लेती हूँ। मेरे शृंगार और बनाव पर तुम्हारा विचार विद्रोह करता होगा, यह केवल दिखावा है। इसके आवरण में मेरा विराग है! मुझे पग-पग में अपनी कथा न समझानी पड़े प्रत्येक को, इसलिए यह, उत्कंठित जगत की आँखों को अपने ऊपर न ठहरने देने के लिए है।" जगदंबिका ने कुछ विश्राम लिया।

लीला इस अवकाश में द्रुत-पगों से माँ के कमरे में झाँककर लौटी।

"मैं बिंदी, सिंदूर, चूड़ियाँ, नाक की कील, बिछुए यह सब सुहाग के चिह्न कुछ भी नहीं पहनती हूँ। मेरा विवाह न सही। कुमारियाँ भी तो कुछ इनको पहनती हैं न? लोग इस पर कहते हैं जगदंबिका विधर्मिन है। मै ऊँची एड़ी के जूतों का उपयोग करती हूँ। क्या करूँ पंद्रह-सोलह वर्ष से मैंने उनका उपयोग किया, वह मेरे स्वभाव में प्रविष्ट हो गए, उन्होने मेरे बचपन के सुकोमल अंग की रचना कुछ दूसरी प्रकार से कर दी। मैंने सम तली के जूते बरते कुछ दिन मेरी कमर दुखने लगी। डॉक्टरों ने एड़ी की ऊँचाई पर ज़ोर दिया। मैं मुख पर पाउडर शृंगार के लिए नहीं लगाती, औषधि के लिए। अत्यंत मसृण मेरी त्वचा है। थोड़ी भी ठंडी हवा और ज़रा भी तापक्रम उसे तोड़ देता है।"

लीला को इतनी लंबी भूमिका विरस जान पड़ने लगी। पर अध्यापिका के प्रवाह को अपने किसी भाव से वह बाधा भी देना नहीं चाहती थी।

जगदंबिका ने घड़ी की ओर देखते हुए कहा—"बहुत दिनोंतक मुझे लोगो के कटाक्षों पर पीड़ा हुई थी, अब मैंने उसे भी प्रिय बना लिया। मैं मतलब से शायद दूर चली गई हूँ, संक्षिप्त होऊँगी।"

लीला मेज़ पर कोहनी और हाथ में सिर रखकर बैठ गई थी। दूसरा हाथ उसका खुली हुई पुस्तक पर पड़ा था। स्थिर होकर बैठ गई।

जगदंबिका का सूत्र जारी था—"मैंने जिसके साथ विवाह करूँगी यह ठाना था, उसकी मृत्यु हो गई कुछ ही दिन बाद। पढ़े लिखे भी तो मुझ पर व्यंग्य करते हैं, कोई मुझे मोनोमेनिया बताता है, कोई माइसोगेमिस्ट कहता है। मैं माइसोगेमिस्ट—विवाह-विद्वेषिनी कैसे हूँ? विवाह मन का संस्कार अधिक है, भले ही उसकी रजिस्ट्री न हुई हो, भले ही गृहीतपाणि पर पुरोहितजी के मंत्र न पढ़े गए हों।"

लीला को जगदंबिका का काँटा मालूम दिया। कितना गहरा धँस गया है वह लोहे का काँटा—जैसे मछली मारने का, कोणयुक्त और बल खाया हुआ—निकल नहीं सकता, बिना प्राणों को बाहर निकाले हुए। मन ही-मन उसे प्रणाम किया लीला ने।

जगदंबिका कह रही थी—"इष्ट-मित्रों के विवाह के सब आग्रहों को मैंने वीरता से टाल दिया। मनोवैज्ञानिक कहता है, प्रत्येक पार्थिव पदार्थ हमारे मन में विचार होकर ही नहीं पूरे रूप और रंग को लेकर रहता है। फिर विरह और मिलन ये बाहरी जगत की दो संज्ञाएँ हैं। उसे खोकर ही वह मिला मुझे। एकांत कक्ष में समझती हूँ, वह मेरा सहचर है। शून्य शयन में विचारती हूँ वह मेरी छाया है। मेरी इच्छा, स्मृति और धारणा के अधीन। एक बात कहती हूँ, यदि उसके साथ मेरा विवाह हो गया होता तो शायद मुझे ऐसे स्पष्ट नहीं मिलता।"

लीला मन में सोच रही थी—"क्या मैंने भी वसंत से कभी मानसिक विवाह किया है?" उसे गुड़ियों का विवाह याद आया, विचारने लगी—"वह तो मेरी गुड़ियों का विवाह था। मेरा विवाह?" वर्षों के अंधकार में स्मृति का दीपक लिए हुए खोज आई वह—"नहीं, कुछ याद नहीं पड़ता। विवाह होता तो क्या अनुराग न करती उससे?"

"अपना-सा ही विचार ढूँढ़ता है प्राणी! इसी से मैंने पूछा था,

वसंत को तुमने किस दृष्टि से देखा ? अनुराग किया उससे ?" जगदंबिका ने फिर अपना प्रश्न दुहराया।

लीला ने इस बार अपने उत्तर में संशोधन कर दिया—"नहीं ऐसा अनुराग कुछ नहीं किया। अनुराग में भी तो घनिष्ठता के स्तर हैं।"

जगदंबिका इस उत्तर पर कुछ चकित होकर निराश हो गई—"तब तुम्हारी बात दूसरी है।"

वह पहला व्यक्ति था, जो मेरी गुड़ियों के साथ मेरे मन में रहने लगा। जब गुड़ियों की असंवेदनशीलता मुझे एक अभाव जान पड़ी, तब मुझे वसंत में परिपूर्णता दिखाई दी। लेकिन वह सदैव ही मेरे विचार का वशवर्ती न था। खेल में ही वह बहुधा मुझसे लड़ने लगता था। मैं जब रूठ जाती, तो पछताती थी और वह जब मान करता था, तो मुझे उसे मनाना पड़ता था।"

जगदंबिका बीच में बोली—"कहीं ठहरा है तुम्हारा विवाह ?"

लीला ने पुस्तक का पृष्ठ लौटा, जो उसके सामने ही खुली रक्खी थी। उसके अधर, जान पड़ा जैसे किन्हीं अदृश्य हाथों ने खींचकर विस्फारित कर दिए हों। जगदंबिका को समझने में देर न हुई। "तुम्हारी माताजी के दर्शनों की इच्छा रखती हूँ बहुत, पर कभी ऐसा अवकाश ही नहीं मिलता।"

"आपके कॉलेज का समय हो उठता है सुबह। वह पूजा और फिर रसोई से निवृत्त नहीं हो पातीं। संध्या-समय कभी आप आतीं तो—"

गोपाल बाबू सुंदरी को जगदंबिका से भेंट करने को राज़ी कर लाए या वह उनको जगदंबिका की बातें सुनाने को ले आईं अपने कमरे से। दोनों वहाँ आकर चुपचाप उनकी बातें सुन रहे थे।

गोपाल बाबू ने ज़ोर से पुकारा—"लीला !"

सुंदरी उठकर जाने लगी। गोपाल बाबू ने उन्हें बलात् रोक लिया। लीला ने उत्तर दिया वहीं से। वह उठकर भीतर आना चाहती

थी कि गोपाल बाबू ने भीतर से ही कहा—"तुम्हारी माँ तुम्हारी आचार्या से मिलने की आकांक्षा रखती हैं।"

लीला ने झट से किताब बंद कर दी। उसने जगदंबिका की ओर देखकर भीतर चलने का मूक आग्रह किया।

गोपाल बाबू ने सुंदरी का हाथ पकड़ द्वार मुक्त कर दिया। लीला पथ दिखाते हुए परदा खींचकर एक ओर, गोपाल बाबू के पास, खड़ी हुई, बोली—"यही बातें तो हम भी कर रही थीं।"

जगदंबिका उठ खड़ीं हुईं, उस मार्ग से होकर जाने को। सुंदरी ने कहा धीमे स्वर में—"हाथ तो छोड़ दो।"

गोपाल बाबू ने हाथ छोड़ दिया।

जगदंबिका ने प्रवेश किया उस कक्ष में। सुंदरी को देखते ही उनके दोनों पैर छुए दोनों हाथों से, फिर उनको अपने माथे पर लगाया।

सुंदरी का अहंकार चूर-चूर हो उठा। "यह विधर्मिन हिंदू-कुल की रीति नहीं भूली! मैं तो इसे बहुत ओछेपन से भरी हुई समझती थी।"

कमरे में एक ही कुर्सी थी। गोपाल बाबू ने वह जगदंबिका की ओर बढ़ाई। पर वह सकोच कर खड़ी ही रहीं। लीला और कुर्सियों को लाने के लिए दौड़ गई। ले आई एक आप और एक नौकर द्वारा।

"बहुत दिन से तुमसे मिलने की इच्छा थी इनकी।" गोपाल बाबू ने कहा।

"मुझे भी तो।" जगदंबिका ने उत्तर दिया।

सुंदरी मुख में हँसी पहनकर जगदंबिका के रूप और बनाव को निहार रही थी। उसने उसके अधरों पर प्राकृतिक रंग देखा। "नहीं रँगे नहीं हैं। फिर? लोग ऐसे भी तो अनेक बातें उड़ा देते हैं। या आज रँगने की याद न रही हो, अवकाश न मिला हो। जो कुछ भी हो, पूछने से पता चलेगा।"

सुंदरी ने जगदंबिका को आते-जाते ओट से ही देखा था। इतने निकट से उसकी प्रथम छाप यही पड़ी सुंदरी पर कि जगदंबिका को कोई बड़ा दुःख है, जो उसके रूप के साथ-ही-साथ उसके समस्त मुख में फैला हुआ है। सुंदरी की इच्छा हुई कि कुछ देर उससे बातें करूँ।

सुंदरी और जगदंबिका दो कुर्सियों पर बैठ गई थीं। गोपाल बाबू बोले—"मैं जाऊँगा ऑफ़िस में, क्लर्क को कुछ काम बताना है।"

"बैठो लीला।" जगदंबिका ने कहा।

"आज बड़ी कठिनता से, वह भी शायद थोड़ी देर के लिए।" गोपाल बाबू ने जाने के उपक्रम में कहा।

हँसकर जगदंबिका बोली—"नहीं आज छुट्टी है।"

सुंदरी ने कहा—"तो खाना यहीं खाइए आज।"

जगदंबिका कुछ सोचने लगी।

गोपाल बाबू ने कहा—"हाँ, हाँ, क्या हानि है? कोई विशेष तैयारी थोड़ी की जायगी आपके लिए।" वह चले गए।

जगदंबिका पहले ही संभाषण में बिलकुल खुली-सी जान पड़ी, बोली—"महाराज ने खाना बना रक्खा होगा। मैं अपना घर समझती हूँ यहाँ। कोई संकोच नहीं है मुझे। जब आप आज्ञा देंगी खाने में अपना गौरव समझूँगी।"

"बड़ी विनम्र लड़की है यह।" सुंदरी विचारने लगी—"किसी के बारे में फैली हुई बातें सुनने से और उससे प्रत्यक्ष मिलने से भिन्न-भिन्न छवियाँ अंकित होती हैं हमारे मन में।" लेकिन अभीतक उसका संशय गया नहीं था। वह जगदंबिका से स्वाभाविक रीति से नहीं मिल रही थी।

लीला खड़ी ही थी अभीतक। जगदंबिका ने फिर कहा—"बैठो लीला।"

लीला कुर्सी के कंधों पर दोनों हाथ रक्खे कुछ हँसकर बोली—"बैठ जाऊँगी।"

सुंदरी ने कहा—"पान ले आओ लीला।"

लीला वैसी ही खड़ी रही ।

जगदंबिका ने कहा—"नहीं, खाती नहीं।" फिर उसने मन में सोचा—"कदाचित् यह बुरा मान जावेंगी," बोली—"ले आओ लीला, बहुत छोटा-सा टुकड़ा। सुपारी बहुत थोड़ी डालना।"

लीला चली गई।

सुंदरी ने हँसते हुए कहा—"पर मैं विवश न करूँगी। जब खाती ही नहीं हो तो किसी पर हठ करनी ठीक नहीं। होठों पर रंग लगाती हो या नहीं?" हठात् सुंदरी के मुँह से निकल पड़ा। बाद को सोचने लगी वह कि क्यों पूछ दिया होगा मैंने ऐसा भद्दा प्रश्न।

जगदंबिका ने क्षीण हँसी के साथ कहा—"नहीं, मैंने कभी नहीं लगाया। पर जो लगाती हैं उनको मैं बुरा नहीं समझती।"

"क्यों नहीं लगातीं तुम?"

जगदंबिका चुप हो गई। सुंदरी ने देखा, उसकी आँखें भर आई थीं। वह विचारने लगी, कैसे बुरे लोग रहते हैं संसार में, किस प्रकार झूठी बातें उड़ा देते हैं। "आभूषण कोई भी नहीं है, तुम्हारे अंग में? पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ कुछ तो पहनती ही हैं।"

"मैं विधवा हूँ माँ?"

सुंदरी ने चकित होकर देखा, जैसे कोई लड़ियाँ आँसुओं की जगदंबिका की दोनों आँखों से निकलकर उसके अंचल में छिप गईं! उसने भीतर को पुकारकर कहा—"पान रहने दे बेटी! शरबत बना ला।"

"अच्छा माँ!" लीला ने कहा भीतर ही से।

"बड़ी सुंदर लड़की है यह माँ! आज छै वर्ष से मैं इन्हें जानती हूँ।"

"फूटेगी आँखें इसकी। मानती ही नहीं कहना। जब देखो तब पढ़ती ही रहती है। नित्य डाकिया इसी की किताबों के पार्सल लेकर

उपस्थित हो जाता है। इतनी किताबें छाप क्यों देते होंगे ?"

जगदंबिका ने कहा—"विवाह की बात चल रही है कहीं इनकी ?"

"हाँ चल रही है।" बड़ी स्थिरता के साथ सुंदरी कहकर सोचने लगी—"यह विवाह में भक्ति रखती है। फिर क्यो इसने विवाह नहीं किया ? विधवा क्यो कहती है यह अपनेको ? कोई रहस्य है अवश्य !"

"भगवान् सुखी करे इसे। कहीं निश्चय हुआ नहीं अभी ?"

"हो गया है।"

"कहाँ ?"

"जबलपुर में।"

"वह नौकर हैं कहीं ?"

"नहीं पढ़ता है बी० ए० में इलाहाबाद। घर के बहुत बड़े ज़मींदार हैं। नौकरी की उनको आवश्यकता नहीं।"

"कब होगा ?"

"एक लग्न इसी महीने में भी ज्योतिषीजी ने बताया है। वे जाड़ों में विवाह करने को कहते हैं। हमारा विचार था इसी महीने में हो जाता तो अच्छा था।"

"इसी महीने में ? कोठी बदल देने की जल्दी इसी लिए है। वहीं से होगा विवाह ?"

"हाँ।"

गोपाल बाबू एक बार बीच मे आकर सुन गए उनकी बातें। लौटते हुए मन में विचारने लगे—"इनकी तो यह घुल-मिलकर होने लगी बातें, मानो बरसों की जान-पहचान है।"

कुछ देर दोनों में लीला के संबंध में, फिर उनकी गृहस्थी के बारे में बातें चलीं। लीला शरबत लेकर आई दो गिलासों में। माता ने कहा—"क्या लाई ?"

"संतरे का रस।"

"अपने लिए नहीं लाईं ?" जगदंबिका ने पूछा।

"रक्खा है अभी वहाँ बहुत।"

बातों का क्रम जारी था। सुंदरी का भ्रम बहुत बड़े अंश में मिट चुका था; सामाजिक, धार्मिक, कौटुंबिक सब विषयों की बातें हुईं उनकी। सुंदरी ने देखा, जगदंबिका हिंदू-रीति के प्रति कोई घातक विचार नहीं रखती। जगदंबिका ने कहा—"अनुभव ही मेरा क्या है, कुछ यूरोप देखने को मिला मुझे। नगर और ग्राम का जीवन भी देखने में आया कुछ मुझे, कई वर्ण और जातियों का। मैंने तो मनुष्य की वृत्ति मूल में एक ही सी पाई सबके। भौगोलिक स्थिति ने हमारे खान-पान, वेश-भूषा, बोलचाल में अंतर उत्पन्न कर रक्खा है, पर मनोवृत्ति उसी तरह है। ऐसा कहा जा सकता है।"

"भगवान् पर विश्वास है तुम्हारे ?"

"क्यों नहीं ?"

"हिंदुओं के देवी-देवता हैं न ?"

"हैं।"

"तुम किस देवता को सबसे बड़ा मानती हो ?"

"जिसके चरणों में अटल विश्वास मिल गया हो।"

"तुम्हारे विश्वास में कौन है ?"

जगदंबिका ने निराशा से चारों ओर, आकाश-पाताल में दृष्टि कर कहा—"कोई नहीं।"

"कुछ देर यदि हम एक जगह बैठकर उसे नित्य याद किया करें, तो क्या यह जन्म का आग्रह नहीं है ?"

जगदंबिका ने बड़ी सरलता से बात मानी।

"व्रत रखती हो कोई ?"

"नहीं।"

"मेरी समझ में एकादशी—"

"हाँ, कई बार भूखी रही हूँ। पर फिर भूल जाती हूँ।"

"तुम अँगरेज़ी पढ़े लिखों को तिथि-गते से कुछ मतलब रहता है नहीं। एक पंचांग मोल लेकर रख लो न।"

इसके बाद वेश-भूषा पर विचार विनिमय हुआ।

"तुम्हें यह ऊँची ऐड़ी का जूता क्यों पसद है?" बहुत दिनों का अपना कौतूहल मिटाने को सुंदरी ने पूछा।

"कोई भी चीज़ जो हमें अच्छी लगती है, नई होती है। व्यवहार से वह पुरानी पड़ जाती है। एक अवस्था तक मन उसमें संशोधन और परिवर्तन माँगता है। फ़ैशन के निर्माता उन रंग और रेखाओं के चढ़ाव-उतार पर अधिकार रखते हैं। एक अवस्था ऐसी भी आ जाती है जब मनुष्य उनको बदलना नहीं चाहता। पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी के उपयोग से उनके अस्तित्व की ऐसी गहरी छाप हमारे मस्तिष्क में गड़ी होती है, हम उन्हें अनादि सत्य मानने लगते हैं।"

"हमें अपनी वस्तु को मान देना ही चाहिए।"

"ठीक है यह, पर वस्त्र विदेशी होता है, फ़ैशन नहीं। वह तो विज्ञान की भाँति सभी की वस्तु है। मुझे कोई कितना ही बाहरी फ़ैशन की उपासिका कहे मैं जबतक यह साड़ी पहनती हूँ—विशुद्ध भारतीय हूँ। कोई कितना ही अपने को हिंदू चाल-ढाल की महिला बनावे, मैं अवश्य ही उसमें युग के प्रभाव देखूँगी। मेरी ऊँची ऐड़ी पर माताएँ और दादियाँ मुझे अशोभन देखती हैं। सुनती हूँ, यह कफ़ और कॉलर—ये भाँति-भाँति के कोण और रेखाधारी—जब प्रथम-ही-प्रथम हमारे देश में फैलने लगे थे तो विद्रोह की भावना से ओत-प्रोत थे। इनको धारण करनेवाला जातिद्रोही माना जाता था।"

लीला उन्हें शरबत देकर चली गई थी। पिताजी की अलमारी में एक तस्वीरों का एलबम था, उठा ले गई वह अपने कमरे में। खोलकर उसे लौटने लगी। कई जगहों से उसने पहले उसे देखा। उसने आश्चर्य मुख पर प्रकट किया। फिर एक बार उसने उसे पहले पृष्ठ से इति तक लौट डाला, अंत में बोली—"नहीं, दो-तीन तसवीरें इसमें थीं उसकी।

किसी ने उन्हें जान-बूझकर हटा दिया है। एक यहाँ पर थी।" उसने एक पेज खोलते हुए कहा—"मुझे अच्छे प्रकार याद है। बसंत माँग ले गया हो पिताजी से कभी ? नहीं।"

वह एलबम् उठाकर पिताजी के अध्ययन-कक्ष में रखने को चली। पिताजी ऑफ़िस में अपने क्लर्क से कुछ कह रहे थे। लीला ने चुपके से अलमारी का द्वार बद कर दिया। उसे मेज़ के नीचे रद्दी काग़ज़ों की टोकरी का निचला भाग दिखाई दिया। जाने क्या देखकर वह उधर खिंची। बेंत की बुनाई के, पारदर्शक चतुर्भुज में उसे एक चमकीला टुकड़ा दिखाई दिया मोटे काग़ज़ का।

लीला ने ज्योही डलिया पर हाथ रक्खा, पिताजी ने बाहर काँच से झाँकते हुए कहा—"लीला !"

लीला डलिया को छोड़ तुरंत पिता के समीप चली गई।

"रद्दी काग़ज़ों से टोकरी भर गई है पिताजी। नौकर से कहूँगी वह उन्हें दूर कर दे !"

गोपाल बाबू ने कहा—"मिस जगदंबिका गई ?" उन्हें ज्ञात था सत्य। पोर्च में ही उनकी मोटर खड़ी थी।

"नहीं गई अभी। माताजी से ख़ूब बातें हो रही हैं। मानो आज कई बरसों में भेंट हुई है जैसे उनकी।"

"तो जाओ लीला, वहीं बैठी रहो। माता तुम्हें बुलाती हैं। अतिथि अपने यहाँ हो, और तुम इधर-उधर छिपती फिरो। टोकरी नौकर अपने आप रिक्त कर देगा।"

लीला चली गई माता के पास। प्रत्येक पग में यही सोचती हुई कि पिताजी ने बसंत के वे चित्र फाड़कर उस टोकरी में फेंक दिए हैं। किस काम के थे फिर वह हमारे ?

गोपाल बाबू ने नौकर को बुलाकर उस टोकरी को उसी समय साफ़ कर देने की आज्ञा दी।

सुंदरी जगदंबिका के साथ बातचीत में ऐसी निमग्न हो गई कि उसे

समय जाता प्रतात न हुआ। लीला ने अन्यमनस्क होकर वहाँ प्रवेश किया और चुपचाप खड़ी हो गई, मेज़ पर रक्खी हुई सीने की मशीन के सामने। उसके ख़ाने में से कुछ निकालने लगी।

"क्या है? लीला!" माँ ने पूछा।

"कुछ नहीं, सुई-तागा निकाल रही हूँ। धोती एक जगह कट गई।"

गोपाल बाबू ने प्रवेश किया—"जबलपुर से तार आया है यह!"

सुंदरी कुर्सी छोड़कर उनकी ओर को बढ़ी—"क्या?"

जगदंबिका ने भी उनके साथ ही आसन छोड़ दिया।

"हमें इसी महीने का लग्न स्वीकार है। तार द्वारा अपना विचार पक्का कीजिए।" गोपाल बाबू ने तार पढ़ा।

सुंदरी हर्ष के उल्लास से तो भर उठी पर क्षीण कंठ से उसने कहा—"तोऽ"

"तो क्या, तुम्हारे ही अनुरोध पर तो मैंने उनसे इसी लग्न को स्वीकार कर लेने का आग्रह किया था।" गोपाल बाबू ने कहा।

सुंदरी ने लीला की ओर देखा, यह सौंप दी जायगी! इससे सूने घर की अभ्यस्त कैसे हो सकूँगी मैं? आकुल हो उठी सुंदरी। उसे अपने अतिथि का कुछ भी ध्यान न रहा।

गोपाल बाबू ने कहा—"सोच लो फिर।"

सुंदरी—विवाह की तैयारियाँ सब हो जावेंगी? सात ही दिन तो हैं बीच में।

"इतने दिनों से तैयारियों में लगी हो। सदैव तुम्हारी तैयारियाँ अपूर्ण ही तो रहेंगी। लिख देता हूँ, हाँ हम प्रस्तुत हैं।"

"एक घर छोड़कर दूसरे में जा बसना है। सब चीज़ें एक जगह से उठाकर रखनी हैं, सहेजकर कि अवसर पर ढूँढ़नी न पड़ें।"

"घर बदलने में क्या रक्खा है। फ़रनीचर यहाँ से वहाँ कुछ जायगा नहीं। विवाह के आभषण और कपड़े तुम इतने दिन से बना

रही हो कि बहुत से छोटे भी पड़ गए होंगे।"

जगदंबिका हँसती हुई घड़ी देखने लगी, कलाई पर की। लीला उनके मंडल से विलग, बड़ी एकाग्रता से धोती को रफ़ू कर रही थी।

"बाज़ार से जो अनेक चीज़ें मोल लेनी हैं।" सुंदरी ने सचिंत होकर कहा।

"सब एक दिन का काम। मोटर में बैठे चीज़ें पसंद कीं, ऑर्डर दिया। अपने-आप भिजवा देंगे वे लोग। आज ही घर बदल दें। खा-पीकर चली चलो। सब चीज़ें संध्या समयतक वहाँ पहुँच जावेंगी।"

"आज ही?"

"हाँ।"

"दिन, पंडितजी से पूछना पड़ेगा।"

"अरे क्या पूछना पड़ेगा। सबसे सुंदर दिन है उत्साह का। अगर तुम्हारे पंडितजी के पत्रे में सात दिनतक कोई मुहूर्त्त ही नहीं निकलेगा तो?" गोपाल बाबू ने जगदंबिका की ओर देखा।

"नहीं, ऐसा क्यों होगा?" जगदंबिका ने हँसकर कहा।

'आदमी भेजकर पुछवा लीजिए, निकट ही तो रहते हैं वह।"

आदमी भेज दिया गया पंडितजी के पास। जगदंबिका जाने लगी थी। सुंदरी ने कहा—"कुछ देर और ठहर जाइए, हमारे घर बदलने का निश्चय जानकर ही जाइए, नहीं तो कल को आपको आने में कष्ट होगा। छुट्टी ही तो है न?"

जगदंबिका फिर बैठकर उनसे बातें करने लगी। गोपाल बाबू वहाँ से चले गए, सुंदरी ने लीला से कहा—"बेटी, रसोईघर में जाओ। नौकर से कह दो, आटा न गूँदे। केवल खिचड़ी बनाऊँगी। नहीं तो दिन भर रसोईघर से ही बाहर निकलने में लग जायगा।"

लीला चली, एक हाथ में धोती का कोना लिए और दूसरे में मुह से लटकता हुआ धागा।

"अपना हाथ बचाने की इच्छा से नहीं। ससुराल के लिए इसे

गृहस्थी के कार्यों में दक्षता प्राप्त हो, कुछ इसलिए, पर सबसे बड़ा उद्देश्य मेरा यही रहा कि इसके मन में घमंड न बढ़े। बड़ी प्रीति के साथ यह घर के जूठे बर्त्तन माँजने को भी तैयार रहती है। पढ़ने-लिखने की बात तुम्हें ज्ञात होगी इसकी।" सुंदरी ने कहा।

"गुणों का भार ही हमें विनम्र करता है। क्लास में भी यह सब से तीव्रबुद्धि थी, और अब भी। रुचि से जो काम किया जाता है वही सुंदरता से होता है। और जो सुंदरता से छोटे काम को कर लेता है, उसी से बड़ा काम भी यथोचित रीति से हो सकता है।" जगदंबिका बोली—"यह समन्वय मुझे बड़ा प्रिय हो उठा है, जो हाथ साहित्य के पृष्ठ लौटते हैं, वह अपना जूठा बर्त्तन मलने में सकुंचित नहीं होते।"

सुंदरी के मुख पर जैसे बड़े भारी संतोष की प्रभा चमक उठी।

जगदंबिका को याद पड़ा वसंत। उसने कहा—"वसंत ने भी यह जो छोटा काम करना पसंद किया—"

"नहीं, अपना जूता साफ़ करता वह केवल, अच्छी बात थी। यह भी कोई बात हुई कि घर-घर सबके गंदे जूतों पर पॉलिश करता हुआ फिरे वह?"

रसोईघर में जाकर लीला ने माता का संदेश नौकर से कहने के पहले पूछा—"बैठक की टोकरी साफ़ करने तुम गए थे?"

"हाँ।"

"कहाँ उलटी?"

"बाहर सड़क पर कूड़ेदान में।"

लीला ने मुख मे व्यक्त किया, जैसे उसने कोई अपराध कर दिया हो।"

नौकर आटा छान रहा था, पूछने लगा—"वहाँ न ख़ाली करनी थी?"

लीला संभली, हँसी—"नहीं, और कहाँ करते फिर? उसमें तसवीरों के फटे टुकड़े भी थे?"

"देखा नहीं कुछ। बाबूजी ही ने तो कहा। क्या नाराज़ हो रहे हैं ? देख आऊँ ?"

"नहीं, नहीं चुप रहो। आटा रहने दो कह रही हैं माँ। आज केवल खिचड़ी बनेगी।"

"क्या विचार हैं तुम्हारे ? यही निकटतम लग्न स्वीकार कर लें न ?"

"अच्छा तो है।"

"समय मिल सकेगा न ? प्रबंध कर सकेंगे न ? लड़केवालों को किसी बात की हँसी उड़ाने का अवसर तो न मिलेगा न ?"

"इतने नौकर-चाकर हैं आपके। भगवान् ने साधन दे रक्खे हैं सब प्रकार के, सब कुछ हो जायगा। अधीर होने का कारण नहीं देखती हूँ कोई। अब इस समय मैं आज्ञा चाहूँगी। मेरे हिस्से का काम भी ढूँढ़ कर रखना।"

"कुछ देर और ठहरो। तुम्हारा बँगला हमारी उस कोठी के निकट है न, यहाँ की तुलना से ?"

"हाँ।" जगदंबिका मुसकाई—"हृदय की प्रीति के समीप दूरी का कोई अस्तित्व नहीं है।"

"भगवान् अद्भुत रीति से हमारी कमी को पूरा कर देता है। शर्माजी की पत्नी का साथ छूट जायगा अब, उनके साथ मेरा इतने वर्षों का संयोग था, मुझे बड़ा दुख हो रहा था। आपके दर्शन मिले हैं। भगवान् उनके निकट भी कोई संगिनी ले आवेंगे, ले आवें।"

जगदंबिका ने कहा—"पर लीला ससुराल चली जावेंगी न ?"

"हाँ।" सुंदरी ने विचार किया—"तो भी क्या चिंता है। मेरी अवस्था है न अभी पढ़ने-लिखने की ? लोग व्यंग्य करेंगे, क्यों ?"

"प्रवृत्ति की बात है पढ़ना-लिखना। उसके लिए कभी देर नहीं होती ऐसा कहा जाता है। अनेक विद्या-व्यसनी अपनी आयु के विगत-ज्योति नेत्र, अस्थिर हाथ-पैर और विनत रीढ़ को तक नई वर्णमाला और नवीन विज्ञान के सीखने में लगाए रखते हैं। फिर आप स्कूल

में थोड़ी भरती हो रही हैं, आपको किसी परीक्षा में थोड़े बैठना है।" जगदंबिका ने उन्हें उत्साह दिलाते हुए कहा।

"मुझे कविता लिखना भी सिखा दोगी। अँगरेज़ी में? आ जायगी?" बहुत हँसकर सुंदरी ने पूछा—"पर इस समय तो मेरे मन में इस पराए घर के धन को यत्नपूर्वक उन्हें ही सौंप देने की चिंता हो गई।"

चौड़ाई पर खुलनेवाले टीन के खोल में पलथी मारे विराजमान चश्मा उठा, उस पर पत्रा लपेटे पंडितजी स्वयम् ही गोपाल बाबू की कोठी में तुरंत ही आ उपस्थित हुए। बोले—"दिन-बार आदि आज ठीक हैं सब, केवल चंद्रमा की शुद्धि नहीं है। कल को एक घड़ी बाद बहुत सुंदर लग्न है। पाँच बजकर एकतीस मिनट में सूर्योदय होगा, एक घड़ी के चौबीस मिनट हुए उतने और जुड़ गए। पाँच बजकर पचपन मिनट पर। विवाह का लग्न निश्चित हो गया क्या?"

"हाँ इसी वैशाख के लिए वह राज़ी हो गए।" गोपाल बाबू ने कहा—"मैं आता हूँ अभी।" भीतर जाकर उन्होंने पंडितजी की दिन-गणना सुंदरी से जाकर कही।

"अच्छी बात है।" सुंदरी ने कहा—"जबलपुर को तार दे दीजिए हम तैयार हैं।"

गोपाल बाबू चले गए। सुंदरी ने लीला को बुलाया जगदंबिका को बिदा करने के लिए। कहा उससे—"कहाँ भूली हुई फिर रही हो। विवाह की तिथि निश्चित हो चुकी है तुम्हारी। अपनी सब चीज़ें ढूँढ़ कर रख लो।"

"हाँ।" जगदंबिका ने कहा—"और तुम्हारा यह बचपन का क्रीड़ाक्षेत्र—यह घर तुमसे कल ही छूट जायगा।"

"माँ?" लीला ने पूछा मौन के साथ।

"हाँ!"

जगदंबिका बिदा हुई। लीला उन्हें मोटर तक पहुँचाने को गई।

बहुत दिन हो गए। माता के यहाँ से कोई नहीं आया वसंत के पास। पिता के उसे दर्शन नहीं कभी किसी सड़क पर। एक दिन जब वह सेठजी का पूरा किराया उनके पास पेशगी जमा करने को गया था तो उन्होंने कहा—"तुम गए थे कभी अपने माता-पिता के पास?"

"नहीं।"

"जब से तुमने यह चमारों का काम आरंभ किया है, उन्होंने बिलकुल घर से बाहर निकलना बंद कर दिया है। मैंने उनको स्वास्थ्य में भी बहुत गिरा हुआ पाया। तुम समझदार हो। तुमसे अधिक कुछ नहीं कहना चाहता। मनुष्य को ऐसा काम कोई नहीं करना चाहिए, जिससे उसको जीवनभर पछताना पड़ जाय।"

माता पिता जैसे उसको अपनी ओर खींचने लगे, ऐसा जान पड़ा वसंत को। उसने एक दिन उनके पास जाना स्थिर किया। "वहाँ से गोपाल बाबू के यहाँ भी हो आऊँगा। अपमानित कर देंगे तो? कोई चिंता न करूँगा। गीता के केवल अध्ययन से कोई भी लाभ नहीं, यदि हमने उसके सिद्धांतों का प्रयोग न किया तो। सड़कों पर बैठकर जूते बनानेवाले का मान ही क्या? तब मुझे मान की इच्छा न रहेगी फिर अपमान ही क्या मेरे लिए।"

भीखू वसंत के मन में एक अजीब विकराल रूप धारण कर उदित हो गया। उसकी परछाईं को बचाने लगा वसंत! क्यों यह मुझे इतना भयानक दिखाई देने लगा? इसका पेशा प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, क्या यह मेरा विशुद्ध उद्देश्य नहीं। मैंने जीविका के लिए यह काम किया है, यह बात बिलकुल झूठ है। मैंने भीखू को हानि पहुँचाने के लिए जूतों की मरम्मत करनी आरंभ की है? नहीं यह भी उतना ही असत्य।"

भीखू को समझाने का उसने कई बार परिश्रम किया। वह वसंत से मित्रता का नाता मानने को तैयार ही न होता था। एक दिन अमीनाबाद में कुछ-कुछ सम्मत-सा प्रतीत हुआ था वह, बोला—"मेरे

मन में कोई मैल नहीं है तुम्हारे लिए। तुम ज़रूर कोई बैर साध रहे हो मुझसे।"

वसंत ने दुःख के स्वर में कहा—"नहीं भीखू, अगर यही बात होती तो, मैं यह पेशा न करता। मैंने तुम्हारे पेशे से प्रीत की, मैं तुम पर भी प्रीति करता हूँ।"

"नहीं मान सकता मैं।"

"तुम जिस प्रकार चाहो, परीक्षा कर सकते हो मेरी।"

"मेरी छूत मानते हो तुम?"

"नहीं।" वसत ने भीखू की पीठ पर प्रेम से भरा हाथ रक्खा।

"तुम मेरे साथ खाना खा लोगे?"

"हाँ भीखू।" वसंत भीखू का हाथ पकड़कर उसे ले जाने लगा।

"कहाँ?"

"होटल में।"

"मुझे मना करेंगे वे।"

"जबतक हम उनकी वस्तु के दाम देने को समर्थ हैं, कोई हमें मना नहीं कर सकता। भीखू, अपने अधिकार को समझो। तुम्हें उठाने के लिए ही मैं गिरा हूँ। हम भीख माँगने को नहीं जा रहे हैं वहाँ। यह छोटे होने की कल्पना तुम्हारे मस्तिष्क में है अधिक जमी हुई। दिन-भर के परिश्रम से थके मस्तक को ऊँचा करो भीखू! तुम्हारी जेब का पैसा पसीने का भीगा हुआ, अत्यंत पवित्र है।"

"ऐसे वेश में?"

"हाँ कुछ साफ़ रहना पड़ेगा भीखू! तुम्हारे अंग पर साधारण कपड़ा हो, यह अगौरव की बात नहीं। वह साफ़ होना चाहिए।"

"तुम्हें नहीं मालूम बाबू! तुम अभी लड़के ही हो। साधारण कपड़ा साफ़ हो नहीं सकता। अख़बार में छाप देने और सभाओं में चिल्लाने से होता क्या है।"

"साफ़ हो कैसे नहीं सकता, परिश्रम अपना है।"

"साबुन ?"

"बहुत मामूली। वह किसी बुरी आदत मे बंधन डालकर उसमें से खींच लिया जा सकता है।"

"तुम क्या जानो, निर्धनता की तीन संतानें हैं—उपवास, चीथड़े और गंदगी। लेकिन तुम्हारा शायद जन्म हो गया हो, बहुत छोटे होगे, तब भीखू बहुत बढ़िया सर्ज का कोट पहनता था। साबुन-पानी से उसका मैल नहीं निकाला जाता था—वह धोया जाता था पेट्रोल में और उस पर बुरुस होता था रोज़। अब भी शायद उसका कोई टुकड़ा मेरी घरवाली ने मेरे तकिए मे भर रक्खा होगा। नमक के लिए पैसा नहीं जुड़ता कभी, तुम साबुन की बात करते हो। पेट के भीतर की आहुति पूरी कर ही तो उसे बाहर से ढकने का विचार सूझता है।" तार का खंभा पकड़कर रुक गया था, भीखू।

वसंत ने भीखू का हाथ वहाँ से छुटा लिया, होटल निकट ही था, बोला—"यह एक दूसरे का कार्य और कारण दोनों हैं—बीज और अंकुर की भाँति। बीज में अंकुर या अंकुर में बीज ?" वसंत ने भीखू की बाँह पकड़ ली।

प्रश्न के चक्कर में पड़कर हँसा भीखू—"क्या ? क्या ?"

मैं पूछता हूँ—"बीज से पेड़ उत्पन्न होता है या पेड़ से बीज ?"

भीखू ने अपनी बाँह छुटाकर कहा—"बीज से पेड़...नहीं पेड़ से बीज !" उसने चकराकर वसंत की ओर देखा, मन में विचारा—"पढ़ा-लिखा है यह।"

वसंत ने फिर उसकी बाँह पकड़कर उसे होटल के पथ में अग्रसर किया—"दोनों से दोनों उत्पन्न होते हैं। तुमने नहीं सुना है—मलिनता में अलक्ष्मी का निवास है। यह भी उतना ठीक है—अलक्ष्मी से मलिनता होती है।"

"अरे सब भाग्य की बात है। जिस तरह कोई गंगाजी को उलटा नहीं बहा सकता, वैसे ही कोई तकदीर की रेखा को भी इधर से उधर

नहीं कर सकता।" भीखू धीरे-धीरे होटल की सीढ़ियों का अतिक्रमण कर रहा था। "यह ब्राह्मण का लड़का तेरे साथ खाना खाऊँगा कहता है!" इस बात के रहस्य को वह खोल लेना चाहता था।

मेज़ में पास-पास, कंधे-से-कंधे भिड़ाकर वसंत भीखू के पास बैठा। वसत के कारण किसी ने कुछ कहा नही भीखू से। हाथ और झाड़न से मुख ढके होटल का छोकरा आकर खड़ा हुआ सामने।

"दो जगह खाना परोसकर लाओ।" वसंत ने कहा।

"एक ही थाली में मँगाओ, ऐसी भूख किसे है।" भीखू ने कहा।

"नहीं भीखू। धार्मिक जिस घृणा का नाम रक्खा है, मै उसे तोड़ रहा हूँ तुम्हारे संसर्ग मे। एक ही बर्त्तन—नहीं भीखू वह स्वास्थ्य का नियम है, वह नहीं तोड़ा जायगा।"

"बस तो खा लिया आपने मेरे साथ।"

"क्या-क्या लाऊँ?"

"निरामिष जो भी हो ले आओ।"

"निरामिष?" भीखू ने प्रश्न किया।

"हाँ भीखू शाकाहार, गोश्त नहीं खाता हूँ मैं।"

"मैं तो खाता हूँ।"

"मेरा मन घिना जायगा भीखू। मुझे कै हो जावेगी।"

"बस खा चुके तुम मेरे साथ। मैं कहता हूँ न, तुम पढ़े-लिखे हो। सात गहराइयों में, सात परदों से छिपा तुम्हारा मतलब होता है।" भीखू उठ खड़ा हुआ।

"अच्छा आज यही खाना खा ले। और एक दिन, मैं अपने मन की इस घृणा पर विजय पाऊँगा। उस दिन मैं, तुम्हारे पास बैठकर आमिष भोजन करने पर राज़ी हो जाऊँगा।"

"खाओगे नहीं?"

"तुम उसका व्यवहार करते चले आ रहे हो, मैं तुमसे उसे न खाओ नहीं कहता। फिर तम क्यों मझे उसे खिलाना चाहते हो?"

"यहीं पर घृणा पैदा होती है बाबू ! यहीं पर हम अलग होते हैं। तुमसे अच्छे तो वह हैं जो हमारे स्पर्श से बिल्कुल कटकर रहते हैं—स्पष्ट व्यवहार तो है उनका।" भीखू उठ गया और कोने पर से अपना बोरा, लोहा, चमड़ा उठाने लगा।

वसंत ने कितना ही उसे मनाया, न माना वह। अपनी चीज़ें उठा चला ही गया, वसंत भी बाध्य होकर उसके पीछे-पीछे चला। पार्क के भीतर चले गए दोनो। भाँति-भाँति के तर्क से वसंत ने भीखू पर अपने स्नेह को प्रकट करना चाहा, कुछ भी नहीं गड़ा उसकी समझ में।

दीपक जल चुके। एकाएक जैसे भीखू के मन में कोई चिनगारी उड़ी। पार्क के बेंच पर से उठकर उसने कहा—"अच्छा एक बात है।"

"क्या ?"

"चलो, बताऊँगा।"

दोनो सड़क पर आए। भीखू बोला—"यह आख़िरी परीक्षा है। इसमें अगर तुम पास हो गए तो समझूँगा, तुम सचमुच म निर्धन और दुखी से प्यार करते हो।"

"कहो भी तो।"

"चलते चलो।"

दोनो फ़तेहगंज की ओर जा रहे थे। उस गली के मुख पर भीखू रुक गया। उसने कहा—"यहाँ चलो।"

"यहाँ ?" उस धुँधले प्रकाश से लाल-पीली गली को देखकर वसंत ने शंका की।

"हाँ।"

"ताड़ीख़ाने मे ?"

"हाँ हाँ ताड़ीख़ाने में। इसमें तो किसी की जीव-हत्या नहीं है। मैं जानता हूँ, अनेक लोग पीते हैं। बढ़िया पीते हैं—उसे कोई पीना नहीं कहता। और हम जो यह स्वदेशी, सस्ती, मिट्टी के कुल्हड़ में भर कर पीते हैं—यह हमारा कलंक और वह उनकी शोभा ! वाह रे

संसार ! चलो, आओ मेरे साथ, यही तुम्हारी परीक्षा है। तुम्हें जूता गाँठते कोई शर्म नहीं आती, ताड़ीख़ाने के भीतर घुसते क्यों आवेगी।" भीखू वसंत का हाथ खींचते हुए उसे गली में ले जाने लगा।

"नहीं भाई। इसके लिए तो मैं तुमसे भी प्रार्थना करूँगा कि इस सर्वनाशिनी का त्याग करो। ऐसी पवित्र कमाई इस मलिन धारा में न बहाओ।"

"चलो पियो तो सही। एक नया जगत खिल उठेगा। हर काँटे पर एक-एक फूल, हर ठोकर पर एक-एक राजमुकुट !"

"तुम नशे में हो भीखू ?"

"क्या धन का, अधिकार का, रूप का, बल का नशा नहीं होता ? चलो, मै पिलाऊँगा डरते क्यों हो ? एक ख़याल है सब ! उसके एक सिरे पर है जन्म और दूसरे पर मृत्यु !" ज़बर्दस्ती वह वसंत को घसीट ले गया, गली के भीतर।

ताड़ीख़ाने के द्वार पर पहुँचकर वसत ने अपने बल का उपयोग किया। भीखू फिर उसे भीतर नहीं खींच सका। उसने अपनी टोपी भीखू के चरणों में रक्खी—"तुम न जाओ वहाँ भीखू ! तुम्हारे सूने गृह में प्रकाश जगमगा उठेगा।"

"जा-जा, देख लिया तुझे, हो गई तेरी परीक्षा। जब तू मेरी बात नहीं मानता तो मैं कैसे मान लूँगा। हम ग़रीब हैं—नीच हैं—हमारा परिश्रम भीख है, हमारा विश्राम आलस्य कहलाता है, हमारा भोजन व्यसन और हमारा ऋण हमारी बेईमानी का नाम है। मनुष्य हमारा मित्र नहीं—परमेश्वर ? शायद ! शायद !" भीखू चला गया, ताड़ीख़ाने के भीतर !

वसंत लौट गया उदास और दुःखी, पराजय की भावना में।

"केवल इसीलिए, मैं जानती हूँ नहीं, जानना चाहती हूँ क्या कोई और भी मेरे ही जैसे दुःख का भार लेकर इस धरती पर साँस ले रहा है। या ये सब अपने-अपने मतलब के दास हैं। लीला का हृदय मैंने

टटोला, बसंत को खोजना चाहिए।" उस दिन गोपाल बाबू के यहाँ से लौटकर जगदंबिका ने अपने मन में विचारा।

भोजन कर चुकी थी वह। उसने दो जोड़े फटे हुए जूतों के निकाले। एक अख़बार में लपेटकर उन्हें एक थैले में रक्खा। उसने अपने नौकर को वह थैला देकर कहा—"इसे ले जाकर मेरी मोटर में रख दो।"

जगदंबिका मोटर पर सवार होकर बसंत को खोजने के लिए निकली। हज़रतगंज के चौराहे पर उसने विचार किया, कहाँ मिलेगा वह। हुसेनगंज के चौराहे पर आई वह, चारबाग़ रेल, स्टेशनतक चली गई वह। दोनों फ़ुटपाथों को ध्यान से देखती गई वह, बसंत कहीं नहीं दिखाई दिया उसे। लाटूश रोड से जाकर वह सीधे क़ैसरबाग़ पहुँची, बसंत नहीं पाया उसने। अमीनाबाद की परिक्रमा की उसने पूरी। वह नखास की सड़क पर बढ़ रही थी कि उसने अमीनुद्दौला पार्क के सीख़चों के बाहर फ़ुटपाथ पर देखा बसंत को इक्के तांगों की रेखाओं से होकर। वह अपना सामान समेट रहा था।

जगदंबिका ने अपनी मोटर बढ़ाई उधर ही। एक इक्केवाला खड़ा था वहाँ पर, उसने अपना इक्का आगे बढ़ाकर जगदंबिका को स्थान दे दिया।

फ़ुटपाथ से प्रायः मिलते हुए जगदंबिका ने अपनी मोटर रोक दी। बसंत ने कोई ध्यान नहीं दिया उधर। उसने अपना थैला, जो बिछा रक्खा था, उठाकर दोनों हाथों से फटकारा। जगदंबिका मोटर के बाहर अपना हाथ निकालकर बसंत से कुछ कहना चाहती थी कि थैले से उड़ी हुई धूल उसके मुख पर को चली। उसने घबराकर मुख भीतर खींच हाथ के रूमाल पर बिनत कर लिया।

"क्षमा चाहता हूँ।" बसंत दोनों हाथ जोड़कर बोला। बसंत ने जगदंबिका का मुख नहीं देखा। सिंदूर-विहीन कृष्ण कुंतलों की विभक्ति

के नीचे दो घनी भ्रू-रेखाएँ थी, चापाकार कानो की ओर घटती हुई। वसंत अपराधी की भाँति, उस मुख के उदय होने की प्रतीक्षा करता हुआ सोच रहा था—"यदि इसने कोई गाली मुझे दे दी ?"

मंद हास्य से विशोभित वह मुख उठा—"नहीं वसंत, कोई बात नहीं।"

"आप मुझे पहचानती है ?"

"हाँ।"

सुस्वर कंठवाली वह महिला वसंत को बड़ी सुंदर जान पड़ी। "कॉलेज की शिक्षा लेकर मैंने हाथ मे जो यह कटन्नी ली है इसीलिए अनेक ऐसे लोग मुझे जानने लगे हैं, जिनसे मेरा कुछ भी परिचय नहीं। कौन होगी यह ?"

"मैं स्त्री-कॉलेज मे प्रोफ़ेसर हूँ, हाल ही मे लखनऊ आई हूँ। मिस जगदंबिका मेरा नाम है। कभी सुना हो।"

"सुना-सा याद तो पड़ता है। कहाँ ? यह नहीं। बड़ी ग्लानि हुई है मुझे, अपने इस अभद्र व्यवहार पर।"

"नहीं वसंत, मैं भी बड़ी धीर गति से बिना हॉर्न दिए हुए चली आई यहाँ पर।"

"जितनी संस्कृति, उतना ही शील और सुंदरता भी उतनी ही ! अविवाहिता यह ? मेरे सुनने में अंतर पड़ा होगा।"

"मेरा एक काम कर दोगे ?"

"क्या ?"

"लेकिन आप तो अपना काम समेट रहे हैं ?"

"यहाँ पर अब कुछ न होने से ही जाने लगा था।"

"जगदंबिका ने थैले में से दोनों जोड़े निकालकर वसंत को दिए—'इनकी मरम्मत कर दीजिए।"

"बड़ी प्रसन्नता के साथ।" वसंत ने फिर अपना आसन बिछा दिया। दोनों जोड़ों की परीक्षा कर बोला—"दोनों में हाफ़सोल लगेगी।"

"हाँ।"

"अच्छी बात है, आप घूमकर बाज़ार के और काम कर लीजिए। ग्यारह बजा है, डेढ घंटे में ये दोनों आपको यहाँ पर तैयार मिलेंगे।"

"नहीं वसंत, मुझे कहीं जाना नहीं है।"

वसंत ने कुछ असमंजस-सी प्रकट की।

जगदंबिका ने बात पूरी की—"मैं यहीं मोटर में बैठी-बैठी तुमसे बातें करना पसद करूँगी।"

"बड़ी तीव्रता है आज लू में। आप अपने बगले का नाम बता दीजिए मै वहीं दे जाऊँगा।"

"तुम्हें अपने निवास-स्थान का पता देने में मुझे कोई संकोच नही है। पर मैं तुमसे कुछ पूछने की इच्छा रखकर आई हूँ।"

वसंत चकराया नहीं कुछ भी। उसकी स्थिति पर लोगो के हृदय में कौतूहल का उपज जाना स्वाभाविक था। दिन में कई बार उसे अपनी कथा दुहरानी पड़ती थी। "आपकी रुचि! मेरे जीवन की पसद पर ही आपका प्रश्न होगा?"

"नहीं, मैं उसे जानती हूँ।"

"मैंने ही कहा था कभी?"

"नहीं। सुना।"

"फिर किसी ने आपको मुझे यह काम छोड़ देने के लिए अनुरोध करने को कहा होगा। अनेक लोगो ने इस पर व्यर्थ का समय खोया। अब तो कोई भी मुझसे ऐसी बातें नहीं करता।" वसंत तागा बटने लगा।

"मैं भी इस विषय पर बातें न करूँगी।"

"तब तुम मेरे लिए अधिक अभिनंदनीय हो।"

"वसंत, लीला का नाम सुना है?" जगदंबिका ने वसंत के उत्तर के अपने कान इतने तीव्र नहीं किए, जितनी आँखें। कान उसे बहका

देते, वह स्थिर होकर वसंत के मुख पर के भावों को पढ़ने के लिए उधर देखने लगी।

तागे का एक सिरा वसंत के हाथ से छूट गया। उसके मुख पर जो विषाद प्रकटा उसने उस धागे के वियोग पर रख दिया। सिरा हाथ में लेकर उसने बड़े साधारण भाव से कहा—"हाँ जानता हूँ मैं लीला को। कौन लीला ? गोपाल बाबू की लड़की न ?"

"हाँ।"

"आप जानती हैं उन्हें ?" वसत ने अपने काम मे बिना यति दिए हुए ही कहा।

"हाँ, क्यो कैसी लड़की है ?"

वसंत सोचता ही रह गया। मुख पर की किसी रेखा, आँखे और कपोलों पर के किसी रंग ने उसका भेद नहीं खोला।

"तुमने कोई उत्तर नहीं दिया ?" जगदंबिका ने फिर पूछा।

वसंत ने काम में एक क्षण का विश्राम दिया। अपना सिर उठाकर जगदंबिका की ओर देखा फिर गर्दन नीची कर जूते की तलियों के लिए चमड़ा काटने लगा। लीला से बिल्कुल अपरिचित की भाँति कहा उसने—"अच्छी लड़की है वह।"

जगदंबिका ने फिर लीला के संबंध की कोई बाते करने का अवसर न देखा। उसने कुछ देर वसंत की मज़दूरी, उसकी आमदनी और उसके घर के बारे में वार्तालाप किया। फिर वह चुप हो गई।

वसंत उसकी ओर बिना दृष्टि किए अपना काम कर रहा था। उसे मूक पाकर उसने जगदंबिका की ओर देखा और उसे एक पुस्तक पढ़ते हुए पाया।

जगदंबिका पुस्तक के तट पर से अपनी दृष्टि गिरा, बराबर वसंत के मुख पर भावों के उत्थान-पतन को देख रही थी। पर वह कुशल शिल्पी न जाने कहाँ अपनी बात छिपाए बैठा था।

कुछ देर बाद जगदंबिका बोल उठी—"मैं लीला को पढ़ाती हूँ।"

वह फिर चुप हो गई उसने पुस्तक के खुले पृष्ठों में अपनी आँखें समेट लीं।

वसंत के मुख से निकल पड़ा—"मेरा भी बचपन में उससे बड़ा साथ रहा है। वह बुद्धि की अच्छी तीव्र है।"

फिर बहुत देर बीत गई। वसंत ने एक जोड़ा तैयार कर दूसरे में हाथ लगा लिया था। जगदंबिका बराबर ओट से उसके मुख का अध्ययन कर रही थी। अचानक उसने कहा—"वसंत एक प्रश्न। बुरा न मानना।"

वसंत अधीर हो उठा। अपने आप कुछ ऐसा समझने लगा, यह मेरे किसी अँधेरे कोने में द्वार खोलना चाहती है। कुछ नहीं बोला वह।

"हाँ, मुझसे कुछ छिपाने का विचार हो तो मैं न पूछूँगी।"

छिपाने का विचार सहन नहीं हुआ वसंत को—"पूछिए न। मुझे क्या छिपाना है, किसी से।"

"वसंत, तुमने कभी लीला के लिए स्थान बनाया?"

"कहाँ?" बड़ी अस्वाभाविकता से उसने प्रश्न किया।

"कहीं? अपने विचारों में, अपने हृदय में?"

"तुम्हारा प्रश्न—"

बीच ही में बोल उठी जगदंबिका—"विनम्रता और सहृदयता से शून्य नहीं है यह वसंत। तुम्हारा उससे विवाह ठहरा था वसंत, कभी?"

"हाँ। तुमसे न छिपाऊँगा। एक माता दूसरी माता को अपनी कन्या और अपना पुत्र सौंप चुकी थीं—शब्दों में।"

"शब्द क्यों वापस ले लिए गए। तुम असम्मत हुए विवाह के लिए?"

"नहीं।"

अब जगदंबिका को दिखाई दिया। हृदय के भावों का उसके मुख पर नर्त्तन! वह अवश्य ही पसीने के साथ अपने आँसुओं को भी रूमाल में पोंछ ले गया। पूछा उसने—"लीला के पिता को स्वीकृत न हुआ?"

"और क्या ?"

"तुम उसे भूल जाओगे ?"

"हाँ।"

"तुम विवाह करोगे ?"

"नहीं कह सकता।"

जगदंबिका ने कहा—"वसंत, लीला का विवाह निश्चित हो गया। आज से सातवें दिन जबलपुर में।" वसंत उस समय कटनी से चमड़ा छेद रहा था। चमड़ा पार कर कटनी उसकी बाएँ हाथ की तर्जनी में घुस गई। बूँद-बूँद उसमें से रक्त टपकने लगा, झट से उसने उस पर एक भीगा कपड़ा बाँध दिया और फिर अपने काम में तत्पर हो गया।

चुपचाप देखती रही जगदंबिका मोटर में बैठी सुवर्ण की प्रतिमा की तरह, अविचल और मूक ! मुख खोला अंत में उसने—"तुम्हारी उँगली छिद गई ?"

"हाँ, थोड़ी-सी। आज ही यह पहली बार ! आरंभ के दिनों में कभी ऐसा नहीं हुआ था। मैं समझता था, ये औज़ार मैंने साध लिए हैं।"

"विचार की लहरों का असम वेग भी कारण हो सकता है। मैं टिक्चर ला देती हूँ, किसी फ़ार्मेसी से यहीं पर तो है।"

"नहीं, नहीं, ठीक हो जावेगी। बहुत सूक्ष्म है, रक्त बंद हो गया।" अभीतक वसंत समझता था, लीला अपने पिता को बाध्य करेगी, वह एक दिन निःसंदेह स्पष्ट होकर कहेगी कि मैं वसंत से ही विवाह करूँगी। जगदंबिका ने उस दीपक को बुझा दिया !

"लीला नहीं हो सकती तुम्हारी वसंत। उसके पिता ने मेरे सामने उसके विवाह के निश्चय का तार भेजा।"

"बच्चों का खेल ! खेल में ही उसने अपनी गुड़िया मुझे विवाह में दी ! मैं क्यों उस बात पर यह सत्य देखने लगा कि लीला मेरी ही होगी !" वसंत ने मन-ही-मन अपनी असंभव कल्पना को तुच्छ देखा।

"तुम किसी और जगह विवाह करोगे ? वसंत !" जगदंबिका ने फिर पूछा।

"यही इनका मतलब है क्या ?" मन-ही-मन सोचकर वसंत ने पूछा—"क्षमा कीजिए, मै आपका नाम भूल गया, उपाधि-सहित एक बार फिर बताइए। यही नहीं, कुछ अपना परिचय भी दीजिए। तब आपके प्रश्न का उत्तर दूँगा।"

"मिस जगदंबिका साहित्य में एम्० ए० पास किया है मैंने बंबई यूनिवर्सिटी से। मैंने अपने जीवन के कई वर्ष यूरोप के परिभ्रमण और वहाँ अध्ययन में बिताए हैं।"

"मिस जगदंबिका ? यह कहीं अपने विवाह के लिए तो—" यह विचार फिर आगे नहीं बढ़ाया उसने। उत्तर दिया—"नहीं, मैं इस समय के निश्चय के अनुसार विवाह न करूँगा अब। कल की भगवान् जाने।"

"मैं कविता करती हूँ वसंत !"

"माता की भाषा में या भारत की भाषा में ?"

"तुम्हारा अर्थ मैं नहीं समझी। मैं अंगरेज़ी में कविता करती हूँ।"

"शायद वाइड अपील—समष्टि के उपयोग के लिए ?" वसंत चमार ने पूछा।

"तुम्हारा गूढ़ न समझूँगी। तुम्हारे हाथों की कविता से तुम्हारी ओर खिंची, तुम्हारा हृदय कविता-शून्य है जूतों के डॉक्टर ! इस निर्णय पर न पहुँचने दो मुझे। तुम आजन्म अब विवाह न करोगे—यहाँ पर कविता का जन्म होता है—तुम इस विचार पर भक्ति के साथ जमे रहोगे तो एक दिन विचार अपने आप छंद में निकल आवेगा तुम्हारे हृदय से, अप्रयास; मुक्तधारा की भाँति, बिना श्रम के ही।"

"मुझे कविता से क्या करना है, मेरा विषय रसायन है।"

"मैं वैज्ञानिक और कवि में कोई अंतर नहीं देखती। पहला पदार्थ में नियम खोजता है, दूसरा स्पिरिट में—इसका अर्थ आत्मा करो चाहे छाया।"

"छायावाद या रहस्यवाद—कबीर का या वाल्ट ह्विट्मैन का ?" वसंत ने पूछा।

"वाद केवल विवाद हैं, संज्ञाएँ केवल चीज़ों पर लगे हुए लेस्टेट्ल।"

"किस विषय पर आप कविता लिखती हैं ?" वसंत कुछ भक्ति के साथ बोला।

"मेरा विषय है 'पहला प्यार'। उसका व्यापक रंग कहो चाहे वादी सुर, वह है मृत्यु और वियोग। मैंने तुम्हारी-जैसी प्रतिज्ञा कई स्थानों में सुनी, लेकिन उसे पूरा करते हुए किसी को देखा नहीं।"

वसंत ने कोई उत्तर नहीं दिया इस बात का। वह जगदंबिका के जूतों की मरम्मत कर उनपर पॉलिश कर रहा था।

"यदि अपने अविवाह की प्रतिज्ञा पर स्थिर हो सको तो क्या बात है वसंत !"

"बड़े मुक्त आपके विचार हैं। स्वतंत्र देशों में फिरने के कारण। पर मेरी अविवाह की कोई प्रतिज्ञा न समझे आप। विवाह पर क्या विचार हैं आपके ?"

"विवाह यह एक विश्वव्यापी संस्था है—सामाजिक ही नहीं, प्रकृति में भी इसका बंधन दिखाई पड़ता है। अनेक पदांकों-पर-पदांक पड़ जाने से जैसे मार्ग बन जाता है, वैसा ही। स्वभावतः उसमें स्वार्थ की आहुति देने के लिए वह है, इसलिए पवित्र है।"

"फिर तुम अभीतक ?" वसंत ने जूते अख़बार में लपेट लिए।

"क्या ? कुमारी ही हूँ ?"

"हाँ।" वसंत ने जूते मोटर की सीट पर रक्खे।

जगदंबिका ने बटुआ खोला—"ज्ञात हो जावेगा तुम्हें कभी।" उसने वसंत के मुख पर निहारा, पारिश्रमिक जानने के लिए।

"दे दीजिए आठ आने ?"

"कुल आठ आने ?"

"हाँ, उचित यही जान पड़ता है। तलो ही कितनी लगी आपके जूते मे ?"

पैसे रखकर वसंत अपना सामान समेटने लगा। जगदंबिका मोटर को चालू करने के कल-पुर्ज़ों पर अटक रही थी। वसंत ने सब अपनी चीज़ें अपने अग में लेकर सुना, मोटर घर्र्र्र कर बोल उठी। उधर देख वसंत ने हाथ सन्निकट कर कहा—"नमस्ते।"

"मोटर मे आ जाओ, तुम्हारे घर पर तुम्हें छोड़ दूँगी। धूप तेज़ है।"

"अभ्यस्त होने से इसमें कष्ट नही। मैं ऐसे ही चला जाऊँगा।"

"कहाँ रहते हो ?" मोटर घुमाते हुए पूछा उसने।

"गणेशगज।"

देखते-देखते लीला के विवाह का दिन निकट आ पहुँचा। उस दिन वसंत मज़दूरी के लिए नहीं गया। पास-पड़ोसवालों से आज जी अच्छा नहीं है कहकर द्वार बंद कर लिए उसने भीतर से। उन्होंने समझा सो गया वसंत। पर वह सोया नहीं था। भावों का तुमुल संघर्ष उसके मन में हो रहा था। जब उसकी व्याकुलता बढ़ने लगी तो उसने गीता उठा ली और उसका पाठ करने लगा।

घंटे-भर बाद उसकी पहली आवृत्ति पर उसने कहा—"कैसा सुंदर दोनों सिरों के बीचों-बीच में स्वच्छ-स्पष्ट और मनुष्य को संभाल कर ले जानेवाला यह मार्ग है। इस बिंदु पर द्वंद्वों के ये दोनों सिरे सम भाव मे हमें खींचते हैं। उनका आकर्षण एक दूसरे को खींचने में व्यतीत हो जाता है और हमें स्थिरता प्राप्त होती है, वही शांति है। आशा के राग और निराशा के द्वेष की ही सारी बेचैनी है, एक की प्रीति और दूसरे की घृणा से असमता फूटती है। दोनों का प्यार या दोनों की घृणा बिना हमें सतुलन प्राप्त नहीं हो सकता।"

वह फिर उसी को पढ़ने में रम गया। संध्या हो गई। उसने पुस्तक बद कर रख दी—"उसका मिलन जितना प्रिय है उतना ही प्रिय उसके

विरह को किए बिना यह बीच का मार्ग खोया हुआ ही रहेगा। एक ही घड़ी में यह नहीं हो सकता, विचार-पर-विचार की रगड़ पड़ने से पुराने संस्कार घिसे जा सकते हैं। मैं उसमें विरह को प्रिय समझने का अभ्यास करूँगा। जिस दिन यह हो जायगा, वह भूली जावेगी।"

वसंत ने उठकर अपना ट्रंक खोला। वे दोनों गुड़ियाँ निकालीं उसने। मेज़ पर रक्खीं। "इन्होंने एक असम विचार को घनीभूत किया मेरे जगत में। उसके विवाह के निमंत्रण बिरादरी में घर-घर बटे हैं। वसंत की कन्या और वर दोनों पक्षों ने अवहेलना की है। निमंत्रण पाने पर भी मैं नहीं जाता वहाँ। पिता के पास आया होगा निमंत्रण अवश्य। पर जब मैं पिता के यहाँ नहीं रहता तो क्या मेरा अलग व्यक्तित्व नहीं बन जाता। सुना है, बिरादरी के लोगों में 'वसंत चमार' के नाम से मैं प्रसिद्ध हूँ। यह संबोधन उनके मुख से नहीं लगता अच्छा!"

कुछ देर विचार कर वसंत ने कहा—"पर लीला का विवाह देखने को न जाना कायरता है, अहंकार है। निमंत्रण नहीं दिया तो क्या? जहाँ स्नेह है वहाँ निमंत्रण आवश्यक नहीं। गोपाल बाबू का मैं स्नेह-भाजन रहा हूँ बहुत दिनतक। मैं जाऊँगा ही वहाँ। यदि उन्होंने वहाँ छूत मानी मेरी? विवाह-मंडप में नहीं घुसने दिया मुझे? सुना है गोपाल बाबू के अनेक अहिंदू मित्र भी निमंत्रित हैं, मैं उनके साथ बैठकर विवाह देखूँगा।"

वसंत ने एक गुड़िया उठाई मेज़ पर से—"यह उसकी गुड़िया लौटा आऊँगा उसे। वह भूली न होगी इसे। मेरे किस काम की है यह।" उसने दीपक जलाया, समय हो गया था।

उसने कपड़े बदलने आरंभ किए, वह हँसा—"एक दिन मैंने कह दिया था उससे, गुड़ियों के विवाह के बाद कि ये गुड़ियें हमारी नहीं हैं, ये गुड़ियें ही हम हैं। इसपर विश्वास जम गया था उस सरल और सुकुमार हृदय का। इसकी क्षमा माँग लूँगा। यह उसी की चीज़ उसे

दे आऊँगा और क्या उपहार हो सकता है ?"

कहीं जल्दी का लग्न हुआ तो देर हो जायगी इस भय से वसत ने शीघ्रता कर घर में ताला दिया और गुड़िया एक सफ़ेद कोरे काग़ज़ में लपेट एक नए स्वच्छ रूमाल में बाँधकर वह ले चला। रूमाल में उसने एक लेस्टेट्ल बाँध दिया जिसपर उसने मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—"वसंत चमार का उपहार।" लीला से भेंट न होने पर वह उपहार उसके पास भेजने से अपनी कथा कह सके अपने-आप, इसलिए।

नाका हिंडोले के पास आकर वह रकाबगंजवाली सड़क से आगे बढ़ा। उधर से शॉर्ट कट लेने का उसका विचार हुआ। जल्दी-जल्दी चलने लगा वह। ताड़ीख़ाने के समीप आया वह। एक मनुष्य खड़ा था वहाँ पर, जाने कौन, वसंत अपनी शीघ्रता में था।

उस मनुष्य ने वसंत को पहचाना, उसके हाथ में एक बोतल थी। वह वसंत का अनुसरण करने लगा, उसी चाल में। वसंत को कुछ नहीं ज्ञात हुआ।

सूनी सड़क पाकर वसंत दौड़ने लगा, समय पर उत्सव में पहुँच जाने के लिए।

अनुसरण करनेवाला भी दौड़ा। उसने वसंत के सिर पर खींचकर वह बोतल मारी। वसंत तुरंत ही अचेत होकर सड़क के एक किनारे पर गिर गया। घने नीम की छाया थी उसपर !

तीसरा पर्व

पहला परिच्छेद

प्रतिहिंसक

आठ-दस दिन बाद ! "सिर की चोट से सारे विचार-क्रम में कभी बदलाव हो जाता है मनुष्य के। क्यों नहीं, विचार की सारी मशीनरी है भी तो अधिकांश में वहीं पर स्थित।" सोचा वसंत ने—"जब से मेरे सिर में चोट लगी है, मेरे विचार की धारा में कुछ परिवर्त्तन हुआ। उसने दिशा नहीं बदली हो, पर गहराई निःसंदेह खुरच ली है। जो मध्यम मार्ग मेरे विचार में उपजा है, अब देखता हूँ वह पार्थिव जग से नहीं जुड़ा है। मैंने किसी को मित्र न बनाकर समझा था मेरा कोई शत्रु न होगा। उस रात के प्रहार ने उसे झूठा सिद्ध किया। कौन होगा फिर वह मेरा शत्रु ?" शय्या छोड़कर वसंत उठ खड़ा हुआ। उसने अँगड़ाई ली। माथा हिलाया—"ठीक हूँ अब। मैं समझता था, मस्तिष्क की दुर्बलता शायद घर बना

लेगी वहाँ।"

उसके कमरे की चीज़ें अस्त-व्यस्त थीं, उनपर आठ-दस दिन से दृष्टि ही नहीं डाली गई ! उन पर धूल पड़ी थी, उतने ही दिनों की। वसंत दिन के कार्यक्रम पर विचार करता हुआ, स्वच्छ करने लगा कमरा।

उसे वह रात याद आई, लीला के विवाह की आधीरात में जब उसे होश आया तो उसने अपने को फुटपाथ पर पड़ा हुआ पाया। स्वप्न और जागृति की उलझन से धीरे-धीरे वह निकला। उसको स्मृति प्राप्त हुई, उसका हाथ उस रूमाल पर पड़ा, जिसमें लीला की घरोहर बँधी थी। चारों ओर की शून्यता पर उसने समय का अनुमान किया। वह उठ खड़ा हुआ। सिर चकराने लगा। वह विचारने लगा—"सभव है मुझे अब भी देर नही हुई। बहुत संभव है अभी उसका विवाह न हुआ हो। जब आधीरात के बाद का लग्न है ?"

इस बार वह बहुत धीरज के साथ उठा और चला भी धीरे-धीरे उपहार के भार को सँभाले। कोठी के निकट पहुँचने पर वह समझता था, प्रकाश और स्वर से सारा वायुमंडल प्रभावित होगा। कुछ नहीं दिखाई दिया। वही शून्यता ! वह बिलकुल कोठी के पास पहुँचा, एकदम निर्जीवता ! निराशा से उसके पैर भारी हो गए। वह बंद फाटक का लोहा पकड़कर विश्राम करने लगा—"विवाह हो गया होगा संध्या समय ही। अब सब लोग सो गए होगे हारे-थके।" उसका तर्क बोला—"एक भी दीपक उज्ज्वल नहीं कहीं। विवाह के रात, दीपक की यह मितव्ययता ? मेरी समझ में ही नहीं आती। गोपाल बाबू जिस वेग से धन कमाते हैं, उसी प्रवाह में उसे व्यय भी करते हैं।"

"बात क्या है यह ? कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई ? कोई विघ्न तो नहीं उपज गया ? वर-वधू में से कोई सहसा रोगाक्रांत तो नहीं हो

गया ?" फाटक से थोड़ी दूर बग़ल से एक मार्ग था। वसंत उससे होकर कोठी के भीतर गया। उसने पूरी परिक्रमा की कोठी की। बजरी पर उसका जूता रव उत्पन्न कर रहा था, जो शून्यता के आधार पर अनेक स्वर आगे का सा मालूम दे रहा था।

पोर्च पर से आवाज़ आई—"कौन है ? वहीं ठहर जा !"

वसंत शिला-मूर्त्ति होकर खड़ा हो गया।

उस पर आँख गड़ाए, टूटी खटिया पर से एक मनुष्य उठा। जूता पहनते, लाठी सँभालते हुए उसने कहा—"क्या, मतलब क्या है तेरा ? चोरी करने का इरादा है क्या ?"

"नहीं माई। चोर नहीं हूँ मैं।"

मनुष्य ने सिरहाने से टॉर्च उठाई, उसका बटन दबाकर प्रकाश किया और वसंत की ओर चला—"फिर कौन है तू ऐसे कुसमय में।" वसंत के मुख पर उसने प्रकाश का स्तंभ फेंका।

"लीला का विवाह है न आज ?"

"यहाँ कहाँ है विवाह ! कौन वसंत बाबू !" चौकीदार ने पहचाना उसे।

"हाँ।"

"यहाँ छोड़कर गए साहब को आज हो गए छै-सात दिन। सिविल लाइन में चले गए वह। वहीं हो रही है शादी।" चौकीदार ने कहा मन में—"कितना अच्छा लड़का था यह, यदि इस प्रकार पागल न हो गया होता तो आज इसी के साथ होता विवाह। क्या किया जाय भगवान् की लीला है।"

वसंत के सिर में चक्कर आने लगा था, वह बैठ गया।

चौकीदार वसत के निकट आकर बोला—"आश्चर्य है सारे नगर को मालूम है विवाह कहाँ है, तुम्हें ही नहीं।"

"हाँ भाई। अधिक मतलब तो मैं किसी से रखता हूँ नहीं।"

"निमंत्रण में लिखा नहीं था कि कहाँ से होगा विवाह ?"

"निमंत्रित कौन करता मुझे ?"

चौकीदार भी समझा—"हाँ पागल ही ठहरा, न जाने क्या कर दे।" प्रकट में उसने कहा—"वसंत बाबू रात को इस प्रकार घूमते रहना ठीक नहीं है। अंधेरे में कहीं गिर पड़े, किसी ने धोके से चोट चला दी। आप भले घर के लड़के हैं। मन को अपने अधिकार में रखिए। उसको बहकने देना ठीक नहीं।"

"तुम क्या समझते हो, मैं पागल हो गया हूँ ?"

चौकीदार बोला—"नहीं, ऐसा क्यों समझूँगा ? कुछ गरमी आपके दिमाग़ में घुस गई है, ऐसा लोग कहते हैं। कुछ दिन के लिए पहाड़ पर चले जाओ तो ठीक है।"

वसंत बड़ी ज़ोर से हँसा—"क्या कहूँ तुमसे मैं ?" वह उठा।

"जी अच्छा नहीं है क्या ?"

"ठीक ही है।"

"कुछ कष्ट अवश्य है।"

"नहीं तो।" वसंत ने स्वस्थ स्वर में कहा। वह जाने लगा।

"घरतक पहुँचा दूँ तुम्हारे ?"

"नहीं।"

"लो, यह टॉर्च ले जाओ।"

"नहीं।"

बड़ी कठिनता से वसंत उस रात अपने घर पहुँचा। जाते ही वह शय्या पर पड़ गया, उसे ज्वर चढ़ गया। उसने रात की घटना का किसी से कुछ उल्लेख नहीं किया, न किसी को यही बताया कि वह बीमार है। उसी मकान के दूसरे सिरे पर वैद्यशास्त्री का औषधालय था, वैद्यजी वसंत पर कृपा भी रखते थे। फिर भी वसंत उनके पास औषधि के लिए नहीं गया। कहने लगा—"ठीक हो जाऊँगा ऐसे ही। संसार में इतने लोग बीमार होते हैं क्या सबके औषधि ही होती है। उसे फिर ज्वर न चढ़ा, आठ-दस दिन में ठीक !

झाड़-पोंछ कर वह शौच और स्नान से निवृत्त हुआ। दो-तीन दिन से उसे बड़ी भूख लगने लगी। उसने खाना पकाकर खाया। दस दिन से वह कहीं मज़दूरी के लिए भी नहीं गया था।

सब चीज़ें सँभालकर चला वह। भीखू का घर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हुसेनगंज के चौराहे में पहुँचा। वहाँ कई जगह पूछते-पूछते जा पहुँचा वह उसके घर के निकट। भीखू ने पहले उसे देखा। वह घर के भीतर छिप गया। चुनिया से बोला—"कोई मुझे बाहर आवाज़ दे तो कह देना, नहीं है यहाँ मज़दूरी पर चला गया।"

भीखू के घर के पास आकर एक लड़का बता गया वसंत को—"यही है भीखू चमार का घर।"

"इसी में भीखू रहता है?" वसंत ने अपने मन में पूछा—"लोग कहते हैं भीखू को यदि नशे की लत न होती तो वह आज मालदार होता। मुझे इसके घर के बाहर का चित्र देखकर ही ज्ञात हो गया इसमें बसनेवाले प्राणियों की क्या दशा है। भीखू पर मेरे ऐसे मन के भाव हैं और भीखू समझता है मैं उसका मित्र नहीं हूँ। केवल यही सोचता तो भी ठीक था। वह मुझे अपने जन्म का बैरी मानता है।"

वसंत ने आवाज़ दी बाहर से—"भीखूजी!"

चुनिया ने पूछा—"उधार का देना होगा। आया है वह माँगने। देहरी पर खड़ी होकर झूठ बोलने को हूँ मैं।" वह चुपचाप रही। रमई पड़ोस में किसी चमार के यहाँ से कुछ चमड़ा उधार माँग लाने के लिए भेज रक्खा था भीखू ने।

"भीखूजी!"

चुनिया बाहर आई बोली—"नहीं हैं घर में। फेरी पर गए। क्या काम है?"

"है कुछ बहुत ज़रूरी।"

"कह जाओ। आने पर कह दूँगी मैं।"

"तुमसे क्या कहूँ, कब आवेंगे वह?"

"देर में।"

"खाना खाकर गए हैं?"

"नहीं।"

भीखू छिपकर सुनता था। उसे बड़ा क्रोध आ रहा था चुनिया पर, जिसका मन वसंत के साथ बातें करने में लग गया था।

"कितने बजे खाना खाते हैं?"

"कोई ठीक नहीं। किसी दिन मज़दूरी मिलती गई तो शाम तक लौटते हैं। बाज़ार में ही कुछ खा-पी लेते हैं। तुम्हें कभी देखा नहीं। हाल ही में आए हो क्या? कहीं कलकत्ता या बंबई से?"

"नहीं यहीं रहता हूँ। हाल ही में काम शुरू किया है।" वसंत आँगन में बढ़ गया उनके।

आँगन क्या था, सड़क का थोड़ा सा हिस्सा घेर लिया था। कुछ बाँस भूमि पर गाड़कर उन पर कुछ मैले-फटे सीवन खुले बोरे लटक रहे थे। चुनिया वसंत के प्रवेश पर घबराई। धीरे से पूछा—"क्या कुछ पैसा उधार लिया था इन्होंने?"

"नहीं एक पैसा भी नहीं।"

चुनिया निश्चिंत हुई। आँगन में एक ओर छाया में एक चारपाई पड़ी थी, वह वसंत से उसपर बैठ जाने को कहना चाहती थी कि भीतर घर में से बड़ी ज़ोर की झनझनाहट बाहर आई। वसंत ने चौंककर उधर देखा, चुनिया को संकेत कर उधर दिखाया।

चुनिया साधारण रूप से बोली—"चूहा है, थाली गिरा दी उसने।" वह देखने को भीतर चली गई।

वसंत कंधे पर का लोहा भूमि पर रख, थैला उतार चारपाई पर बैठ गया, भीखू की प्रतीक्षा में शायद।

भीतर भीखू ने पास पड़ी हुई थाली पर राँपी खींचकर मारी और अपना क्रोध जब देह में न समा सका तो बाहर निकाला उसे। चुनिया के भीतर आते ही बोला—"अरे क्या हो गया तुझे? जा कह दे उससे

चला जाय। यही वह बामन का बेटा है, जिसने हमारी रोटी पर हाथ मारा है।"

"अरे वह है यह ? समझ तो गई थी मैं। लेकिन बड़ा भला-मानस जान पड़ता है। तुम योंही सब से दुश्मनी मोल ले लेते हो। सबको अपने-अपने भाग्य का मिलता है। वह बिचारा भला हमारी रोटी क्यो छीनने लगा।"

"तू क्या जाने। जा निकाल उसे।"

"कैसे कह दूँ जा। कुछ देर बाद चला जायगा अपने-आप।"

"अंदर ही रह फिर तू, मत जा उसे बातों में लगाने को।"

"यह भी कहाँ की भलमनसाहत है, कोई अपने यहाँ आया हो और हम इस तरह उससे मुँह छिपा ले।" चुनिया बाहर चली आई।

भीखू क्रोध में बँधा कुढ़ने लगा चुनिया के ऊपर, चाहता था मार दूँ लोहा खींचकर उसके सिर पर—"अफ़ीम भी तो इसने आज मुझे कम दी !"

"एक बात कहूँगा माँ ! बड़ा अस्त व्यस्त और मलिनता हो रही है आँगन में। यही नहीं, घर में भी जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, स्वच्छता नहीं जान पड़ती। तुम्हें अवकाश न मिला होगा अबतक। कोई बीमार तो नहीं है घर में ?"

चुनिया चबूतरे पर बैठ गई। वसंत की विशुद्ध हित की दृष्टि से कहे गए वाक्यों को सुनकर बोली वह—"क्या कहूँ बेटा। बीमार ही समझो। बुढ़ापे की अवस्था ही बीमारी की है। उसपर एक चिंता थोड़ी है सिर में, जितने बाल हैं वहाँ, उतनी ही।"

"धन का अभाव ? पर माँ हमारा सुख केवल धन के आश्रय में ही नहीं है।"

"है कैसे नहीं ? खाने को पैसा ही चाहिए, पहनने को वही। दुख-बीमारी में उसी की ज़रूरत पड़ती है।"

"आवश्यकताओं के घटाने-बढाने से मनष्य अमीर और ग़रीब

बनता है। जीवित रहने को उसे बहुत थोड़ा चाहिए—सुख, यह एक कल्पना है और अधिक-से-अधिक एक अभ्यास।"

"पास-पड़ौस के बालकों के पास खाने-पहनने-खेलने की कोई चीज़ देखकर बालक मचलने लगता है, पैसा ही चाहिए। सरकारी टैक्स के लिए किराए के लिए पैसा ही चाहिए, जिनसे उधार लिया है उनके लिए पैसा ही चाहिए।"

"लड़के कितने हैं तुम्हारे?"

"दो।"

"फिर तुम्हारा दुख नहीं समझ पड़ता। तीन मनुष्य कमानेवाले होकर तुम्हें दुःख! कई महीनो से मैं यह काम कर रहा हूँ। बहुत अच्छी आमदनी मेरी है।"

भीतर भीखू कहने लगा—"चाडाल तूने तमाम मेरे गाहक तोड़ लिए! तूने बनवाई की दर सस्ती कर दी। तेरा नाश हो!"

"बड़ा लड़का नहीं करता कुछ मदद हमारी।"

"क्यो?"

"भगवान् जाने। हमसे अलग रहता है। एक साहब का बैरा है सदर में। समय ही ऐसा है बेटा! संतान जबतक अपाहज रहती है, तब तक माता-पिता भूखे और नंगे रहकर भी उनको पालते हैं। वे चुगने-योग्य हो जाते हैं तो उन्हें सुध नहीं रहती कि हमारे माता-पिता को अवस्था ने दुर्बल कर दिया है।"

भीतर भीखू मन में बोला—"बैठ गई अब यह राँड सारा इतिहास सुनाने को उसे। जो मेरा दुश्मन होता है, उसी से अपने घर का सारा भेद खोल देने में इसका जी लगता है।"

"पर तुम्हारे कष्ट का सबब कुछ और है। कई जगह मैंने सुना है, भीखूजी का पहले बड़ा अच्छा कारबार चलता था।"

"हाँ बेटा, सब तकदीर की बात है।" चुनिया ने माथे पर हथेली मारकर कहा।

"दूसरा लड़का भी नहीं देता कुछ कमाकर ?"

"छोटा है अभी, आठ बरस का। जाता है कभी-कभी पॉलिश करने को इधर-उधर। कभी आकर दो-चार पैसे दिखाता है, नहीं तो जो कुछ पैसा पाई कमाया सब वहीं अमीनाबाद में ही चाट आता है। क्या करूँ, बड़े लड़के ने तो बचपन में अच्छा खाया और पहना था। यह अपनी मिहनत के चार-छै पैसे ख़र्च करता है तो हमारा क्या ?"

वसंत ने उसके घर पर दृष्टि कर कहा—"द्वार एक ही होगा घर में तुम्हारे आने-जाने का ?"

"हाँ। मौत के दिन काटने हैं किसी प्रकार। यह एक ही धोती है मेरे अंग में सालभर से। जोड़-जोड़ कर बड़े यत्न से इसे पहनती हूँ—किसी प्रकार लज्जा और शीत से अपनी रक्षा करती हूँ।"

"तुम्हारे गृह के अंधकार, मलिनता, रोग, शोक, उपवास, नग्नता का एक ही कारण है, भीखूजी शराब पीते हैं।" बहुत धीरे से कहा वसंत ने।

भीतर भीखू ने यद्यपि स्पष्ट शब्द नहीं सुने, पर वह भाव समझ गया। बोला—"तो क्या ? इसके बाप का क्या इसमें ?"

चुनिया ने कहा—"हाँ, सारी दुनियाँ जानती है। किसी की लाज नहीं इन्हें। अब आगे कैसे दिन कटेंगे, इसकी डर नहीं इन्हें बेटा। तुम सिर्फ़ शराब कहते हो, ताड़ी यह पीते हैं, गाँजे की दम यह लगाते हैं, अफ़ीम यह खाते हैं।"

भीखू क्रोध में तमतमाकर कोठरी के बाहर निकल आया। झाड़ू पड़ी थी आँगन में, उसे उठाकर चुनिया पर प्रहार करने चला—"तेरे बाप का क्या खाता हूँ। खाता हूँ, अफ़ीम भी खाता हूँ।"

वसंत की समझ में नहीं आया कुछ, भीखू का वह प्रकटना। उसने उठकर भीखू का हाथ थाम लिया। बोला—"क्या हो गया तुम्हें भीखूजी। स्त्री घर की लक्ष्मी है, उसे झाड़ू से मार रहे हैं

आप ? राम, राम, सुख-दुख की यह संगिनी तुम्हारी, अकारण ही तिरस्कार !"

"चल बे चल ! बड़ा आया है बनकर जज का बच्चा ! तुझे किसने बुलाया यहाँ ?"

"शांत होओ भीखूजी, तुम्हारे क्रोध का मुझपर कोई असर नहीं होगा। क्योंकि मैं तुम्हारी भ्रष्ट वाणी में अपमान नहीं देखता।"

भीखू का छोटा लड़का आ पहुँचा इतने में। उसे ख़ाली हाथ लौटा देखकर भीखू ने पूछा—"क्यों ?"

"लाल चच्चा कह रहे हैं, चमड़ा नहीं है मेरे पास। जो थोड़ा-सा है, वह मेरी ज़रूरतभर का होगा मुश्किल से।"

भीखू ने झाड़ू रमइ की पीठ पर जमा दी—"अबे, तो इतनी देर-तक कहाँ था ?"

"चच्चा थे नहीं घर पर।" रोते-रोते वह बोला।

"झूठा कहीं का, गोली खेल रहा होगा गली में। लौटकर भीखू की दृष्टि पड़ी फिर वसंत पर।

वसंत बोला—"मैं दे दूँगा आपको चमड़ा, कितना चाहिए ?"

भीखू कुछ शात पड़ गया था—"क्या काम है तुम्हारा मुझसे ? मेरी मज़दूरी खा गए तुम ? अब क्या मुझे निगलने आए हो ?"

"यह झूठा ही शक है आपका। जो आपके घर के सुख और शांति को खा गया, उसे आप पहचानते ही नहीं। शांति से बैठिए चारपाई पर, बहुत बातें करनी हैं आप से।"

चुनिया वसंत का हाथ पकड़कर ले गई और दो पैसे देकर कहा—"चीनी ले आ बेटा।" रमइ चला। दूध रक्खा था। चुनिया ने धीरे-धीरे आँगन साफ़ करना आरंभ किया।

भीखू कुछ और शांत हुआ, बैठा वह चारपाई में—"कहो, क्या कहना है तुम्हें ?"

"तुम्हें मुझसे क्यों शत्रुता हो गई ? साफ़-साफ़ कहना भीखूजी, मैं इस मामले को आज यहीं पर समाप्त कर डालने के लिए आया हूँ।"

"साफ़-साफ़ कहूँगा। है मुझे तुमसे ज़रूर दुश्मनी।"

"क्यों ?"

"क्यो नहीं ? अरे तुम ज़ाहिरा में न सही, छिपे हुए कारण हो मेरे दुर्भाग्य के।"

"मै ? तुम्हारे दुर्भाग्य का कारण ?"

"हाँ, हाँ। इधर कुछ महीनो से मेरी दुर्दशा के सबब, मेरा मतलब है। रईसी करता था एक दिन भीखू लखनऊ में। महीन पहनता और खाता था, अपने मकान में रहता था। बीच शहर की साफ़ और उजली चौड़ी सड़क पर। नवाब और तालुक़ेदारों के काम से ही उसे फ़ुरसत न थी। बीत गए वे दिन ! भीखू साहस और भरोसे के साथ इस मैली और अँधेरी गली मे अपने दिन बिताने लगा, किसी प्रकार गए सुख की याद कर-कर। उसके जीने के लिए जो कुछ ज़रूरी था, भगवान् दे ही देते थे उसे शामतक।"

"भीखू !—" वसंत कुछ कहना चाहता था।

रोक दिया भीखू ने—"चुप रहो, तुम्हारा यह लांछन झूठा है कि भीखू पीता है। तब नहीं पीता था क्या जब मैंने काम शुरू किया था ? इतने भिखारी लखनऊ में घूमते हैं, क्या वे सब पीते ही हैं ? फिर क्यो उनकी बुरी हालत है ?"

"वे श्रम नहीं करते। अपाहिजों की बात मैं नहीं कहता।"

"क्या देखा है अभी तुमने ? भीखू के सामने अमीनाबाद बसा है। मैंने ढोर चुगते हुए देखे हैं यहाँ। इस गली को भी मैंने भगवान् का वरदान समझा। अपनी ज़रूरतें पूरी कर मैं महाजनों के कर्ज़ को अदा करने के लिए भी कुछ-न-कुछ बचा ही लेता था। अचानक भूखे गीदड़ की भाँति, मैंने अपने मुहल्लों में—हाँ वे मेरे मुहल्ले हैं, बरसों से मैं उनमें फेरी लगाता आया हूँ। वहाँ मैंने तुम्हारे स्वर सुने—

"रोटी ! रोटी ! रोटी !" मैंने लाख तुम्हे बरजा यह रोटी मेरी है। तुम न माने। कपड़े के बिना हम नंगे रहने लगे, हम पेट बाँधकर पानी पीकर सोने लगे, तेल बिना हम अँधेरे मे पड़ गए, दवा के बिना हम कराहने लगे। तुम्हें मालूम ही नही देता, हमारे पाप का बोझ तुम्हारे कंधे पर है। तुमने नया काम सीखा है, सीखो। पर तुम्हें अपनी फेरी के लिए नए मुहल्ले ढूँढ़ने थे न।"

वसत विचारशील था। भीखू की बात उसे चुभने लगी, उसने अपने अंतःकरण से प्रश्न किया—"वसंत ! क्या सचमुच में तू अपराधी है ?"

"यूनिवर्सिटी, स्कूल, कॉलेज, हॉस्टल, राजा-रईसो की कोठियाँ सब जगह तुम पहुँचते हो। मै पहले से आजकल चौगुनी मेहनत करता हूँ और पहले का चौथाई नही कमा पाता। पूछो चुनिया से।"

चुनिया झाड़-पोछ कर स्वामी के लिए चिलम भर लाई थी। आग जलाकर उसमें उसने चाय के लिए पानी रख दिया। बेटा उसका चीनी लेकर इस बार बड़ी जल्दी लौट आया था। चुनिया ने पति को गुड़गुड़ी देते हुए कहा—"हाँ यह बात तो सच है। इनकी आमदनी पहले से बहुत घट गई है।"

"यह जगत् एक खेत के समान है भीखूजी ! इसमें हम परिश्रम करने के लिए छोड़ दिए गए हैं। जिसने जितना खोदा, जैसा बोया वैसा ही लवाया। मैं तुम्हें अपना शत्रु समझूँ और तुम मुझे समझो यह झूठा ख़याल है। मैं भाग्य को मानता हूँ, क्या तुम नहीं मानते भाग्य को ? तुम्हारा कारख़ाना जब टूटा था तो कदाचित् वसंत पैदा ही नहीं हुआ था। तुम जब गली के अंधकार में बस गए थे तब भी वसंत के कधे पर लोहा न था। आज सातवे-आठवे दिन मैं चारपाई पर से उठा हूँ—इस अवधि में मैंने औजारो को छुआ भी नहीं। भीखू जी सच-सच कहो, इन आठ दिनो में तुमने कैसा कमाया ?"

"चुनिया ! अच्छा तो कमाया न ? मैं सोचता ही था कि बात

क्या है ?"

चुनिया ने कोई आशा के भाव नहीं दिखाए—"अच्छा कमाया ? तो सब पी आए होगे।"

"क्यों भीखूजी ! कहो मैं तुम्हारे भाग्य का खाता हूँ—कभी नहीं। हमारा भाग्य वह किसी छिपे हुए हाथ से नहीं लिखा जाता। उसे बनाते हैं हम अपने विचारों से। जैसे विचार वैसा काम और वैसा ही भाग्य। अब भी आँखों को खोलो और अपने बराबर शत्रु को पहचानो। तुम्हारा शत्रु तुमसे बाहर नहीं है, वह तुम्हारे विचार, तुम्हारे कर्म और तुम्हारी ही वाणी में है। दिल से निकाल डालो यह नशा करने की इच्छा। उसी दिन से यदि तुम्हारी तकदीर न जाग उठे तो वसंत आजन्म तुम्हारी बिना मज़दूरी के सेवा करेगा। पर सब से पहले चाहिए विश्वास। है विश्वास ? जो मनुष्य अपने को भाग्यहीन समझता है, उसके पास विश्वास नहीं होता। विश्वास ही सौभाग्य है। है विश्वास तुम्हारे ?"

एक लड़का भीखू के विचार पर विजयी हो रहा था। भीखू ने सिर नीचाकर सोचा—"है मेरे विश्वास ?" गुड़गुड़ी में से हवा खींची, कुछ भी धुआँ न निकला।

वसंत ने कहा—"विश्वास केवल देवताओं की अट्टालिकाओं में ही नहीं मिलता। है, मिलेगा, था। केवल पहली भावना चाहिए प्रबल, उसमें निवास हो जाने से शेष दो भावनाएँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। भीखूजी ! है तुम्हारे विश्वास ?"

भीखू ने चिलम के सिर पर हाथ रक्खा, आँच मालूम करने को। नहीं थी। उसने पुकारा—"रमइ, बेटा ला तो उसमें आग रख ला।"

"है मेरे भी विश्वास। सभी के होता है।"

"भीखूजी एक भ्रम होता है, उसका नाम भी भूल से विश्वास कहा जाता है।"

"वह कैसा ? नहीं आया समझ में।"

"वह भय का विश्वास है—अँधेरे का, 'नहीं' का। वही तुम्हारे है। उसे विश्वास नहीं कहा जायगा, वह भ्रम है।"

"मैंने इतना बड़ा ज़माना देखा, और मेरे विश्वास ही नहीं। एक लड़का मुझे ज्ञान सिखाने आया है ! चुनिया, जा मेरा सितार उठा ला, जा मेरी खंजरी ले आ, जा मेरी माला ले आया, जा मेरे गुरु की किताब उठा ला।"

चुनिया चूल्हे में चाय बना रही थी, उठी। रमइ ने चिलम में की आग सुलगा ली थी, नए अगारे डालकर। पिता को दी जाकर वह।

भीखू ने चिलम पीकर कहा—"मेरे गुरु हैं, उन्होंने मुझे वाक्य दिया है, मैं संत हूँ। मैंने गुरु के वाक्य को हमेशा याद किया है। मैं घटों कभी सितार कभी खंजरी में कीर्तन करता हूँ। रमइ जा बेटा, संबू को बुला ला उस्ताद अत्तन के यहाँ होंगे। कहना दस मिनट के लिए यहाँ आकर खंजरी बजा जाओ। बड़ी बढ़िया खंजरी बजाता है। पढ़ा-लिखा होता और बर्त्तन मलने की नौकरी न करता होता तो राजा-रईसों की महफ़िल में जगह पाता। बड़ा आनंद आता है उसकी खंजरी के साथ सितार बजाने में।"

रमइ दौड़ता हुआ चला गया। भीखू ने फिर चिलम पीना आरंभ किया।

अफीम की गोली मॅडराई भीखू के मस्तिष्क में। वह फैलने लगी थी, आषाढ़ की नीत नवीन मेघमाला की भाँति। "जा, देखती क्या रह गई ? उठा ला मेरा सितार और खंजरी।"

"रहने दो भीखूजी, रहने दो यह भी कोई कीर्त्तन का समय है ! फिर कभी आकर सुन जाऊँगा। पर यदि हमारे मन का साथ न हो तो केवल होठों के किए हुए शब्द से कुछ हल नहीं होता।"

"होता कैसे नहीं जी। तुम अभी कच्ची उमर के हो, जानते ही

क्या हो ? मेरे बड़े लड़के का पहला लड़का अगर उस साल की चेचक में जाता न रहता तो, तुम्हारे ही इतना बड़ा होता। एक दिन नहीं, कई बार मैंने यह अनुभव किया। सितार बजाते-बजाते मेरे पैरों पर से जैसे हाल-सा उठा, मेरी दोनों आँखें बंद हो गईं। दूर में क्या चौगून में चल रहे थे सितार पर मेरे हाथ और खंजरी पर संबू के।"

वसंत उसकी बातों से उकता रहा था, पर केवल अपनी बात के आगे दूसरे को बोलने ही न देना सभ्यता नहीं।

चुनिया सितार और खंजरी लाने नहीं गई। चूल्हे के पास बैठकर चाय बनाने लगी।

"आँखें बंद हुईं मेरी। सुध-बुध नहीं रही मुझे कि मैं कौन हूँ, कहाँ पर हूँ, क्या कर रहा हूँ। कैलास के ऊपर एक दिन भगवान् शंकरजी देखे मैंने। बाघंबर पर विराजमान। त्रिशूल से सामने जलती हुई धूनी में लकड़ी पर का कोयला तोड़ रहे थे। चिलम उलटी कर रक्खी हुई थी वहीं, ऊपर उसके थी पानी में भीगी हुई साफी। माता पार्वतीजी उनके चरण दबा रही थीं। फन फैलाए हुए अनेक साँप झूल रहे थे उनके हाथ, पहुँचे और कंधों पर से।"

मन-ही-मन हँसने लगा वसंत—"अफ़ीम की झोंक में देखा होगा।" कहा उसने।

भीखू का पारा चढ़ने लगा, वह उठ खड़ा हो गया—"अफ़ीम की झोंक में देखा होगा! और तुम अपने को विश्वासवाला कहते हो? वाह! अच्छी समझ है तुम्हारी। बात तो सुनो पहले पूरी।" भीखू ने चिलम कोने में रख दी—"संबू चल न सका चौगून में थक गया बिचारे का हाथ। उसने धीरे-धीरे लय कम कर दी। लय का कम होना था कि भगवान् अंतर्ध्यान हो गए।"

"क्या हुआ फिर?" वसंत ने पूछा।

"मैंने संबू से पूछा कि क्या देखा तूने? उसने ठीक वही बताया एक-एक रत्ती-माशा वही कहा। अब कहो तुम, हमारे विश्वास है या

नहीं ?"

रमइ ने वापस आकर कहा—"संबू चाचा कह रहे हैं, मै नहीं आता इस वक्त ।"

"क्यो ?" भीखू ने पूछा ।

"रहने दो, करना क्या है ।" वसंत ने कहा ।

भीखू ने फिर पूछा पुत्र से—"क्यों ? क्यों ? क्यों नहीं आया वह ?"

"कहते थे, कुछ गाँजा पिलाने-पीने का उपाय हो तो आऊँ ।"

चुनिया लकड़ी हाथ में लेकर उठी—"उस दिन उतनी बड़ी लड़ाई होकर रह गई गाँजे की ख़ातिर । तुमने क़समें खाई हैं, यहाँ गाँजा पीने की, दोनों ने । ख़बरदार अच्छा न होगा, अगर तुमने फिर चिलम मँगाई तो ।"

"थूँ ही बहक उठती है तू ! किसके पास है पैसा, कौन मँगा रहा है चिलम । बैठो बेटा, रहने दो । मत जाना अब उसे बुलाने ।" भीखू ने कहा ।

चुनिया पहला गिलास चाय का ले गई वसंत के पास । वसंत ने हाथ जोड़कर कहा—"माँ, मैं चाय नहीं पीता ।"

"तू पगली है, वह हमारे घर की चाय पिएँगे ?"

चुनिया ने गिलास भीखू को दे दिया । चाय पीते-पीते भीखू ने पुत्र से कहा—"बेटा, एक चिलम तमाखू की और पिला दे बेटा ।"

वसंत भीखू के उस कटाक्ष पर दुखी हुआ । उसने चुनिया से कहा—"एक गिलास ठंडा पानी पिला दो मुझे बदले में ।"

चुनिया वसंत के लिए पानी लाते हुए पछताई कि कुछ चीनी बचाकर नहीं रख ली । दूसरा पैसा भी तो नहीं है अब पास में ।

वसंत ने पानी पिया ।

संबू बाहर से आकर झाँकने लगा । उसकी दृष्टि वसंत पर पड़ी । वह न-जाने क्यों लौट चला । उसको पीठ किए जाते भीखू ने देखा,

बोला—"कौन संबू !"

संबू रुका नहीं, न उसने उत्तर ही दिया।

"सुन तो सही।"

"जाने क्यों नहीं देते।" पीठ फिराए चाय पीते-पीते चुनिया बोली।

"बात यह है, तुम मुझे कुछ ज्ञान नहीं सिखा सकते।" भीखू ने कहा।

"तुम धोके में हो भीखू !" सहसा वसंत को गीता याद पड़ी। "कृत्स्नविन्न विचालयेत !" वह चुप पड़ गया, जैसे किसी ने उसके अधरों पर हाथ रख दिया।

"तुम्हारे सबल होकर दुर्बल की रोटी चुराने से अच्छा होगा मेरा धोका। तुम उसे विश्वास नहीं कहते हो तो न सही। तुम अपने विश्वास को लेकर जाओ। मैं अपने ही विश्वास से जीता हूँ। और मेरा विश्वास यही है कि तुम दूसरे की रोज़ी के हरनेवाले हो।"

वसंत ने अपने थैले की ओर देखकर कहा—"ऐसा नहीं है भीखू !" वह उठ गया। फिर बैठ गया, जैसे उसे कुछ याद आ गया हो।

"बड़े-बड़ों की परवा नहीं है मुझे। तुम्हारी क्या हस्ती है। देख लिया, भुगत लूँगा। भीखू राजा-रईसों की सगत कर चुका है। वह आलीशान मकान छोड़कर इस बदबू और अँधेरे से भरे घर में रहने लगा है, इससे भी और बुरा जो भाग्य में होगा उसे भगवान् के सहारे सह लूँगा।" भीखू ने कहा।

वसंत ने धीमे स्वर में भीखू से पूछा—"भीखूजी, पिछले इतवार की रात आठ बजे आप कहाँ थे ?"

भीखू ने याद किया और वह घबराकर फिर निडर हुआ, कहने लगा—"क्या मालूम कहाँ था।"

"नाका हिंडोला ?"

"मैं समय पर घर लौटता हूँ।" कहते हुए भीखू ने चुनिया की ओर देखा—"मेरा वह रास्ता ही नहीं। मैं दिन में भी उधर कम जाता हूँ।"

"ताड़ी पीने ? कोई दोस्त खींच ले गया हो ?"

"असंभव !"

"याद करो।"

"जब गया ही नहीं उधर तो याद ऐसी-तैसी की ?" बहुत झल्लाकर और ऊँचे स्वर में भीखू बोला।

चुनिया, पतिदेव कहीं पीनक में भिड़ न जायँ एक भले आदमी से, यह विचार कर उठी। वह रमई को एक पैसा दे रही थी दाल ले आने के लिए बाज़ार से, हाथ रोक दिया उसने। लड़का उसके साथ-साथ उसके पीछे-पीछे हो लिया।

"तुम अवस्था पर आ गए, तुमने यौवन का ज्वार ही नहीं, धन-संपत्ति के बल का भी उतार देख लिया। तुम बाल-बच्चेदार आदमी हो। तुम्हारे भीतर भगवान् की डर खुलनी चाहिए। सच बोलो भीखू !"

"तो क्या झूठ बोलता हूँ मैं ? धोका करता हूँ। सच की ही ख़ातिर आज भीखू यह संकट झेल रहा है। आधी-आधी राततक मैं दुनिया को भूलकर कीर्त्तन करता हूँ। तुम मुझे सचाई सिखाने आए हो ?"

"तुमने घातक हमला किया मेरे ऊपर उस रात।"

"किस रात ?" चुनिया ने पूछा।

"पिछले इतवार की रात। तुम्हारे हाथ में बोतल थी, तुमने उससे पूरी ताक़त से मेरे सिर पर मारा।"

"झूठी बात ! सरासर !" भीखू ने धरती पर पैर पटककर कहा।

चुनिया ने वह इतवार की रात याद की। भीखू बड़े नशे में

घर लौटा था, बड़ी देर में । उसका एक साथी हाथ पकड़कर उसे घर पहुँचा गया था । चुनिया को स्मरण हुआ, उस रात वह अपनी बड़-बड़ के बीच मे कह रहा था—"मार दिया साले को, अब बोल बेटा ! और काटेगा भीखू की जड़ ।"

"घबराने की इसमें क्या बात ! मनुष्य के भय मे कुछ छिपाने की क्या पड़ी है । भगवान् की डर से खोल दो बात । एक शंका है मेरे मन में, मिटा दो उसे । मैं कुछ भिन्न प्रकार से सोचने लगा हूँ । मैं उस हिंसक भीखू के भीतर की अहिंसा की स्तुति करता हूँ ।" वसंत ने दोनों हाथ जोड़े भीखू की ओर ।

पाप को छिपाने में सजग भीखू देखता ही रह गया वसंत को । चुनिया गद्‌गद् हो उठी । उसने अपना जराजित सूखा श्याम हाथ वसंत के मस्तक पर रख दिया । उस हाथ में एक काँच की चूड़ी थी, एक घाँदी का छल्ला और थीं अनेक झुर्रियाँ । उसके हाथ पर था, गहरे नीले रंग में गोदा हुआ गोदना—दो पत्तों के साथ एक फूल का प्रतीक, "जियो बेटा ।" चुनिया बोली ।

भीखू ने तुरंत ही उसका हाथ उठाकर हटा दिया—"देखा रमइ की माँ ! इस लड़के की बातें । तू ही कह मैं दिया जलते बेला अपने घर नहीं लौट आता हूँ क्या ?"

भीखू ने चुनिया के उत्तर के लिए कुछ अवकाश दिया । पर वह न बोली कुछ ।

"एक ओर तुम कहते हो, मैं तेरी तारीफ़ करता हूँ । दूसरी ओर कहते हो, मुझे शक है । सुना चुनिया तू ने ?"

चुनिया बोली—"कोई और होगा बाबू ! कोई चोर-उचक्का ! नीयत का ख़राब, कुछ ले तो नहीं गया ?"

"नहीं, एक पैसा भी नहीं ।"

"अनदेखा चोर पिता के बराबर । तुमने पहचान क्यों नहीं लिया उसे ? पकड़कर ले जाते उसे थाने में ।"

"अच्छा तुम तारीफ़ क्यों मेरी करते हो ?"

"इसलिए कि तुम्हारे अंतकरण ने उस चोट के वेग को कम किया और मुझे फिर जीवित ही रहने दिया।"

"अः यह भी कोई बात हुई। ऐसे बहम मत बढ़ाओ भाई। देर हो रही है। तुम्हें भी फेरी में जाना है और मैं भी तैयार बैठा हूँ।"

"भीखूजी, नहीं मुझे कोई भी संशय नहीं है, तुम ही थे वह। तुम चोट चलाते हुए कुछ बोले भी थे। उस स्वर की गूँज अबतक मेरे मस्तिष्क में खुदी हुई है।"

"तुम हो सिड़ी। मैंने कई जगह यह सुना है कि उसी पागलपन की वजह से तुम्हारे पिताजी ने एकलौता बेटा होने पर भी तुम्हें घर से निकाल दिया है। जा-जा तू पुलिस में रिपोर्ट लिखाकर मेरे ऊपर मामला चला, मैं भुगत लूँगा।" भीखू ने वसंत का हाथ पकड़कर उसे अपने आँगन के बाहर कर दिया।

स्त्री उसका हाथ खींचती हुई बोली—"क्या कर रहे हो यह ? उन्हें अपना सामान भी तो ले जाने दोगे न ?"

"रहने दो उसे वैसे ही।" वसंत ने कहा।

"मैं चुप न रहूँगा अब। मैंने सुना है, इस बात का क़ानून है कि इस तरह कोई पढ़ा-लिखा ग़रीब की रोटी न छीने, मैं उस क़ानून को ढूँढ़ निकलवाऊँगा, बैरिष्टर साहब के पास जाकर। एक बेक़सूर आदमी पर तोहमत लगाने का मज़ा मिल जायगा।"

वसंत जाने लगा था। चुनिया ने उसे आवाज़ दी, वह उसका झोला देहरी पर उठा लाई थी—"लो ले जाओ यह अपना सामान !"

"नहीं ले जाऊँगा।" वसंत ने फिरकर कहा।

"क्यो, ले क्यो नहीं जाओगे ?" चुनिया बोली।

"रहने दो वहीं एक कोने में।"

भीखू उसका हाथ खींचकर बोला—"रहने क्यों नहीं देती। क्यों खुशामद कर रही है। सौ बार ग़रज़ पड़ेगी, हज़ार मरतबा ले जावेगा।"

"नहीं, हमारे किस मतलब की तुम्हारी चीज़।"

"यह इस बात की मूक साक्षी होगी कि तुम्हारे दुर्भाग्य का कारण मैं नहीं हूँ।"

वसंत चला गया। अपने भार का मोह त्याग कर। और वह सुखी था इस बात पर भी कि अब भीखू उसे मारने की फिर चेष्टा न करेगा।

चुनिया ने भीखू की ओर देखा। उसके हाथ में वसंत का थैला था।

भीखू बोला—"बक रहा है, दिमाग़ जगह पर नहीं है।"

चुनिया चुपचाप आँगन के भीतर बढ़ी और वह थैला भी वसंत की और चीज़ों के साथ रख दिया। चीज़ें ही और क्या थीं—एक लोहा और एक थान लिपटा हुआ चमड़े का। भीखू भी चुनिया के साथ-साथ उधर बढ़ आया था। चुनिया ने पूछा—"क्या है?"

"देखूँ कैसा चमड़ा है।" भीखू वसंत का चमड़ा उठाकर देखने लगा—"मोटा है कुछ, सिर्फ़ एक तली काटी गई है, पूरा थान है।"

"लज्जा नहीं आती, दूसरे की चीज़ लेते हुए।"

"शाम को लाकर रख दूँगा पूरा थान। अपना काम चला लेता हूँ इस समय। यहाँ रक्खे-रक्खे यह दूना थोड़े हो जायगा।" भीखू ने वह थान उठाकर अपने सामान के साथ रख लिया।

रमइ बोला—"पैसा नहीं देगी माँ दाल के लिए।"

चुनिया ने उसे पैसा दिया। जब रमइ चला गया तो चुनिया भीखू के पास आई और बोली—"क्या मति आई तुम्हें? मैं कहती हूँ, तुम्हें अपनी उमर का भी तो होश नहीं।"

"क्या, क्या, हुआ क्या तुझे?"

"वह ठीक कहता था, मुझे उसकी बात का विश्वास है। तुमने ज़रूर उसे मार डालने की चेष्टा की। मुझे ख़ूब याद है, उस रात तुम बहुत नशे में थे और बड़ी देरतक यही बड़बड़ाते थे कि मार दिया, मार डाला।"

"तेरी जान की क़सम चुनिया, क्या मैं कभी तुझसे झूठ बोला हूँ ?"

"हज़ारो बार। वह शरीफ़ आदमी हैं, माफ़ कर दिया उन्होंने तुम्हें। नहीं तो होते इस वक्त हवालात में।"

"उस लौंडे पर चोट चलाने से मुझे लाभ ही क्या ?"

"सूझ गया होगा कुछ ताड़ी के नशे में। तुम्हें मेरी सौगध, बच्चे की सौगध जो तुम आज से ताड़ी पियो। तुम मेरा रक्त पियो, तुम रमइ का ख़ून चूसो जो आज से उसे छुओ भी।"

चुनिया ने फिर एक बार भीखू को बाध्य किया कि वह ताड़ी और शराब न पीने की प्रतिज्ञा करे।

भीखू ने क़सम खाई—"जो आज से एक पैसे की भी ताड़ी या शराब पिए वह—"

"तुमने बच निकलने का रास्ता बना लिया !"

"कैसा ?"

"कहो कोई पिलाएगा तो भी नहीं।"

"किसी के पिलाने से भी अगर पिऊँ तो तुम्हारा लहू पिऊँ।"

"रमइ का भी।"

"रमइ, उगती उमर का बच्चा, उसकी क़सम न खिलाओ।"

"नहीं उसकी क़सम भी खानी पड़ेगी।"

"अच्छा उसकी भी क़सम।"

चुनिया ने कुछ सोचा। कुछ अपनी निर्दयता को धिक्कारा और कुछ भीखू की लत पर लानत बरसाई—"अच्छा, अच्छा रहने दो बच्चे की क़सम न खाओ।"

"अच्छा नहीं हुई बच्चे की क़सम।" भीखू का ध्यान वसंत के सामान ने अपनी ओर खींचा—"यदि पहले के इतना न कमा सका तो ?" उसने सोचा।

रमई दाल ले आया था। चुनिया उसे बीनने लगी।

"चुनिया यह उसका सामान हमने उसके सामने ही अपने घर के बाहर फेक देना था।"

"क्यों ?"

"यदि मैं अधिक न कमा सका तो? न कमा सकूँगा चुनिया। गाहक जो टूटने थे टूट गए हैं। वे न देंगे अब भीख को काम।"

दूसरा परिच्छेद

प्रथम मिलन

प्रथम मिलन में ही लीला निराश हो उठी! कम-से-कम उसे कुछ लक्षण ऐसे ही मिल गए थे। उसे जान पड़ा वे क्रीत परिचायक थे जिन्होंने झूठा आवरण दिखाकर उसके माता-पिता को ठग लिया।

उसके पति बी० ए० पास थे, और वह एक अच्छी बड़ी धन-संपत्ति के सबसे बड़े अधिकारी थे इसमें कोई संदेह न था। पर लीला को पति की रुचि में कोई संस्कार न मिले। यह भी सच ही था उनकी थाली मे का भोजन और उनके अंग पर के वस्त्र महँगे-से-महँगे थे। लेकिन विचार उनके बहुत छोटे से घेरे में फँसे हुए थे।

साहित्य से उन्हें कुछ प्रेम नहीं। किसी कला में प्रवेश नहीं उनका। कोई ग्रथकार खुला नहीं उनके हाथो मे। पढ़ने मे बड़ा आलस्य आता है उन्हें, दैनिकपत्र को पढ़ते हैं कुछ देर। इसके सिवा पत्र-व्यवहार, हिसाब-किताब को छोड़कर और कुछ नहीं पढ़ते-लिखते।

कहते हैं वह, इस युग के मनुष्य को ये बड़ी-बड़ी पुस्तके पढ़ने का समय ही कहाँ है। पुस्तकों के अध्ययन से हमारे अंग दुर्बल पड़ जाते हैं। आँखों की दुर्बलता का तो वह एक प्रधान कारण है।

साहित्य की पिपासा को शांत करने के लिए युग की चीज़ सिनेमा को बताते हैं वह। उस साधन से समय की भी बचत है और हमारे मस्तिष्क में ज़ोर भी नहीं पड़ता। आँख और कान के दो प्रधान मार्गों से बात भी बहुत अच्छी तरह समझ में आती है, यही कहते हैं वह। बड़ा प्रेम है सिनेमा से उनका।

"गाना भी आता है तुम्हें ?" पति के मुख से वही प्रमुख प्रश्न सुना लीला ने अपने जीवन में।

उत्तर दिया उसने—"नहीं।"

"नहीं ?" पति ने अत्यंत आश्चर्य की मुद्रा में कहा—"यहाँ तो यही कहा गया था कि तुम तमाम कलाओं में पारंगता हो।"

"हाँ," आरंभ किया लीला ने—"मुझे एक बार इच्छा हुई थी गाना सीखने की। पिताजी ने मुझे शिक्षा देने का प्रबंध भी किया था, घर ही पर। कुछ दिन अभ्यास जारी हुआ था। बीच में वार्षिक परीक्षा आ गई इंट्रेंस की। वह क्रम स्थगित कर दिया गया। फिर शास्त्रीजी के बंबई लौट जाने के सबब वह टूट ही गया।"

पति ने हारमोनियम निकाला। संगीत के शौक़ीन हैं वह, ब्रिज खेलने के बाद जो समय मिलता है उन्हें, उसको वह कभी घूमने और कभी सिनेमा देखने के सिवा, सब-का-सब प्रायः संगीत-सभा में ही लगा देते हैं।

सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध साज़ों का संग्रह है उनके पास, पर बजाते हैं वह केवल हारमोनियम ही बस। एक बार कुछ वायलिन पर भी गज़ घिसने का अभ्यास किया था, लेकिन चली नहीं गाड़ी आगे। छोड़ दिया।

घर और ज़मींदारी के प्रबंध का भार है पिताजी पर उनके। एक छोटा भाई है, स्कूल में पढ़ता है। बहन भी एक ही, गत वर्ष उसका विवाह हो चुका है। अभी इसी साल बी० ए० पास हुए हैं। छोटी नौकरी करेंगे नहीं कहीं, ऑफ़ीसरी कहीं मिल जाय तो उनके पिताजी का विचार है, कर लेगा लड़का।

लड़के के मन है कुछ और। वह चाहता है कहीं सिनेमा में नौकरी मिल जाती तो बड़ा आनंद था। भारत के मूक चित्र भी तब केवल प्रथमावस्था में थे—अस्फुट और अमूर्त! भारत के बाहर कहीं सिनेमा की नौकरी के स्वप्न देखते थे लीला के पति देवता। उन्होंने अपने कमरे में संसार की प्रसिद्ध—प्रमुख-सुमुख सभी एक्ट्रेसों के चित्र टाँग रक्खे थे सुंदर चौखटों में जड़कर। प्रत्येक चित्र के ऊपर लटका रक्खे थे तीन-तीन छोटे-छोटे बल्ब। एक सफ़ेद, एक लाल और एक हरे रंग का। तीन स्विचों से वह अलग-अलग रंग के बल्ब अलग-अलग संबद्ध थे। कुर्सी में बैठे-बैठे ही उनका हाथ पहुँच जाता है उन स्विचों पर। उन्हें बड़ा आनंद आता है उन स्विचों को दबाने में। एक स्विच दबाया उन्होंने कि सब एक्ट्रेसों के आगे हो गई एक-एक लाल रोशनी। कभी दूसरा स्विच दबाकर वह कर देते हैं हरा रंग और कभी सफ़ेद सादे बल्बों का अरंजित आलोक फैलता था प्रत्येक एक्ट्रेस के आगे।

हारमोनियम की धौंकनी खोलकर स्वर दबाया पति ने—"गाओ।"

"नहीं।"

"जो कुछ याद हो। जो सीखा हो।"

"ऊँ हूँ।"

"कोई पद ही सही, एक ही टुकड़ा।"

"नहीं, कुछ याद नहीं पड़ता।"

"एक भी गीत नहीं सिखाया था शिक्षक ने?"

"केवल स्वर-साधन कराते थे।"

"अच्छा लो।" पति ने एक स्वर दिया—"मिलाओ अपने कंठ का स्वर।"

लीला ने उस पर भी संकोच किया।

"मिलाओ न अपना गला। मैं केवल यही जानना चाहता हूँ, तुम्हारे गले में स्वर है या नहीं।"

बड़े आग्रह पर लीला ने गला मिलाया स्वर पर—"आऽऽऽ"

पति ने पंचम दबाया।

लीला ने स्वर ऊँचा किया, कुछ बेसुरा होकर निकला पंचम।

पति ने तार का स्वर दबाया।

पत्नी नहीं पहुँच सकी। संकोच के भार से छोड़ दिया उसने स्वर।

"हाँ, हाँ, ठीक तो था, क्यों छोड़ दिया?"

"नहीं न हो सकेगा।"

"ज़रूर सिखाऊँगा तुम्हें। होगा कैसे नहीं। स्वर है तुम्हारे गले में। सुख-दुःख का यदि कोई साथी है संसार में तो वह है संगीत। जिस प्रकार से भी लो—संसार के सुख के लिए लो, चाहे भगवान् के भजन के लिए। सिनेमा से है कुछ शौक़।"

"बहुत मामूली।"

"तब क्या पढ़ा-लिखा तुमने? कैसी कॉलेज की कन्या हो तुम! बीमारी के कारण कोई फ़िल्म छूट जाय तो जाय, नहीं तो कभी नहीं छोड़ता कोई चित्र मैं। मुझे पुस्तक पढ़ने का अधिक शौक़ नहीं है। मिस्ट्री किंग देखा तुमने?"

"नहीं।"

"तब एक बहुत ज़बर्दस्त फ़िल्म छोड़ दी तुमने।"

"मुझे यह मार-धाड़ देखने में कुछ भी अनुराग नहीं।"

"कैसी बहादुरी की फ़िल्म है वह। क्या घोड़ा दौड़ाता है जौकिस, वाह! नदी, पहाड़, खाई-खंदक किसी की भी परवाह नहीं करता।"

"मैं समझती हूँ, सिनेमा मे प्रकृत शूरता नहीं के बराबर है। छल-फोटोग्राफी से अनेक भाँति के विभ्रम नेत्रो के लिए पैदा कर लिए जाते हैं।"

"झूठ बात! कुछ-न-कुछ बात बहादुरी की होती ही है। मैंने सिनेमा के एक्टरों की विशेषता पर ध्यान दिया है—पुरुष नट के शारीरिक गठन, उसकी बहादुरी और जान जोखिम में डाल देने की निडरता को बहुत श्रेय दिया जाता है। मैं तो पक्का कर चुका हूँ अगर

नौकरी करूँगा तो सिनेमा का एक्टर ही बनूँगा। जिससे नाना महा-द्वीपों की सैर कर सकूँगा।"

"यह भी कोई नौकरी हुई! सुना है बड़े कष्ट होते हैं वहाँ। माताजी न जाने देंगी।"

"मैं तो तुम्हें भी सिनेमा की एक्ट्रेस बना देने के विचार में हूँ।"

"छीः छीः क्या कहेंगे लोग?"

"यहाँ नहीं, विदेशों में। वहाँ यह समाज न होगा हमारी हँसी उड़ाने को।"

"कुछ भी हो, मैं कभी न चाहूँगी वह जीवन।"

"पढ़ी-लिखी हो तुम। बहुत अच्छा अवसर मिल सकेगा हमें वहाँ। भारतीय जीवन के चित्रों को वहाँ तैयार कराने में हम सहायक होंगे।"

"नहीं, किसी प्रकार नहीं।"

यहीं पर लीला को पति के विचारों में अपने से भिन्नता दिखाई पड़ी। आधीरात में अचानक लीला की नींद टूट गई। एक लोहे के संदूक का ढकना जो खोला गया था, अपने आप गिर पड़ा। लीला ने चौंककर जो देखा, तो पतिदेव को उसके समीप बैठा पाया। उन्होंने कुछ उस ट्रंक में रक्खा, ऐसा जान पड़ा। बिजली का बल्ब एक सौ मोमबत्तियों के प्रकाश से उज्ज्वल था। लीला चौंक उठी—"तुम नहीं सोए अभीतक?"

"नहीं, मुझे बड़ी देर में सोने की आदत है। गाने-बजाने का शौक़ ही ऐसा है।"

"क्या कर रहे हो यहाँ पर बैठे-बैठे?"

"कुछ नहीं, रूमाल निकाल रहा था।" जली हुई सिगरेट् उसके मुख में थी।

"कुछ महँक रहा है।" लीला पलंग पर उठ बैठी थी।

"मुझे तो नहीं मालूम दे रहा है कुछ।"

लीला फ़र्श पर आ गई। उसका पति भी उठ गया था, कह

लगा—"ओह, इस सिगार लाइटर में मैंने अभी पेट्रोल भरा, वही महँक रहा होगा।" ट्रंक बंद कर उसने उसमें ताला लगा दिया था। चाबी का गुच्छा कमीज़ की जेब में रख लिया।

"तुम बहुत सिगरेट् पीते हो? यह भी तुमने मुझसे कहा है कि डॉक्टर लोग तुम्हारे फेफड़ों को निःशक्त बताते हैं।"

"क्या करूँ, रहा नहीं जाता।"

"पढ़े-लिखे होकर ऐसी बात कर रहे हो!" लीला को बड़ा अँधेरा-सा दिखाई देने लगा जीवन में।

"अब तो मैंने बहुत कम कर दी है यह।"

लीला ने ट्रंक में लगे हुए ताले पर हाथ रक्खा।

पति ने कहा—"क्या?"

लीला बोली—"देखो, पति-पत्नी के बीच में भेद का जन्म एक भयानक वस्तु है। और फिर ऐसे समय में जब कि हमारा नवीन मिलन है। हमारे जीवन की पहली छायाएँ हमें एक-दूसरे के निकट या दूर ले जाने में बड़ी सहायक होती हैं। हम आकाश की तारिका की भाँति स्पष्ट हों एक दूसरे-पर, कोई भी ओट न हो हमारे पल्ले में एक-दूसरे से कुछ छिपाने के लिए। अनुमत हो न तुम इस बात पर?"

पति बोला—"संगत ही है तुम्हारा कहना, जैसी पढ़ी-लिखी हो तुम उसी के समान।" उसने लीला का सुवर्ण-श्वेत हाथ थाम लिया, अपनी उँगलियों से उसकी उँगलियाँ पकड़ लीं।

लीला हाथ छुड़ाकर ट्रंक की ओर बढ़ी—"इसमें क्या रक्खा है?"

पति ने कुरते के गले के भीतर हाथ डाला। उसने वहाँ से जनेऊ निकाल कान में पहन ली। वह पीठ फिराकर कमरे के बाहर चला गया यह कहकर—"मैं शौच हो आता हूँ।"

उसने बाहर जाकर बिजली की बत्ती जला ली, उसके सहारे वह शौच-घरतक चला गया।

अकेली कमरे में लीला विचारने लगी—"यह स्पष्ट न करेंगे। छिपा देने से ही हमारे भाव अशुद्ध हुए।" उसने कुछ और सोचा—"नहीं, छिपे हुए को प्रकाश में लाने के लिए मेरा यह मन हठी है। मैं प्रकट करूँगी उसे इसी क्षण।" उसने अपने सिरहाने से अपना चाबी का गुच्छा निकाला। वह उसे लेकर ट्रंक के निकट पहुँची। दो-तीन चाबियों में परिश्रम करने पर ही चौथी चाबी ने ताला खोल दिया!

लीला ने ट्रंक खोलकर देखा। उसका संशय सत्य में बदल गया। उसने एक ठंढी साँस लेकर आकाश की ओर देखा। काँच पर के लेबल का वह श्वेत घोड़ा उसकी कल्पना में सजीव हो उठा। वह सरपट दौड़ रहा था। उसकी पीठ पर सवार था उसका पति! लीला जैसे उसे पकड़ने को भाग रही थी—न पकड़ सकी, उसके सिर के बाल खुल गए, आभूषण टूटकर बिखर गए भूमि पर, वस्त्र फट गए, हाथ-पैर लहूलुहान हो गए! न पकड़ सकी वह! घोड़ा सवार को लेकर अंतर्हित हो गया क्षितिज में!

लीला ने ट्रंक बंद कर उस पर ताला लगा दिया। जैसा था वैसा ही रहने दिया उसे। ट्रंक के लोहे ने जैसे छिपा रक्खा था उसे, उसने अपने हृदय का एक आवरण और डाल दिया उस पर!—"संध्या-समय ही उनके स्पर्श में मुझे वह गंध प्रतीत हो गई थी। जब मैं खाना खाकर आई, तब भी मैंने इन्हें यह ट्रंक बंद करते हुए पाया था। एक बार फिर कोई दस बजे इन्होंने इसे खोला। नींद न थी उस समय मुझे। इन्होंने समझा, सो रही है। बड़ा धोखा हुआ!"

कमरे के बाहर की बिजली बुझी। उसने अपने पति की चाप सुनी। वह अपनी शय्या की ओर बढ़ गई—"यह जो कुछ छिपाना चाहते हैं, मैं जानकर फिर उसे इनके मुँह से न खुलवाऊँगी।"

पति लीला के सिरहाने आया। लीला ने अपना मुख ढक लिया, वह सोने चली गई थी। पति ने धीरे से उसका मुख खोला, लीला

ने पलकें निमीलित ही रक्खी। प्रकाश में उसका मुख चमक रहा था, कृष्ण चूड़ा में विकसित, मुख पर कुछ बंधन से बिछुड़े हुए केश विशोभित थे। गले के हार मे उसके मरकत चमक रहे थे कोई-कोई, लाल से निकले प्रस्फुरण को घेर हुए। मुख में एक हलकी झाँई पड़ी थी विषाद की। उसके पति ने समझा, अविश्राति और जागरण की।

"तुम सो गईं लीला ?"

'हाँ।"

"अभी से ?"

"एक बजता है अब।"

"तो भी क्या हुआ, दिन में सो लेना।"

"नहीं, मेरा सिर दुखने लगा। यह बिजली बंद कर दो। तुम भी सो जाओ। तुम्हें खाँसी उठ रही है।"

"तुमने कुछ पूछा था, मेरे शौच को जाते समय ?"

"यों ही।"

पति चाबी का गुच्छा स्नानागार में छिपा आया था। लीला के पूछने पर यह कह देने को कि चाबी कहीं गिर गई। उसने जब लीला को ट्रंक के भीतर के ज्ञान के प्रति इतना उदासीन पाया, तो फिर उस ओर देखा ही नहीं। "मैं अभी तुम्हारे सिर का दर्द ठीक कर देता हूँ। तुम उठो तो सही।"

"तुम वही टिकिया दोगे न पानी के साथ। नहीं, उसमे थोड़ा-सा चैन पहले मिलता है मुझे, फिर नहीं। बिना नींद आए न होगा हलका। खाई तो थी वह।"

"तेल डाल लो सिर में, कंघी कर लो।"

"नहीं, मुझे बोलने में भी बड़ी व्यथा ज्ञात हो रही है। तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, प्रकाश बुझा दो।"

"हाँ एक दवा और है, उसके पी लेने पर शर्तिया पीड़ा शांत हो जायगी। पति ने ट्रक की चाबी के लिए कमीज़ की जेब में हाथ डाला।

उसे याद आया वह साबुन के डिब्बे में है।"

"नहीं कह दिया। जिससे अच्छी हूँगी उस नींद को तुम बराबर तोड़ रहे हो। यदि दीपक बुझा देते तो कृपा होती।"

"नहीं बुझाऊँगा।"

लीला ने अपना मुख ढक लिया। चादर का सिरा इस बार अपने हाथ से दबाकर।

पति ने बहुत धीरे-धीरे आवरण हटाना चाहा, न हटा—"बड़ी निर्दयता है तुम्हारी लीला। अच्छा तुम सो रहो, पर मुख को तो खुला रहने दो। मैं निस्पंद, रात के उस सिरेतक चुपचाप इसे देखता ही रहूँगा। इसमें क्या हानि है तुम्हारी?"

"बड़े निर्दय हो तुम।" कहकर लीला ने करवट बदल मुँह फेर लिया।

पति उधर ही चले गए। लीला ने खीझकर कहा—"तुम इसे ही प्रेम कहते हो? यह तुच्छ वस्तु स्वार्थ है, उसकी जूठन भी नहीं। यह कठोरता कही जा सकती है, दूसरे के कष्ट पर अविचार कहा जा सकता है। यह पशु-तृष्णा है।" लीला ने झटककर पति का हाथ दूर कर दिया।

"तुमने जितना पढा है, उतनी विनय नहीं तुम्हारे पास!"

लीला चुप रही मुँह ढके। पति के उतने रोष को पचा गई।

"पहली बार ही जब तुम इस प्रकार पति की अवज्ञा करने पर तुली हो, तो यह जीवन-भर का साथ कैसे शांति से होगा। पत्नी को पति की आज्ञा का पालन करना चाहिए, यही उसका धर्म है।"

"एक उन्मत्त पति की अविवेक-भरी वाणी का नहीं।"

"यह अपनी भाषा न पढ़ने का फल है।"

लीला पहले ही दिन इस निश्चय पर आ गई कि उसके पति का बौद्धिक विकास नहीं के बराबर है। केवल इंद्रिय-लोलुपता ही उसके जीवन का उद्देश्य है। "समय के प्रवाह से परिचित होने को ही मैंने

विदेशी भाषा पढ़ी है। मैं बिलकुल हिंदू आदर्शों के बीच में पाली गई हूँ। तुम निर्णय पर नहीं पहुँचे। तुम्हें अपने पिता के जमा किए हुए धन का बहुत मद है।" लीला ने कहा।

"बड़ी हठी हो तुम, आकृति पर कोई उसकी छाप नहीं है! शायद इसीलिए बड़ी सुशील और विद्यावती प्रसिद्ध हो तुम। देखो फूल की शय्या पर इस प्रकार तुम्हें पति से मान करना उचित नहीं। नहीं इसे मान न कहूँगा मैं। मान वह रिस है जो मनाई जा सके। पति की इच्छा का कोई अंकुश ही नहीं मान रही हो तुम।"

लीला चुप रही फिर।

"यदि मेरे विष को उत्तेजना दे दोगी तो इसका फल अच्छा न होगा। सोच लो, विचार लो तुम ख़ूब अच्छी तरह।"

लीला ने फिर भी न ओढ़ना खोला, न अधर।

"न मानोगी तुम?"

फिर वही स्तब्धता।

"लीला!" पति ने बलात् पत्नी के मुख पर का आवरण खींच लिया।

लीला ने आँसू-भरे नेत्रों से कहा—"न समझो तुम यह कि हिंदू-विवाह के जिस जटिल बंधन में तुमने मुझे बंदी बनाया है, वह मुझमें तुम्हारे कठोर व्यवहार की सहनशीलता भी उपजा देगा।"

"मैं पुरुष हूँ—अधिक शक्तियुक्त दक्षिण अंग। यदि मनमानी करने लगूँ तो फिर जीवन नरक हो जायगा तुम्हारा। इसलिए फिर कहता हूँ। छोड़ो हठ। तुम्हारे यह सिर का दर्द मेरी इच्छा के वश से बाहर निकलने का एक बहाना है।"

"अधिक-से-अधिक तुम क्या करोगे मैं जानती हूँ। लेकिन नहीं, बिरादरी में तुम अपना दूसरा विवाह कर न सकोगे। बाहर, मैं देखूँगी, जिस स्वार्थ-भरे हृदय ने मुझपर विजय न पा सकी, वह कैसे सुख पा सकेगी यहाँ।"

पति ने लीला को विश्राम करने दिया। कुछ लीला ने भी अपने कड़े शब्दों पर मन-ही-मन पश्चाताप किया। और भी न जाने दोनों ने क्या-क्या विचारा कि प्रभात समय दोनों में संधि हो गई। पर भविष्य के लिए, इसमें संदेह नहीं, विष गिर चुका था। दोनों के हृदयों में गाँठ पड़ गई थी।

दूसरे दिन जब लीला धोबी के लिए मैले कपड़े एकत्र कर रही थी। सुबह का समय था कोई सात बजे। पति उसके कहीं पास-पड़ोस ही में घूमने गए हुए थे। सास भोजन बना रही थीं और श्वसुर अपनी बैठक में कुछ मनुष्यों का हिसाब चुकता कर रहे थे।

"खूँटी पर की पतलून, वह भी तो मैली है।" कहकर लीला ने उसे उतारा। उसकी जेब में कुछ है तो नहीं, इस विचार से हाथ डाला। एक पत्र निकला वहाँ, लिफ़ाफ़ा न था उसमें। बड़े सुंदर अक्षर, स्त्री की-सी लिखावट, लीला आकृष्ट हुई उस पर। पतलून मैले कपड़ों में डालकर उसने उस पत्र को पढ़ना आरंभ किया। दो चार लाइनें उसकी पढ़ ली थीं।

पति दबे पैर पत्नी को न जाने क्या आश्चर्य देने आ रहे थे कि उसके हाथ में वह पत्र देखकर चौंक पड़े। उन्होंने खट से लीला के हाथ से उसे छीनकर फाड़ डाला!

"यह कौनसी सभ्यता है?"

"दूसरे का पत्र पढ़ना, बिना उसकी अनुमति के, यही कौनसी है?"

"मैं जान गई यह किसका पत्र है।"

"बताओ किसका है?"

लीला ने कुछ सोचकर कहा—"न बताऊँगी अभी। तुमने फाड़ क्यों दिया उसे?"

"अत्यंत शंकित चित्त की हो तुम। अभी मेरे हृदय की थाह नहीं मिली है तुम्हें, न जाने कौनसी विषम कल्पना करने लगो तुम, इसीसे इसे फाड़ दिया।"

"लेकिन मैं इसे पढ़ चुकी हूँ पूरा।" वास्तव में लीला ने केवल उसकी दो-चार ही पंक्तियाँ पढ़ी थीं।

"किसी स्त्री का पत्र है यह।"

"वाह! अच्छा पढ़ा।" पतिदेव ख़ूब ज़ोर से हँसने लगे।

"हाँ, हाँ, स्त्री का तो है ही। क्या मैं उनकी लिखावट नहीं पहचानती?" कुछ हँसी के साथ लीला ने कहा। रात्रि के विग्रह को धूसरित कर भुला देना चाहती थी वह।

"नैक्लेस कहाँ है, लाओ।"

"नहीं।"

"मैं उसकी मरम्मत करा लाता हूँ।"

"नहीं हो सकती उसकी मरम्मत यहाँ। कलकत्ते ही भेजना पड़ेगा, जिस कारीगर के हाथ का बना है उसी के पास। छीः कैसे उजड्ड हाथ हैं यह तुम्हारे।"

"अपने ऊपर तुम नहीं आने देती हो छींटा।"

"तुमने पकड़ा ही क्यों उसे? लोहे की शृंखला समझे थे तुम उसे क्या?"

"तुम्हीं पीछे क्यों हटीं उस वेग से। मान लो मैंने उसे पकड़ लिया, तुम्हें तो ज्ञान था न उसके मूल्य और उसकी कोमलता का। तुम खिची आतीं उस पर ज़ोर पड़ने से पहले ही। मनुष्य अपना दोष नहीं समझता कहीं पर।"

"मेरी माता का हार था वह। विवाह से पहले ही मुझे दे दिया था उन्होंने। जिस पर मेरी सब से अधिक प्रीति, उसी को आपने उच्छिन्न किया?"

"केवल एक कड़ी ही तो उखड़ गई है।"

"कड़ी के पास का नग, वह क्या नहीं ढीला पड़ गया! और फिर तुम दोष मेरा ही बताते हो।"

"अच्छा केवल मेरा ही सही। अब तो मान जाओ।"

लीला मन में विचार रही थी—"स्त्री की ही तो लिखावट थी उसमें।"

"अच्छा अपराध हुआ मेरा, क्षमा करो।"

"नहीं, मैं नहीं मानती, तुम गभीर नहीं हो।"

पति ने खूँटी पर से हैट निकाली—'लो, इसे तुम्हारे चरणों पर रखता हूँ। यदि इसमें भी तुम्हें गंभीरता न दिखाई दे तो सिर रख देता हूँ।"

लीला हँस पड़ी—"हो जायगी उसकी मरम्मत ?"

"क्यों ? न हो सकने का ऐसा अविश्वास ही क्यों तुम्हें हुआ है ?"

"जो आभूषण ले गए तुम यहाँ से मेरे लिए अनुपम, उन्हें देखकर। बात ऐसी है जिन पाँच दाँतों से वह नग अटका हुआ था, उनमें से एक टूट गया। नग यद्यपि गिरा नहीं है, पर गिर जाने की बहुत बड़ी आशका है।"

"टाँका लग जायगा सरलता से, दाँत जोड़ लिया जायगा पाँचवाँ।"

"जोड़ से फूल में असुदरता आ गई तो ?"

"मेमों का काम करनेवाले कारीगर हैं यहाँ। सरल और परिष्कृत रुचि के एक नहीं, कई शिल्पी। लाओ तो सही।"

लीला ने हार निकाला। पति ने कहा—"निःसंदेह कारीगरी उच्च कोटि की है। साड़ी बदल लो, चलो तुम भी। मोटर में जावेंगे। ज्वेलर के यहाँ इसे देकर नर्मदा के किनारे घूमने चले जावेंगे। लौटती बेला ले आवेंगे।"

"नहीं, मैं न जाऊँगी अपने सामने ही उसे जुड़ा लाना। छोड़ना नहीं इसे किसी के पास।"

पति ने हार को उसके डिब्बे में बंद कर मेज़ पर रक्खा। लीला को चाबी का गुच्छा देकर कहा—"मेरी धुली कमीज़ निकाल दो इस ट्रंक में से। सब से छोटी चाबी है।"

लीला ने ट्रंक खोलते हुए विचारा—"कदाचित् यह मेरे कल रात

के प्रश्न का उत्तर है। हटा दी होगी अब वह यहाँ से।" ट्रंक खोलकर लीला ने देखा, कपड़ों के सिवा और कुछ नहीं था वहाँ।

पति को कमीज़ देते हुए लीला ने देखा, उन्होंने सिगरेट् जलाकर एशट्रे में उस पत्र के छिन्न-भिन्न टुकड़े रक्खे और उनमें दियासलाई दे दी। लीला बोली—"यह लिखा हुआ पत्र इस प्रकार जला देने से नहीं मिट सकता।"

"तुम्हारा भ्रम मिटा देने को मैंने इसे जला दिया।"

"वह और भी बढ़ गया, फाड़ देने पर इतना नहीं बढ़ा था!"

"भीखू इस प्रकार मेरा शत्रु हो जायगा, मुझे कुछ भी भान न था इसका। जिसकी प्रतिष्ठा बढ़ाना मैंने अपने जीवन का उद्देश्य बनाया, उसी के द्वारा मुझे पराजित होना पड़ा! सूक्ष्म और उदार होकर यदि हम विचार करें तो प्रत्येक पराजय में हम विजयी हो सकते हैं। मध्य बिंदु को पकड़ने के लिए मैं जितना बद्धपरिकर होता हूँ, यह उतना ही वश के बाहर हो छिप जाता है। जो मान वही अपमान, दोनों मुझसे बराबर दूरी पर। वैसे ही जय और पराजय, फिर वैसे ही एक-से शत्रु-मित्र क्यों नहीं। भीखू से मेरा क्या युद्ध? किसी प्रतिहिंसा की भावना से मैं उसके यहाँ अपने औज़ार नहीं छोड़ आया हूँ।" घर लौटकर वसंत ने विचार किया।

दो टेस्ट-ट्यूबों में उसने दो अलग-अलग प्रकार के घोल रक्खे थे पहले दिन, समय पाकर उनमें कुछ बदलाव देखने को। वह उठकर उनके पास गया। दोनों को उठाकर देखा, हिलाया। मुख में निराशा प्रकट कर उसने नाक सिकोड़ी—"ऊँ हूँ!" दोनों को यथास्थान रख दिया।

"फिर अब क्या करना चाहिए मुझे? केवल रंग का अनुसंधान? जीविका का क्या होगा? रंग का अनुसंधान तो इतने दिनों से कर रहा हूँ। कुछ और भी होना चाहिए। लोग मुझे एकाएक यह काम छोड़कर बैठा देखेंगे तो हँसी उड़ावेंगे। बाधाओं से भरी हरएक जगह

है। एक काम छोड़कर यदि दूसरा पकड़ता हूँ, तो उस पर भी न जम सकूँगा। यह चपलता मन की ही तो है। 'बनाइ जुतोऽ' की आवाज़ बदलकर वही पुरानी ध्वनि, आरंभ के दिनो की 'पॉलिशवाला' ग्रहण कर लेता हूँ। उसमें होगी न किसी की शत्रुता और न छूटेगी अपने आदर्श की मित्रता।" उसने बाज़ार से सौदा लाने का थैला निकाला और उसमे अलमारी में पड़ा हुआ एक बुरुस रख लिया, एक झाड़न भी। "पॉलिश की डिबिया मोल ले लूँगा।"

कुछ देर चुप रहकर माता-पिता की स्मृति हुई उसे, फिर लीला याद पड़ी—"उसकी गुड़िया उसे न दे सका उसके विवाह के दिन, उसकी भारी चोट है मुझे। बाधक भीखू हुआ! कैसे रहस्य की भरी हुई एक-एक घटना हो जाती है कभी। लौटाऊँगा सही उसकी वस्तु उसे, पर योग उड़ा दिया भीखू ने।"

फिर उसे कुछ याद आई। एक नए टेस्ट ट्यूब मे उसने एक और नया घोल तैयार कर रख दिया उसी होल्डर में। "रंग का पूरा सप्तक एक पत्ते में हम देख सकते हैं। पत्ते के नीले न होने पर भी उसकी हरियाली में नीलिमा है। पक जाने पर वह पीला हो जाता है और सूख जाने पर हमे वह लालिमा के कण दिखाता है। इस प्रकार पत्ता प्रकृति से लिया हुआ ऋण चुका देता है। जब पत्ता जन्म लेता है, तब भी अनेक यही क्रम प्रकट करते हैं। प्रकृति के रंग का मुख्य कारण है सूर्य। अंधकार में उगा हुआ पीला पत्ता बिना सूर्य के प्रकाश मे रक्खे और कोई दूसरा रंग नहीं दिखाता।...सब रंग मिलकर श्वेत हुए हैं। मैं इस सफ़ेदी को तोड़कर इन सब रंगों को अलग-अलग नहीं बिखरा सकता?—तेज़ाब से? बिजली से?"

पिचके गाल को पान के बीड़े से भरकर वैद्यशास्त्रीजी आ पहुँचे। जूता खोलकर बसत के आगे डाल दिया। तखत में बैठकर बोले—दरवाज़ा बहुत दिनो बाद खुला मिला आज। कहीं बाहर गए थे?"

"नहीं।"

"यहीं थे ?"

"हाँ, बीमार था।"

"चले आते औषधालय में। हम और किस काम के हैं। क्या हो गया था ?" वैद्यशास्त्री ने वसंत के हाथ की नाड़ी पर हाथ रखना चाहा।

"अब ठीक हूँ बिलकुल।"

"दुर्बलता तो है मुख में। एक डिब्बा च्यवनप्राश का खा लेना धारोष्ण गाय के दूध के साथ। अच्छा रहेगा।" कहकर उठ गए वह। जूता वसंत की ओर खिसकाकर बोले—"इस जूते की मरम्मत कर देना अभी। एक बीमार को देखने जाना है।"

"मैंने जूते की मरम्मत करना छोड़ दिया।"

"हैं छोड़ दिया ?" जूते पहनते हुए वैद्यशास्त्री बोले—"वाह ! कब से, क्यों ?"

"आज ही से।"

"थोड़ा ही तो काम है। कल एक चमार आया था तुम्हारे भरोसे उसे नहीं दिया।"

"कुछ भी हो। मैंने प्रतिज्ञा के साथ छोड़ दिया। औज़ार भी सब दे दिए।"

"हाँ, तुम्हें भी न जाने क्या सूझी। ब्राह्मण के कुल में ऐसे प्रह्लाद जन्मे तुम क्यों ? मेरी बात मानो, मैं शीघ्र ही और कैमिकल भी जोड़ रहा हूँ अपने औषधालय में, उस अंग के संचालक तुम हो जाओ। बाप-दादाओं की जो प्रतिष्ठा है तुम्हारी, उसी के अनुकूल काम भी करो। कल ही से सही। पैसा कुछ कमा ही रक्खा है तुमने। तुम्हारी भी पत्ती रहेगी। अपनी वैज्ञानिक खोज भी जारी रखने का अवसर मिलेगा वहाँ।"

"क्या मतलब है कैमिकल से आपका ?"

"यही कैमिकल और क्या, रसायन का विभाग। कुछ विलायती दवाइयाँ भी बनावेंगे। तेल-फुलेल, साबुन, टूथ पेस्ट भी। कुछ दवाओं

की पेटेंटों की एजेंसियाँ भी ले लेंगे। हाँ दाँत बनाना सीख लो, वह भी अच्छा धंधा है।"

"नहीं भाई, मैं विदेशी वस्तुओं का व्यवहार कम-से कम करता हूँ। मैं जब जूता सीता था, तो हाथ की ही कती हुई रुई काम में लाता था। पिछले महीने से तो मै अपने ही हाथ से कातने भी लग गया था। यह सामने रक्खा हुआ चरखा मैंने जब मोल लिया था, तुम्हें ज्ञात है।"

"मैं भी तो विदेशी को पसंद नहीं करता हूँ।"

"हो गया फिर ?"

"ठीक है हमारी इस समय की दशा हमें बाध्य करती है कि हमें स्वदेशी से अनुराग हो, पर क्या ऐसे कहीं काम चलता है। हमने अपने हाथ से काता-बुना, सच है। पर जब वह कपड़ा वस्त्र बनकर हमारे शरीर पर आता है तो उसे जोड़ने के लिए विदेश की ही सुई और मशीन की शरण जानी पड़ती है।"

"अब तो सीने की मशीनें बनने लग गईं यहाँ भी।"

"मैंने तो सुना है, उनके विशेष पुरज़े सब बाहर से ही बनकर आते हैं। जब किसी की वस्तु से हम घृणा करने लगेंगे तो दूसरा ही क्यों हमारी चीज़ों से प्रेम करेगा ? किस प्रकार फिर देश की आवश्यकता से बचा हुआ माल खपेगा ? और देश में उत्पन्न न हो सकनेवाली वस्तु के बिना हम क्या करेंगे ? स्वदेशी-प्रियता यह समष्टि का स्वार्थ है। हमें ऊँचा उठना चाहिए, हृदय को अधिक उदार करना चाहिए अरे स्वदेशी भुवनत्रम् !" शास्त्रीजी ने जूता पहन लिया। उनकी भाव-गति से जान पड़ता था, वह जल्दी में हैं।

वसंत ने स्थिर भाव से कहा—"सुनिए शास्त्रीजी आप विद्वान् हैं। जिस प्रकार बिना भीतर के विचारों के साम्य के बाहरी जगत में शृंखला नहीं जुड़ती; उसी तरह बिना स्वदेश-प्रेम के कोई असली विश्व-प्रेमी हो भी नहीं सकता। मानता हूँ मै, यह विश्व-प्रेम देश-प्रेम से कहीं अधिक उन्नत, उदार और उज्ज्वल है। हाँ, उसी प्रकार जिसे अपने घर का

प्रेम नहीं है—जो अपने आश्रित या आश्रयों के प्रति अपने नैतिक कर्तव्यों को नहीं निभा सकता, वह प्रकृत देश-प्रेमी भी नहीं।"

"देर हो रही है मुझे। बहुत बातें करने को जी कर रहा था तुमसे इस विषय पर। केवल एक ही प्रश्न करूँगा—मान लो कोई मृत्यु-शय्या पर दम तोड़ने को है। तुम्हें यह विश्वास है कि किसी विदेशी दवा की कुछ मात्रा उसे बचा सकती है। तुम उसे वह दवा दोगे या नहीं?"

"दवा बचाती है या विश्वास?"

"मेरे प्रश्न का उत्तर दो पहले। सोचकर ही सही। इस समय तो जाता हूँ अब मैं।" शास्त्रीजी चले गए।

वसंत चरखे के पास बैठकर कातने लगा। जब कोई विचार उलझता है उसके मन में तब वह उसे चरखे की सुमधुर गुंजार पर सुलझाने लगता है। "ॐ मणि पद्मे हुं"—तिब्बती लामा लोगों के प्रार्थना-चक्र की भाँति। इसकी चाल बढ़ाने के लिए जब हम विचार करते हैं—सुधार से या कृत्रिम शक्तियों से, तब हम मोहित हो जाते हैं। प्रार्थना-चक्र की आमदनी इतनी भौतिक—तुरंत-फल-प्रद नहीं है।" वसंत कातता जा रहा था—"एक सिलसिला बँध जाता है इस सूत्र की ही भाँति हमारे विचारों का भी हमारे मन में। लेकिन कार्य, यह एक दिखावा है, बहाना है। यदि भीतर से हमारी बुद्धि का इसके साथ संयोग न हो तो फल कुछ भी नहीं।"

आरंभ में सूत्र टूट-टूट जा रहा था, पर अब सम और अटूट भाव से सूत निकलता चला जा रहा था। केवल पूनी बदलने के लिए ही क्रम छिन्न हो रहा था—"पूनीवाले हाथ के निकट ही यदि एक छोटी सी तिपाई बनाकर रख ली जाय, पूनियों को रखने के लिए। हाथ में की पूनी जब समाप्त होने को हो, तो झट से दूसरी पूनी उसके अंत पर जोड़ ली जाय। फिर विचार-क्रम न टूटे और चरखे की अखंड भावना हो सत्य।" कुछ देर पूनी बदलने में लगी वसंत को—"लेकिन नहीं, यह मोह है।"

"अपराध कुछ नहीं है मेरा ऐसा ज्ञान होने लगा है मुझे। भीखू के वहाँ अपना भारी भार रख देने के बाद। पिताजी के पास जाने में जो एक भय जान पड़ता था, उसका भी अस्तित्व खो गया।"

मिश्रजी ने कहा—"मैं बुला लाता हूँ वसंत को यहाँ। हो गया अब, महीनो हो गए। उसको भी कुछ अनुभव हो गया। आपको भी। लेकिन केवल मेरे जाने से कुछ होगा नहीं। आप भी चलेंगे।"

"नहीं, मैं उस चमार का मुख देखने में भी पाप समझता हूँ।" शर्माजी ने कहा।

शर्माजी की बैठक के बाहर, चबूतरे पर बैठा भीखू शर्माजी का जूता सी रहा था। पहले इस मुहल्ले में भीखू नहीं आता था। अभी कुछ समय से आने लगा है। शर्माजी ने तो आज उसे पहले-पहल जूता दिया है मरम्मत के लिए। चमार की संज्ञा सुनते ही भीखू के कान खड़े हुए। पूछा उसने—"कौन चमार बाबूजी!"

शर्माजी ने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया।

मिश्रजी ने कहा—"चमड़े से यदि ऐसी ही प्रीति उसे हो गई है, तो आप उसके लिए किसी अच्छी जगह पर जूतों की दूकान खुलवा दीजिए। या जूतों का कारख़ाना, जिसमें जूते ही नहीं, चमड़े का हर प्रकार का सामान बनता हो।"

पीनक में भीखू बोला—"आप लोग नहीं जानते मुझे। मैं भीखू हूँ। इत्र का दीया जलता था कभी इसकी बैठक में भी। मेरा भी चमड़े का कारख़ाना था यहाँ लखनऊ में। समय की बात है। आप दोनों काफ़ी उमर के हैं, मुझ से कुछ ही छोटे होंगे। आप लोगों को मालूम होना चाहिए। भीखू के कारख़ाने का बना जूता, यह फ़ैशन की बात थी उस वक्त।"

शर्माजी बोले भीतर से—"हम लोग नौकरी-चाकरी में बाहर ही रहे हैं।"

"ठीक है आप लखनऊ के पुराने निवासी नहीं, इसी से। किस

बमार की आप बात कर रहे हैं ?"

मिश्रजी ने शर्माजी की ओर देखकर कहा—"इनका लड़का है एक पढ़ा-लिखा बी० ए० तक—"

भीखू ने हाथ रोक दिया था, उसकी उत्सुकता बहुत बढ़ गई थी—"हाँ, हाँ कहिए मैं जानता हूँ उन्हें।"

मिश्रजी ने क्रम सँभाला—"हाँ, वह जूतों का काम करने लगा है। उसी की चर्चा कर रहे थे।"

भीखू जूता भूमि पर पटककर बैठक में आ गया—"वह आपका लड़का है। मैं आप से भेंट करने को आना चाहता था। आपने समझाया नहीं उसे ?"

मिश्रजी ने शर्माजी के बदले उत्तर दिया—"क्यों नहीं, लखनऊ के तमाम बड़े आदमियों ने उसे समझाया, नहीं मानता वह किसी की।"

भीखू ने मूछों पर ताव देते हुए कहा—"इस ग़रीब भीखू ने भी समझाया उसे।"

शर्माजी ने पूछा—"क्या कहा उसने तुमसे ?"

"मान गया बात मेरी।"

"क्या बात मान गया ?"

"छोड़ दिया उसने यह गंदा काम ?"

"जूते बनाना छोड़ दिया ?" शर्माजी ने अधीर होकर पूछा।

"हाँ, हाँ, जूते बनाना छोड़ दिया। कई दिन हो गए। चाहे जिससे पूछ लो लखनऊ में। उसके सब औज़ार पड़े हैं मेरे यहाँ। चलकर देख लो।"

"आश्चर्य है वह तुम्हारा कहना मान गया !" मिश्रजी बोले।

"इसमे क्या शक। काम करने का ढंग होता है। मैंने बात ही ऐसे ढब से की। लेकिन इतना कहूँगा लड़का बहुत होशियार है।"

"क्या करता है फिर आजकल वह ?" मिश्रजी ने पूछा।

"ख़ाली बैठनेवाला नहीं है वह । कर ही रहा होगा कुछ-न-कुछ। कोई पढ़ने-लिखने का साफ़-सुथरा काम करता होगा।"

मिश्रजी बोले—"उसे समझाना, कहना कि अपने घर चला आवे। उसके वियोग में उसके माता-पिता बहुत दुखी हैं।"

"हाँ, हाँ, मैं कहूँगा उससे मिलने पर। वह आता है मेरे यहाँ।"

शर्माजी बहुत प्रभावित हुए भीखू से। उनको उसके मुख की प्रत्येक झुर्री में ज़माने का अनुभव दिखाई दिया, उसके बालों की शुभ्रता में कार्य की चातुरी—"तुम सच कह रहे हो न, वसंत ने जूता बनाना छोड़ दिया?"

"कह तो रहा हूँ छोड़ दिया। दूसरा कोई छुड़ा भी नहीं सकता था।"

देवकी खड़ी भीतर, शृंखल झनकार रही थी बड़ी देर से। शर्माजी उठे—"आया अभी।" वह भीखू की ओर आकृष्ट हुए—"तुम्हारी बातों का विश्वास हुआ है मुझे। जो बात कोई न कर सका—"

"हाँ कैसे ही हो, यह काम छुड़ाने का कारण हुआ हूँ मैं ही। आप उनसे पूछ देखिएगा।" भीखू ने बीच ही में कहा।

"हाँ जो बात दूसरा न कर सका, बड़ी विद्या और चातुरी लेकर भी सब उससे हार गए, उसे तुमने कर दिखाया। मरने से पहले की यही साध थी मेरी। बूढ़े माता-पिता के मोह को छोड़कर किस तरह निर्दय हो गया मेरा लड़का। तुम्हें देखकर यही जान पड़ता है, वह आ गया। तुम्हें गले से लगा लेने की इच्छा होती है।" उन्होंने ललककर उसे गले लगा लिया। उन्हें ध्यान ही नहीं हुआ कि वह उनके मनो-राज्य में ऐसा अछूत है, जिसकी अस्पृश्यता आगामी पीढ़ियों को बराबर उत्तराधिकार में मिलती चली जाती है।

देवकी ने फिर साँकल झनझनाई। शर्माजी भीतर गए। देहली पर ही देवकी खड़ी मिली। पूरी और मिठाइयों से भरी हुई एक थाली लिए।

"क्या है?" शर्माजी ने कहा।

"उस चमार के लिए लाई हूँ। यह कैसा सुखद समाचार लाया है हमारे लिए।"

"अपने भोजन करने के बर्त्तनों में ?"

"हाँ, मैं इन्हें अपने हाथ से धो डालूँगी। ऐसा उदार है वह ! उसकी अस्पृश्यता, हमारी कैसी कठोर कल्पना है।"

शर्माजी ने वह थाली भीखू के सामने रक्खी—"इस तखत पर बैठ जाओ। यह गृहिणी ने तुम्हारे सुसमाचार के बदले में भेजी है। मैं पानी लाकर तुम्हारे हाथ धुला दूँगा।"

भीखू भोजन करते-करते बोला—"अपराध क्षमा हो पंडितजी, एक बात पूछता हूँ। वसंत का विवाह हो गया ?"

"नहीं।"

"यही बात है। आप उनका विवाह कर दीजिए, फिर देखिएगा, ऐसे ऊटपटाग खेल खेलने को उनका जी न चाहेगा।"

मिश्रजी ने कहा—"बात सही है।"

"लेकिन डर है एक—"

"क्या ?"

"लड़का—" रुक गया वह, बात वहीं से दूसरी दिशा को ले चला—"एक मेरे भी है, बड़ा लड़का। वह विवाह कर देने के बाद मेरे वश के बाहर निकल गया !"

"तुम्हारे स्त्री है ?" शर्माजी ने पूछा।

"हाँ।" उसने उत्तर दिया।

"तभी तुम मेरे दुख का अनुभव कर सके।"

विदा करते समय उसे, शर्माजी ने फिर पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"भीखू—कभी का राजा, आज का भिखारी।"

"रहते कहाँ हो ?"

"हुसेनगंज के अंदर एक अपने ही समान मैली, फटी और अँधेरी

कुलिया में।"

उसी दिन वसंत पिता की ओर आकृष्ट, चारबाग़ को चला। मार्ग में साइकिल पर उसे प्रमोद मिला। स्टेशन से किसी को विदा कर आ रहा था। वसंत को देखते ही साइकिल पर से उतर पड़ा।

"दिनों में तुम्हें आज देखा है।"

"हाँ, कई दिनों में आज बाहर निकला।"

"जूतों की प्रतिष्ठा का विचार छोड़ दिया क्या?" प्रमोद ने हँसते हुए वसंत की पीठ पर एक थपकी मारी।

"नहीं तो।" बहुत गंभीर होकर वसंत ने कहा—"कैसे कह रहे हो?"

"कंधे पर लोहा नहीं दिखाई दे रहा है।"

"यह तो है।" कहकर वसंत ने पॉलिश के सामान का झोला प्रमोद को दिखाया। "पॉलिश करता ही हूँ। केवल एक छोटी-सी चिनगारी चाहिए आग फैलाने के लिए। आग के भार की क्या ज़रूरत है।"

"क्यों, मरम्मत करनी क्यों छोड़ दी?"

"ऐसे ही, फिर कभी समय मिलने पर बताऊँगा।"

"रंग की खोज का क्या हो रहा है?"

"प्रकृति के रहस्य के अंदर धँस पड़ना क्या आसान है?"

"फिर भाई, तुम्हारे पास कोई वेल् इक्विप्ड लेबोरेटरी भी तो नहीं।"

"हाँ यह भी बात है। पर केवल इसी पर मेरी खोज अवलंबित है, मैं नहीं मानता।"

"अच्छा फिर मिलेंगे।" कहकर प्रमोद चलने लगा, उसने बाइ-सिकिल पर पैर रक्खा।

"हाँ भाई।"

"रहते कहाँ हो? वहीं गणेशगंजवाले मकान ही में न?"

"हाँ।"

वसंत बैठक के द्वार पर जाकर खड़ा हो गया। शर्माजी भागवत का पाठ कर रहे थे तखत पर बैठकर। बोला नहीं वसंत कुछ भी।

शर्माजी ने पूछा—"कौन?"

"मैं हूँ पिताजी वसंत! आ सकता हूँ भीतर?"

"मेरे पश्चात् यह घर तुम्हारा ही तो है न? आ क्यों नहीं सकते।"

झोला द्वार के निकट फ़र्श पर रख वसंत ने शर्माजी के पैर छू-कर कहा—"प्रणाम पिताजी।"

पिता ने मन-ही-मन में उसे आशीर्वाद दिए। वसंत चुपचाप खड़ा ही रह गया।

"क्यों? बैठ क्यो नहीं जाते।" उन्होंने तखत के रिक्त हिस्से की ओर संकेत किया।

वसंत बैठ गया।

"तुम्हें भीखू मोची ने भेजा है मेरे पास?"

"नहीं, मैं अपनी इच्छा से ही आया हूँ।"

"तुमने वह गंदा काम छोड़ दिया, बहुत अच्छा किया। उससे मेरी आत्मा को जो सुख मिला है, वह व्यक्त नहीं किया जा सकता किसी प्रकार।"

"अपराध क्षमा हो पिताजी। सुख यदि हमारा लक्ष्य रहेगा तो हमें दुःख भी अवश्य भोगना पड़ेगा। इन दोनों सिरों के कहीं बीच में ही हमारी स्थिति हुए बिना हमारी बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती।"

"तुम गीता पढ़ते हो?"

"हाँ पिताजी, बराबर।"

"आज तुम्हारा तर्क सहज प्रतीत होता है।"

"हाँ पिताजी, आज मैं कुछ रूढ़िप्रिय होकर आया हूँ, पुराना होकर। आप कुछ रूढ़ि की दासता छोड़ दीजिए नए होकर हमारे विचार मिल जावेंगे। समय के साथ पैर मिलाकर न चल सकने से ही हम पीछे रह जाते हैं। जिस पर काल का प्रभाव ही नहीं है, जो उसके तीनों

धरातलों पर समान रहता है वही सत्य है, वही धर्म ।" वसंत ने नम्रता से कहा ।

"तुम्हारे जाने के बाद मैंने रात-दिन भगवान् से यही प्रार्थना की कि वह तुम्हें सुमति दे । मेरी प्रार्थना आज सफल हुई बेटा, भगवान् का धन्यवाद है ।" कहती हुई देवकी दौड़ी हुई चली आई ।

माता को प्रणाम कर वसत ने कहा—"यही तो दुर्बलता है । भगवान् से हम अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति माँगते हैं, इसी से तो वह अपना रहस्य प्रकट नहीं करता हम पर ।"

"तुम्हारा मुख कितना दुर्बल और क्षीण हो गया । इस तरह तुमने अपने लिए दुख मोल लिया ! तुम खाना ही न खाते होगे समय पर ।"

"मैं बहुत स्वस्थ हूँ माँ अब, बीमार हो गया था ।"

"बीमार हो गए !" देवकी ने वसंत के सिर पर हाथ रक्खा—"किसने तुम्हारी औषधि की होगी, किसने तुम्हें पथ्य दिया होगा ! हमें ज्ञात भी नहीं हुआ, तुम ऐसे निर्मोही हो गए ।"

"रोग के निवास के लिए तो हमारा यह हाड़-मास का घर बनाया गया है । यह ऐसी चिंता का विषय नहीं । स्वास्थ्य बीमारी पर ही ठहरा हुआ है ।"

"तुमने भीखू के कहने से वह नीच काम छोड़ा ?" पिता ने पूछा ।

"फिर मेरा अपराध क्षमा हो पिताजी ! नीचता की कल्पना करने से हम फिर एक सिरे पर पहुँच जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ऊँच की कल्पना हमारा संतुलन डिगा देती है । हमें बीच में आना है ।"

शर्माजी बहुत गंभीर होकर सोच रहे थे । वसंत की बातों पर इतने चिंता-शील वह कभी न हुए । विगत पंद्रह वर्षों से वह भागवत् के एक अध्याय के साथ गीता का एक अध्याय नित्य

नियमपूर्वक पाठ करते चले आए हैं। उनका पाठ मानो अर्थ खोलने लगा।

देवकी ने कहा—"नहा चुके हो ?"

"हाँ, मैं सूर्योदय से पहले ही नहा लेता हूँ।"

"यहाँ तो तुम धूप आने के बाद उठते थे ?" पिता ने पूछा।

"हाँ पिताजी, यही प्राचीनता मैंने ग्रहण की है। सूर्योदय से पहले उठना, यह पुराने भारतवर्ष का विचार है। इस प्रकाश की संधि में हमारा मन अधिक तत्व को ग्रहण करने के लिए स्वस्थ रहता है।" वसंत ने कहा।

"अच्छा स्वभाव है प्रभात के जागने का। प्रभात की शांति हमें सुंदर विचार देती है। कहते हैं, प्रभात के विचारों का प्रभाव दिन-भर हमारे मन में रहता है।" शर्माजी ने कहा। वसंत का व्यक्तित्व उन्हें मन-ही-मन पुलकित कर रहा था।

"चलो, खाना खा लो।"

"हाँ खा लूँगा, यदि तुम्हें इस चमार को चौके में भोजन कराने में कोई अरुचि न हो तो। पर अभी ठहर जाओ। पूरी बातें हो जाने दो।"

"भीखू के ही कारण तुमने यह काम छोड़ा ?"

"हाँ।"

"मैं समझता था वह चमार झूठ बोला।"

"उसके कहने में तुम्हें क्या ज्ञान मिला ! इतने भले आदमियों को कुछ नहीं समझा तुमने। उसका कहना मान लिया, अपनी हठ छोड़ दी।"

"पर सच यह है, बिलकुल नहीं छोड़ी पिताजी ! जिस प्रकार गाड़ी चली जाती है और लीक छोड़ जाती है, उसी प्रकार कुछ अंश सुरक्षित रक्खा है मैंने।"

"क्या ?" कुछ आश्चर्य से पिता ने पूछा।

"पॉलिश करना जारी रक्खूँगा।" विनम्र होकर वसंत ने पिता के भावों को निहारा, ऐसा ज्ञात हुआ जैसे उन्हें कोई कड़ुई बात सहन कर लेने की शक्ति हो गई है।

"इतना ही क्यों रख लिया तुमने?"

"तितिक्षा के लिए।"

"क्या हुई तितिक्षा?"

"द्वंद्वों को सहन करने की शक्ति, दोनों सिरो को एक ही सा देखने की दृष्टि। क्योंकि एक रेखा में बिना दोनों सिरो को देखे, बिना उनकी स्थिति का पता लगाए, मध्यबिंदु की खोज नहीं हो सकती, और मध्यविंदु बिना उन दोनो सिरो की समानता के मिल नहीं सकता। ऊँचाई की खींच को सँभालने के लिए इतना नीचाई का भार आवश्यक है। किसी दिन अभ्यास हो जाने पर जब उपचेतना में यह रेखा गहरी हो जावेगी, तब क्या इसका ग्रहण क्या त्याग!"

"देखता हूँ तुमने गीता का विशेष पाठ किया है।"

"आपके चरणो के आशीर्वाद से पिताजी। केवल पाठ से ही कुछ नहीं हो सकता, जब तक उसका अर्थ हमारे प्राणों में भीग न जाय। उसके अर्थ में ही हमारा निवास न हो जाय, उसी में हमारी साँस न चलने लगे, तबतक वह हमारे व्यावहारिक जीवन में नहीं आ सकता। सत्य किस पर प्रकट नहीं है? केवल अमल में लाने-न-लाने से मनुष्यों में अंतर है।"

"देखता हूँ वसंत, तुम पूरे वेदांती हो गए।"

"यह आपकी बड़ाई है, जो आप ऐसा कहते हैं।"

"जूते से हमें घृणा नहीं, पर जूते बनानेवाले से जो हमारी घृणा है वह युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती।"

"गीता में लिखा है कर्म कोई भी दोष-रिक्त नहीं। जिस कर्म को हम उज्ज्वल कहते हैं वह हमारे भीतर क्या पाखंड और अहकार को नहीं जगा देता। 'कर्म में लिप्त न हो' मैं इसकी भावना ऐसे करता

हूँ—छोटा काम करते समय विचार श्रेष्ठ रक्खे और किसी की भक्ति करते समय अहकार को दलित करे।"

"लोग कहते हैं तुमने बहुत रुपया कमाया है।" देवकी ने पूछा—"क्यों वसंत वह कहाँतक सच है?"

"शुद्ध मनोवैज्ञानिक उद्देश्य से मैंने यह जूतों का काम सँभाला है। धन कमाना मेरा उद्देश्य नहीं। और मैं उसे बहुत बड़ा उद्देश्य भी नहीं समझता। हाथ की मज़दूरी कर कौन धन का संग्रह कर सकता है?"

"खाना खा लो।" देवकी ने कहा, पिता-पुत्र दोनों से। वह रसोई-घर की ओर जाने लगी।

"रंग की खोज करते हुए मैंने कुछ पुराने मास्टरों—कला-गुरुओं का इतिहास पढ़ा। वे कहते हैं, प्रकृति में न कहीं विशुद्ध श्वेत है न कहीं विशुद्ध कृष्ण।"

"फिर कर लेना बातें भोजन कर लेने के बाद।" देवकी ने बाधा दी।

"खाना हो गया तैयार?" शर्माजी ने पूछा।

"केवल रोटी करनी शेष है।" देवकी ने उत्तर दिया।

"मैं धूप में सिकी रोटी खाऊँगा।" वसंत बोला—"आग का पका मैं सुबह कुछ नहीं खाता।"

"क्यों?" माता-पिता दोनों ने पूछा।

"एक प्रयोग कर रहा हूँ।"

"यह भी कोई प्रयोग हुआ?" देवकी बोली।

"हठ न करना माँ। मैं बहुत दिनों से उसे साध रहा हूँ।"

"तुम्हारी यह हठ नहीं हुई क्या?" देवकी ने कहा—"धूप में कैसे सिकती है रोटी?"

"धूप में गरम पत्थर के ऊपर एक धुला रूमाल बिछा देना। रोटी बेलकर उसपर डाल देना। दो चार बार उसका स्थान बदलकर उलटा पलटा देना, बस सिक गई।"

"अच्छी सिक गई ! नहीं बेटा, पेट ख़राब हो जायगा कच्ची रोटी के खाने से।"

"कुछ भी नहीं हुआ। मैं पाँच महीने से खा रहा हूँ। तुम नहीं जानतीं आग गेहूँ के तमाम पोषक तत्वों को जलाकर मार डालती है।"

"क्या ?" देवकी ने पूछा।

"तुम क्या समझती हो गेहूँ के दाने में जीवन नहीं है ? है एक प्रकार का उसमें भी। तभी तो भूमि के भीतर जल पाने पर सूर्य की किरणें उसमें से अंकुर बाहर निकाल देती हैं। वह बढ़ता और बुढ़ाता है क्या यह जीवन नहीं ?"

देवकी ने कहा—"तो क्या पिस जाने पर वह तत्त्व नहीं नष्ट होता।"

"उतना नहीं जितना आग में। यदि ताज़े पिसे हुए आटे की रोटी खाई जाय तो सबसे अधिक गुणकारी है। कुछ दिन के प्रयोग से मुझे लाभ ही हुआ है। अब एक-दो रोटी मैं रात को भी वैसी ही सूर्यताप में पकी खाने लगा हूँ। कुछ दिन बाद दोनों समय के भोजन में से अग्नि का बिल्कुल बहिष्कार कर दूँगा।"

"क्या लाभ होगा इससे ?" देवकी ने पूछा।

"वही तो देख रहा हूँ।"

"मान लो कुछ लाभ हुआ भी, तो क्या दुनिया के सब लोग ऐसी ही कच्ची रोटी खाने लगेंगे ?" देवकी ने पूछा।

"क्या समझती हो माँ, संसार इसी प्रकार आरंभ से ही पका हुआ खाना खाता था ? अग्नि प्रत्येक पदार्थ में है, पर उसकी खोज बहुत वर्षों बाद हुई। मैं पकी हुई दाल-तरकारी भी नहीं खाता।"

"रोटी कैसे खाओगे ?"

"छिलके-सहित दाल पानी में भिगा देना, बाद को उसमें कुछ नमक छोड़ देना। ऐसे ही तरकारी कच्ची ही काट देना उनके साथ खा लूँगा।"

"दही ?"

"नहीं।"

"दूध ?"

"कच्चा कभी-कभी पी लेता हूँ। अब वह भी छोड़ दिया।"

"चाय, पीते हो या नहीं ?"—शर्माजी ने पूछा।

"नहीं, पिताजी मैंने उसे भी छोड़ दिया। मेरे प्रयोग का अर्थ स्वाद पर विजय पाना भी है।"

"शास्त्रों में लिखा है इंद्रियों में सबसे कठिन अवरोध करना रसना का ही है। उस पर अधिकार कर लेने से सभी इंद्रियाँ अधिकृत हो जाती हैं।"

"हाँ पिताजी, लोगों ने, रहस्य के शोधकों ने इसका पता लगाकर इस सत्य को एक दिन प्रतिष्ठित किया था, हमारी भूमि में। आज हम ने उसका विश्वास खो दिया।"

शर्माजी ने कहा—"ठीक है।"

देवकी वसंत की बातों से ऊबकर चली गई। उसे भोजन भी तो बना लेना था।

"आज वह एक सत्य म्यूज़ियम में रख दिया गया है। चक्रवर्त्ती अशोक का सा खड्ग।"

"म्यूज़ियम में ? कहाँ के ?" पिता ने आश्चर्य की मुद्रा में पूछा।

"कहीं के हो। मेरा आशय म्यूज़ियम में रखने से है, जिसका उपयोग न हो, हमारे जीवन में।"

शर्माजी ने सिर हिलाया।

वसंत बोला—"यह विचार भी पुरानी परिपाटी का है। कितना उज्ज्वल सत्य है यह। मैं रसायन विज्ञान का विद्यार्थी होने पर भी रसायन की किसी खोज को भी इतने महत्व की नहीं समझता जितनी इसे। इस दूसरे पुराने विश्वास को पहनकर मैं पुराना बनकर आपके पास आया हूँ कि आप कोई नवीनता धारण करें।"

"क्या ?"

"आपको मैं कोई उपदेश नहीं दे सकता। उपदेश देने-लेने की चीज़ ही नहीं। हम तर्क या बल से इसे किसी पर लाद भी नहीं सकते। लादी गई वस्तु का महत्व ही क्या। यह तो स्वयम् ही ग्रहण करने की चीज़ है। जब ऐसी वृत्ति मन में हो जाती है—क्षेत्र इस प्रकार तैयार हो जाता है तब फिर उपदेश को फलते कुछ देर नहीं लगती।"

"तुम सेठजी के मकान में से अपना सब सामान उठाकर यहाँ ले आओ।"

"यह अवज्ञा न हो पिताजी, परंतु अभी मेरा वहाँ का काम पूरा नहीं हुआ है।"

"तुम यहीं आकर रहो। जो भी करना चाहो, यहीं रहकर करो। मुझे तुम्हारे चमार के काम करने का इतना दुख नहीं था जितना तुम्हारा मुझसे विलग रहने का।"

"मैं रग-विज्ञान में एक खोज कर रहा हूँ। वह जब पूर्ण हो जायगी, तभी आ जाऊँगा।"

माता आटा गूँदने को वहीं पर ले आई। इतने दिन के पश्चात् वसंत के आने पर वह दूर रसोईघर में अकेले रही न सकी। आटा गूँदने बैठ गई बैठक के बराबरवाले कमरे में, परदा द्वार पर समेट कर। बोली—"हाँ, गोपाल बाबू के यहाँ गई थी मैं कई दिन हुए।"

वसंत ने कोई उत्तर नहीं दिया, वह पिता से बात कर रहा था। देवकी ने फिर कहा ज़ोर से—"लीला ससुराल से आ गई, वसंत।"

विशेष संबोधन पाकर उसे उत्तर देना पड़ा—"आ गई होगी।" बड़ी उदासीनता से भरा हुआ वसत का उत्तर था।

"सुंदरी उदास है। सुना है, गोपाल बाबू भी संतुष्ट नहीं।"

"क्यों ?" वसंत ने पूछा।

"सुना है लीला का वर उनके मन के अनुकूल नहीं। और सबसे अधिक असंतुष्ट हुई है लीला।"

"उनकी निराशा का कारण ? वर पढ़ा-लिखा है और ससुर के पास अनगिनती धन है।"

"वर ठीक नहीं है। सुना है, उसकी संगति उचित नहीं है और उसका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं।"

"दुःख की बात है तब तो।" वसंत ने कहा।

"क्या बुरा कहा था हमने ? अभिमान करने लगे। दिया हुआ वचन हार गए !" हाथ का आटा छुड़ाकर देवकी ने कहा—"सुंदरी तो चाहती थी बहुत अपनी बात रखना, गोपाल बाबू को ही यह संबंध नहीं जँचा।"

"नहीं, उनकी भी इच्छा थी। पर जिस दिन से उन्होंने वसंत को कॉलेज छोड़ देने पर तुला पाया, उस दिन से उन्होंने अपना विचार ही बदल दिया। पर मैंने तो और भी बुरा समाचार सुना, अभी मिश्रजी के यहाँ।" शर्माजी चुप हो गए।

"क्या ? क्या ?" देवकी ने हाथ रोककर पूछा।

"लीला के पति को डॉक्टरों ने फेफड़े की बीमारी बताई है। उन्होंने जल्दी-से-जल्दी उसे अनुकूल आबहवा में पहुँचा देने को कहा है।"

वसंत ने क्षोभ की साँस ली।

देवकी ने भगवान से प्रार्थना की—"ईश्वर अच्छा कर दे बिचारे को। बड़ी शांत लड़की है लीला, गौना भी तो नहीं हुआ है अभी बिचारी का। भगवान् कुशल करे।"

"शीघ्र ही वे लोग जावेंगे पहाड़ पर।"

"इधर हाल की ही यह बातें होंगी।"

"हाँ।"

"लीला भी जावेगी साथ ?" देवकी ने पूछा।

"संभव है।"

तीसरा परिच्छेद

शुक्रास्त

माता के पास से दोनो उठी। लीला उन्हें अपने कमरे में ले गई। वहाँ मिस जगदंबिका पर सारा भेद खुला। जो-कुछ प्रसन्नता लीला किसी तरह अपने मुख में घेरकर सँभाले हुए थी, वह खुल पड़ी। उसका मुख उदास हो गया। दोनो कुर्सियो पर बैठ गईं। सुंदरी पूजा करने को चली गई थी और गोपाल बाबू किसी इंजीनियर से भेंट करने गए हुए थे।

"तुम प्रसन्न नहीं हो लीला !..." मिस जगदंबिका ने उसके सिर पर अपना करुण-कोमल स्पर्श रक्खा।

"नहीं।" वह अपने हाथ की उँगली के नख से कुर्सी की बाँह पर रेखा खींचने लगी। उसकी आँखें नीची हो गई थीं।

"कारण ?"

"आपको बताऊँगी। माता-पिता के दुःख को बढ़ावेगा, इस सबब उनसे छिपाती चली आ रही हूँ। हृदय मे संचित रख देने से भी बड़ी मानसिक असुविधा है। आपसे मिलने को इसीलिए उत्सुक थी।" लीला ने विना उनकी ओर देखे ही कहा।

"मेरी ओर देखो लीला, इतनी संकोचशीला तुम मेरे सामने कभी न थी।" जगदंबिका ने लीला का चिबुक और मस्तक हाथो से पकड़कर अपनी ओर घुमाया। उसने देखा उसकी दोनों आँखो में आँसू छलक उठे थे।

"क्या हो गया तुम्हें ? तुम तो हर समय प्रसन्न ही रहनेवाली

थीं ?" जगदंबिका ने अपने रूमाल में उसके आँसू ले लिए। "अधीर न होना चाहिए तुम्हें। क्या कष्ट हो गया तुम्हें ?"

'विवाह मेरे लिए निराशा का अर्थ लाया !"

"हैं ! क्या कह रही हो तुम ?" लीला के दोनों कंधों को पकड़कर मिस जगदंबिका ने पूछा, सविस्मय।

"हाँ, इसे बिलकुल सच समझिए।"

"क्यो इतनी उदास हो गईं तुम ? समय पर रोग पकड़ लिया गया है। बीमारी की नवीनतम औषधियो का उपयोग किया जायगा, उनके कमी किस चीज़ की है। वह शीघ्र ही नीरोग हो जावेंगे।"

"तुम्हारे अविवाहित जीवन का आदर्श सामने पाकर भी—" रुक गई लीला।

"तुम क्या जानती हो, मुझे कितनी शांति है।"

"अपने मुख मे मैंने ताला दे दिया था। सोचती हूँ, वही भूल हो गई।"

"मैं तुम्हें विद्रोही बन जाने में सहायता न दूँगी। आदर्श मेरे मन में हिंदू नारी का ही है। कोई पत्र आया है वहाँ से हाल में ?"

"हाँ।"

"कैसा है स्वास्थ उनका ?"

"बिलकुल वैसा ही।"

"कुछ भी अंतर नहीं ?"

"नहीं।"

"पहाड़ पर चले गए हैं ?"

"हाँ।"

"वहाँ की आबहवा का कोई प्रभाव नहीं पड़ा ?"

"आरंभ में कुछ दिन कुछ लाभ हुआ, फिर वही दशा हो गई।"

"तुम नहीं गईं ?"

"नहीं।"

"क्यों ? क्या तुम्हारे माता-पिता तुम्हारा वहाँ उपस्थित रहना ऐसे समय में ठीक नहीं समझते ? और तुम—तुम्हारे क्या वहाँ उड़कर जाने की इच्छा नहीं होती ?"

"ज्योतिषीजी कहते हैं इस समय कोई ग्रह अस्त है, द्विरागमन के लिए मुहूर्त्त नहीं।"

"कैसे ज्योतिषीजी हैं यह ? संकट के समय में क्या ऐसी बातों पर विचार किया जाता है ? तुम्हारे पिताजी ने क्यों ऐसा अंधविश्वास किया ?"

"डॉक्टरों की भी राय नहीं है।"

"हाँ, यह बात होगी। मैं इस बीमारी को शरीर की इतना नहीं समझती जितना मन की। अभी दिन ही कितने हुए तुम्हारे विवाह के। इतनी तीव्रता से रोग ने उन्हें शय्या-शायी कर दिया क्यों ? चल-फिर नहीं सकते बिलकुल ?"

"यह नहीं ज्ञात है। डॉक्टरों ने बिलकुल हिलने-डुलने के लिए मना कर रक्खा है। श्रम उठाने के लिए कठोर निषेध दे रक्खा है।"

"वह निःसंदेह पहले से ही बीमार होंगे। विवाह के समय भी। माता-पिता ने उनके, यह बड़ा भारी सामाजिक अपराध किया है। भगवान् कुशल करें उनकी! विवाह के दिन तो बहुत स्वस्थ और सुडौल मैंने उनको देखा था। तुमने कैसा पाया उन्हें ?"

"एक अस्वस्थ शरीर में अस्वस्थ मन लिए हुए।" स्पष्ट कहा लीला ने।

"अस्वस्थ मन ? क्या अर्थ है तुम्हारा ?"

"मैंने पहले दरजे का इंद्रिय-लोलुप उन्हें पाया।"

"चुपो, चुपो।" जगदंबिका ने अपने दोनों हाथ लीला के ओष्ठाधरों पर स्थापित कर दिए। "तुम हिंदू-रमणी हो, पति के विरुद्ध यह क्या कहने लगीं।"

"उनके शरीर को अस्वस्थ पाकर जब मैं उन्हें बीमार कह देने में

हिंदू धर्म की किसी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती हूँ, तब उनके मन को रोगाक्रांत कह देने में मेरी क्या अशीलता है ? क्या इंद्रिय-लोलुपता मन की बीमारी नहीं ?"

"पति के हृदय पर अधिकार पाते हुए क्रमशः पत्नी जो चाहे वह कर सकती है। तुम्हें अधीर न होना चाहिए। वे अच्छे हो जायँ। तुम अपनी भक्ति से जिधर चाहो उन्हें मोड़ सकती हो।"

लीला ने जगदंबिका के कान में कुछ कहा।

जगदंबिका ने गंभीर होकर कहा—"अच्छा !" वह कुछ देर स्तब्ध रहकर फिर बोली—"तो भी क्या चिंता है, तुम अपने मनोबल का उपयोग कर उनकी वह बुरी आदत छुड़ा लोगी।"

"नहीं, असंभव है।"

"क्यो ? तुम चाहती क्या हो कि बहुत समय से बनी हुई कोई आदत तुम्हारे एक ही उपदेश में गल जावेगी ? मनुष्य दुबलता का समूह है।"

"पहले दिन ही उनके छिपाने पर मुझे ज्ञात हो गया। मैंने कुछ नहीं कहा। चुप रही। दूसरे दिन न छिपा सको तो लाज गँवाकर हँसने लगे।"

"कुसंगति का फल।"

"किसी बुरी वस्तु को जब हम अच्छा समझते हों, तो मनोविज्ञान कहता है, वह हमसे कभी छूट नहीं सकती।"

"कुछ भी हो वह तुम्हारी वस्तु है। उसे बुरा कहते हुए तुम शोभा नहीं देतीं। उसका बुरा रह जाना तुम अपनी ही दुर्बलता समझो। नहीं लीला ! मुझसे कह देने में कोई हानि नहीं। मैं तुम्हारे हृदय की ही हूँ। और किसी से इस बात पर तुम्हारा मुख नहीं खुलना चाहिए।"

लीला चुप रही।

"बुरे नहीं हैं हमारे आदर्श, जब उनमें और आदर्शों की खिचड़ी नहीं है।"

"मैंने वसंत के मन के स्वप्न तोड़ डाले !"

"तुमने !" जगदंबिका चौंक पड़ी।

"हाँ, मैं यदि उस समय पिताजी के सामने कह देती, तो वह अवश्य मेरी बात मानकर वसंत के साथ मेरा विवाह कर देते।"

"पर अब मैं इसे तुम्हारे मन का पाप कहूँगी।"

"तुम कवयित्री ! तुम इसे मेरे मन का पाप कहोगी, अपने अविवाह की तपस्या को नहीं, मुझे यही अवस्था बड़ी प्रिय जान पड़ती है। मैं पिताजी से यह कह देती कि मैं विवाह ही न करूँगी। हाय ! क्यों नहीं कह सकी मैं वैसा। इस विवाह के सुविचित्र आवरण को मैंने कैसे अंधकार के ऊपर पड़ा हुआ पाया !"

जगदंबिका ने कहा—"मनुष्य की दूरदृष्टि, अनुभव, संचय और श्रम को विफल जाता देखकर हमें बाध्य होकर भाग्य को मानना ही पड़ता है।"

"यह वसंत को पहुँचाई गई पीड़ा की प्रतिसंधि है। अब समझती हूँ, तुमने जो मार्ग ग्रहण किया वह बहुत सोच-विचार का है। विवाह से पहले तुमने क्यों नहीं सतर्क कर दिया मुझे ?"

"मैं विवाह द्रोहिनी कहाँ हूँ ? मेरा जीवन अपवाद है। सांसारिक दृष्टि से मेरा विवाह नहीं हुआ है सही। पर, भावों के संसार में मेरा पति था। मैंने एक दिन तुम्हें पूरी कथा सुनाई थी।"

"केवल मातृभाषा का वर्णपरिचय होता, कुछ व्यावहारिक गणित सीखती। जानती नहीं, मुझे क्यों ऊँची शिक्षा दी गई। केवल मेरी विकलता बढ़ाने के लिए ही तो। तुमने क्यों इबसन पढ़ाया मुझे ? मैं 'डौल्स हाउस' की 'नोरा' बनना चाहती थी ! स्मृति-पटल में से मिट सकते नहीं क्या वे सब चित्र—अतिरंजित हैं, अस्वाभाविक हैं—जीवन में हम उनकी छाया नहीं पा सकते !" लीला ने उदास स्वर में कहा।

"बेलजियम में एक साहित्यिक सेटर है. मैंने वहाँ अपने पति का

चित्र भेजा था।" जगदंबिका ने कहा। इतना ही कहकर वह कुछ देर के लिए चुप हो गई।

लीला बोली—"यदि तुम प्रकरण नहीं बदल रही हो तो कहो किसलिए भेजा?"

"अपने पति का भविष्य जानने के लिए।"

"जो मर गया फिर उसका क्या भविष्य?"

"इस धरातल के अतिरिक्त और भी तो धरातल हैं न?"

"मैं नहीं अनुसरण कर सकती तुम्हारे विचार का। तुम प्रकरण बदल रही हो।"

"नहीं, वहीं पर आती हूँ अभी। उन्होंने लिखा है मेरे पति का जन्म हो गया है। इस लोक में फिर।"

"कैसी बातें कर रही हैं आप?"

"मैं तुम्हें उनका पत्र दिखा सकती हूँ, जब कहो।"

"सच?"

"हाँ, सभी बातें तर्क से हल नहीं हो सकतीं। अधिक अध्ययन से हमें फिर अपढ़ों की कल्पना मिल जाती है।"

"कहाँ हुआ है उनका जन्म?"

"ठीक स्थान नहीं बताया। हाँ अनुमान करने के लिए बहुत-सा आधार दिया है।"

"जैसे?"

"उन्होंने लिखा है, वह एक चमार के घर में पैदा हुआ है।"

लीला को ऐसा जान पड़ा जैसे उसके हाथ की छूटी हुई कोई चीज़ मिस जगदंबिका ने उठा ली।

"उन्होंने उसकी कुछ आकृति का भी उल्लेख किया है, कुछ स्वभाव का भी। वे मिले हैं मुझे।"

"कहाँ?" अतिरेक में लीला ने पूछा—"कहाँ?"

"बसंत में!"

"वसंत में ? नहीं। झूठ है, मैं नहीं मान सकती।"

"क्यों ?"

"वह चमार के घर में कहाँ पैदा हुआ है ?"

"काम तो चमार का ही करता है न ?"

"उसकी और आपकी उम्र में बहुत अंतर होना चाहिए। कम-से-कम बीस वर्ष का। तुम्हारे पति की मृत्यु हुए कितना समय हुआ ?"

"सूक्ष्म जगत में समय का मूल्य ऐसा नहीं है जैसा हमारे यहाँ।"

"कब मरे वह ?"

"आठ वर्ष हुए।"

"तो वसंत की अवस्था इस समय आठ वर्ष की होनी चाहिए।"

"नहीं, यह कोई बात नहीं।"

"नहीं होता मुझे विश्वास।"

"मुझे तो है। मैंने कई बातें उससे मिलाई हैं। वे सब-की-सब ठीक-ठीक उतरी हैं। वसंत में स्पिरिट आई है मेरे पति की।"

"भगवान् जानें।"

"मुझे विश्वास हुआ है, मेरे प्रेम ने उन्हें फिर जगत् में खींचा है। शक्ति हमारे प्रेम में है। वह विशुद्ध होना चाहिए।"

"तुम्हारा क्या मतलब ?"

"यही कि तुम्हें अपने पति को विशुद्ध मन से प्यार करना चाहिए। इसीलिए भारतीय आदर्श कामी, क्रोधी, रोगी और कुरूप पति की भी पूजा करना सिखाता है। तुम अपने प्रेम से सब बाधाओं को उज्ज्वल कर सकती हो।"

लीला कुछ आशा में भर उठी—"क्या करने को कहती हैं आप ?"

"आज ही पहाड़ को चली जाओ अपने पति के पास। तुमसे बढ़कर उनकी परिचर्या कोई कर नहीं सकता। अपने त्याग, अपने प्रेम और अपने विश्वास से तुम निःसंदेह उन्हें अच्छा कर लोगी। स्वास्थ्य-

लाभ कर जब तुम्हारे पति तुम्हें देखेंगे तो तुम उनकी दृष्टि में अद्भुत परिवर्तन पाओगी। वह अपने जीवन का कारण तुम्हें समझेंगे, तुम्हारी इच्छा, मंत्र की भाँति उन पर प्रभाव डाल देगी। तुम जिधर चाहोगी उधर ही उन्हें प्रेरित कर सकोगी।"

"ज्योतिषी और डॉक्टरों का निषेध ?"

"भय न करो किसी का।"

"माता-पिता, सास-ससुर कोई न मानेगा।"

"उन्हें समझाओ तुम्हारा पति तुम्हारा सर्वस्व है। उनकी बीमारी के ऐसे कठिन समय में पत्नी को बिछुड़ाकर रख देना निर्दयता है।"

लीला अवसन्न हो गई थी।

"दुविधा में मत पड़ो। एक निश्चय करो और साहस के साथ उसे आगे बढ़ा ले चलो।"

"हाँ।" कुछ सोचते हुए लीला बोली।

"समय खोना नहीं है। कदाचित् उसके बीत जाने पर फिर कुछ भी न हो सके। आज ही—"

"आज ही ?"

"हाँ, यदि तुम्हें माता-पिता के समीप इस बात को खोलते हुए संकोच जान पड़ता है तो चलो, मैं इस कारण को स्पष्ट करती हूँ तुम्हारी माता के पास।"

"नहीं, मैं स्वयम् कह लूँगी।"

"अभी कहो, यही क्षण है।" जगदंबिका विदा होने के लिए तैयार होने लगी। वह कुर्सी छोड़कर उठ खड़ी हुई।

"अभी कहूँगी। एक बात बताइए।" लीला भी उठ गई।

"क्या पूछती हो ?"

"तुम वसंत से विवाह करोगी ?"

जगदंबिका के मुख पर बड़ी क्षीण हँसी प्रकट हुई।

"तुम वसंत से करोगी विवाह ?" लीला ने फिर पूछा।

"नहीं कह सकती। तुमने क्यों पूछा यह ?"

"ऐसे ही।"

"तुम क्या कहती हो ?"

"कोई हानि नहीं।"

"विचार करना रहेगा। एक प्रार्थना करती हूँ—यह बातें तुम किसी पर प्रकट न करना।"

"नहीं।"

"माताजी से भेंट न होगी अब इस समय, पूजा में हैं। मेरा प्रणाम दे देना और अभी जाकर उनसे कहो कि मैं रात की गाड़ी से पहाड़ जाना चाहती हूँ, अपने पति के पास।" जगदंबिका ने बाहर जाते हुए कहा।

लीला ने जगदंबिका को विश्वास दिलाकर कहा—"अवश्य।"

"मैं रात को आऊँगी तुम्हें विदा करने रेल पर।" जगदंबिका चली गई।

लीला माता के पास जाकर खड़ी रह गई। सुंदरी पूजा कर रही थी। यही प्रार्थना उसके मन में थी, हे भगवान् लीला के पति को रोगमुक्त करो।

कुछ देर हो गई। लीला उसी प्रकार खड़ी थी विचार-निमग्न, प्रतिमा मूक, सुंदरी ने कहा—"क्यों लीला ?"

"हाँ, माँ !" करुणा के दबे स्वर में लीला ने कहा।

"कुछ कहना है ?"

"हाँ।" इसके आगे कहने को उसे फिर माता के प्रत्युत्तर की आवश्यकता हुई।

"क्या ?"

लीला अब चुप न रह सकी—"माँ, मैं भी वहीं जाऊँगी पहाड़ पर।"

"नहीं बेटी, शुक्रास्त है। जब द्विरागमन का मुहूर्त्त मिलेगा,

तभी जा सकोगी।"

"वहाँ से कल जो पत्र आया है, वह चिंता-जनक है, यदि कुछ हमारी इच्छा के विरुद्ध हो गया, तो फिर ये योग-मुहूर्त्त सब रक्खे ही न रह जावेंगे!"

सुदरी काँप उठी! उससे हाथ की माला आसन पर गिर पड़ी और मन का नाम अधरों पर खो गया। मन में कहा उसने—"ठीक ही तो कह रही है।" किसी प्रकार जल्दी-जल्दी उसने पूजा शेष की।

लीला अपने कमरे में चली गई थी और जाने के लिए साथ की चीज़ों को एकत्र कर रही थी। उसे पति का पत्र लाकर दिया नौकर ने। उसे खोलकर पढ़ना आरंभ किया—"बड़ी कठिनता से डॉक्टरों की दृष्टि से छिपाकर यह पत्र मैं तुम्हें लिख रहा हूँ। हिलने-डुलने की शक्ति भी नहीं है और आशा भी नहीं। टॉर्च के प्रकाश में पड़े-पड़े लिख रहा हूँ, पेंसिल से। लिख चुकने पर यह तुम्हें भेज सकूँगा या नहीं, इसी सोच में हूँ। तुम देवी हो और मैं अपने ही पापों से दलित। तुम्हें प्रसन्न न कर सका जीवन में। चिंता करता हूँ, यदि विवाह के बाद भी तुम्हारा कहना मान लेता तो आज यह दशा न होती।"

द्वार के पास लीला ने कुछ आहट-सी सुनी—"कदाचित् माताजी हैं?" पुकारा नहीं किसी ने। वह फिर पत्र पढ़ने में लग गई—"मैं बहुत दुर्बल हूँ। ज्वर ने मुझे बिलकुल जैसे तोड़ दिया है। तुम्हें देखने के लिए प्राण आकुल हैं। पर ये कोई मिलने न देंगे। मैंने यहाँ तुम्हें बुला देने की कितनी ही विनती की है, पर जैसे पत्थरों के सामने रोया हूँ। जब तुम्हारे पिताजी यहाँ आए थे, मैंने उनसे भी तुम्हें यहाँ भेज देने को कहा था, उसका भी कुछ फल नहीं हुआ। तुम्हारे यहाँ रहने से मैं अच्छा हो जाता। यहाँ की दवा और हवा से मुझे कोई लाभ नहीं हो रहा है। एक क्षण के लिए ही तुम मुझे दर्शन दे जातीं। इस पत्र का यदि तुम कोई उत्तर लिखोगी भी, तो ये लोग मुझे न देंगे। और अब नहीं लिखा जाता, सारा अंग पसीने से तर हो गया और

ज्वर तीव्र। शायद नहीं, निश्चय ही यह मेरा अंतिम पत्र है।—"

लीला सिसक-सिसक कर रोने लगी। उसके पंख होते तो वह उड़ जाती। पति के लिए उसका प्रेम जाग उठा। एक बार फिर उसने उस पत्र को पढ़ा। सोचने लगी—"डॉक्टर लोग हित की ही बात तो कह रहे होगे। मेरे वहाँ चले जाने से संभवतः रोगी के मन में व्याकुलता बढ़ जाय, जिसका असर बीमारी पर पड़ जाय। इसीलिए यह रोक होगी।" वह दुविधा में पड़ गई, जाने के लिए जो सामान एकत्र कर रही थी, उसमें बाधा पहुँच गई।

माता ने द्वार खटखटाकर कहा—"लीला!"

आँसू पोछने लगी लीला। उसने खाँसकर गला स्वच्छ किया—"हाँ माँ!"

"द्वार बंद कर रक्खा है तुमने?"

"यों ही माँ। जैक मुझे बहुत दिक कर रहा था।" लीला ने सिटकनी खोलते हुए कहा।

"बँधवा देती उसे।"

"नौकर ने ज़ंजीर जाने कहाँ रख दी। वह है नहीं यहाँ।"

"डाकिए ने पुकारा था?" सुंदरी ने कहा।

"हाँ।"

"पहाड़ से आया है कोई पत्र?" कंपित-हृदया सुंदरी ने पूछा। लीला की आँखों मे उसे उसका दुख दिखाई पड़ गया था।

"हाँ।" बड़ी कठिनता से वह उत्तर दे सकी। उसने सिर फिरा लिया कि उसके आँसू छिप जायँ।

"कैसे हैं वह?" जल्दी जल्दी सुंदरी ने पूछा।

"वैसे ही।"

"कुछ भी लाभ नहीं?"

"नहीं।"

सुंदरी पर जैसे लकवा गिर पड़ा हो। पास की एक कुर्सी में वह

माथा पकड़कर बैठ गई। उसने कमरे में देखा। एक एटेची खुला हुआ पड़ा है। कुछ धुले हुए कपड़ो पर कुछ पुस्तकें रक्खी थीं उसमें। सुंदरी ने कहा—"हठ नहीं करते बेटी। हम तुम्हारे शत्रु नहीं हैं।"

"नहीं माँ, कुछ भी हठ नही कर रही हूँ।"

"पिताजी का आ जाने दो। एक-आध दिन में वह फिर पहाड़ पर जाने की इच्छा रखते हैं। उनकी अनुमति होने पर उनक साथ ही चली जाना।"

धीरज हुआ कुछ लीला को।

"एक-दो दिन के लिए तब भी तुम वहाँ चली जाती। पर ज्योतिषीजी से पूछना पड़ेगा, कोई उपाय वह बता देते तो।"

"संकट के समय सब कुछ करना पड़ता है माँ!" लीला फिर निराश हो उठी—"एक-दो दिन के लिए जाने से क्या होगा? मैं चाहती हूँ, मैं वही रहकर उनकी सेवा करूँ। पिताजी डॉक्टरों की अनुमति के विरुद्ध कभी मेरा पक्ष न लेंगे।"

रात को जब मिस जगदंबिका गोपाल बाबू के यहाँ पहुँची, तो उन्होंने लीला को यात्रा के लिए तैयार नही पाया। उसके माता-पिता दोनो लीला के कमरे में थे। ऐसा ध्वनित हुआ था बाहर मिस जगदंबिका को जैसे वे लीला को कुछ समझा रहे थे। लज्जा और शील से दबी हुई वह कन्या उनकी इच्छा पर विनत पड़ी ज्ञात हुई।

जगदंबिका के प्रवेश पर गोपाल बाबू ने कहा—"लो तुम्हारी आचार्या आ गई हैं। इनके साथ जाकर घूम आओ कहीं। मन बहल जायगा।"

जगदंबिका ने पूछा—"पत्र आया कोई?"

गोपाल बाबू ने कहा—"लीला के ही पास आया है।"

"कैसा स्वास्थ है उनका?

"मैंने नहीं पढ़ा पत्र।" कहकर गोपाल बाबू उठ खड़े हुए।

"लीला को पहाड़ भेज दीजिए न ?" जगदंबिका ने कहा।

"कैसे भेज दूँ ? डॉक्टरों की राय के ख़िलाफ़ ? क्या कहेंगे वे ? मैं कोई कंटक क्यों अपने सिर पर लूँ ? कल को जाने क्या हो जाय। इसके सास-ससुर फिर मेरे ही सिर पर निमित्त थाप देंगे।"

जगदंबिका चुपचाप लीला की ओर देखने लगी।

गोपाल बाबू कहते जा रहे थे—"कल को मैं फिर पहाड़ जा रहा हूँ। डॉक्टरों से सलाह करूँगा। खोजूँगा कोई मार्ग जिससे लीला जा सके वहाँ।"

सुंदरी ने कहा—"शुक्रास्त ?"

"देख लेंगे। ज्योतिषीजी कह तो रहे हैं शांति कर लेंगे। हो सकती है।"

जगदंबिका ने कहा—"चलो लीला।"

लीला ने माता की ओर देखा। वह जगदंबिका के साथ घूमने चली गई, मोटर पर।

शहर से दूर गोमती के किनारे पहुँच कर लीला ने जगदंबिका को अपने पति का पत्र दिया। मोटर रोककर उसने पूरा पत्र पढ़कर लौटाते हुए कहा—"बड़ी करुणा से भरा हुआ पत्र है यह।"

"क्या करूँ, कुछ बताओ।"

"क्या बताऊँ ? स्थिति अत्यंत जटिल है।"

"आप क्या करतीं ऐसी दशा में ?"

"मैं चली जाती, सब बाधाओं को तोड़कर भी।"

"अभी गाड़ी का समय होगा। मुझे पहुँचा दो स्टेशन। एक-दो कंबल, कुछ रुपया ले आती हूँ घर से।"

"माता-पिता से छिपाकर ?"

"हाँ।"

"वहाँ क्या करोगी ? वे लोग जाने न देंगे तुम्हें बीमार के पास।"

"मैं अनुनय-विनय कर लूँगी। न बताऊँगी मैं बीमार की स्त्री हूँ।

"फिर क्या कहोगी ?"

"कह दूँगी उनकी स्त्री की मित्र हूँ।"

"नहीं। मेरा कहा मानो। कल बाबू साहब जा ही रहे हैं। उनके साथ चली जाओ। डॉक्टर यदि मान जायँ तो अपने पति से भेंट कर लेना, नहीं तो लौट आना।"

बड़ी निराशा-भरी साँस ली लीला ने। स्पष्ट हुआ, मिस जगदंबिका की बात उसके गड़ी नहीं।

"तुम पढ़ी-लिखी हो। अपने संरक्षकों के अनुशासन में रहना ही विद्या का चिह्न है। उनकी आज्ञा के विरुद्ध जब कोई विचार तुम्हारे मन में उदय हो, मेरा विश्वास है, तुम उसको ठहरने न दोगी।" कुमारी ने कहा।

लीला ने फिर एक दीर्घ साँस ली। जगदंबिका उसकी गहराई में अन्यथा विचार करने लगी।

कुछ क्षण दोनों चुपचाप रह गए। धीर-शांत भाव से गोमती बह रही थी, अँधेरी रात में तारिकाएँ चमक रही थीं। जगदंबिका ने शांति तोड़ी—"चलो, चलें न ?"

"नहीं, अभी नहीं। यह एकांत बड़ा प्रिय प्रतीत हो रहा है। आप चली जाँय, मैं कुछ देर बिलकुल ही अकेली यहाँ पर रहना चाहती हूँ।"

"यह भी कोई बात हुई तुम्हारी।"

"हानि ही क्या है इसमें ? मै थोड़ी ही देर में ताँगा कर चली जाऊँगी। यह अशांत लहरें बड़ी सुखद जान पड़ती है। इनकी गहराई और भी अधिक।"

"तुम्हारा मन ठिकाने नहीं है लीला ! तुम्हें अकेला न छोड़ूँगी मैं।"

"क्या बजा है ?" लीला ने पूछा।

"नौ बजने को पाँच मिनट।"

"चलिए फिर लौट चलूँ।"

हज़रतगंज के चौराहे पर आकर लीला ने कहा—"अब उतार दीजिए मुझे। चली जाऊँगी।"

कुमारी जगदंबिका न मानी—"थोड़ी ही दूर तो और है।"

कोठी के फाटक पर फिर लीला ने कहा—"कौन फाटक खुलवावे। रोक दीजिए यहीं पर।"

"खुला ही हुआ है फाटक।" कहती हुई जगदंबिका मोटर को लिए पोर्च पर ठहरी।

लीला ने जल्दी से उतरकर ज्योंही जगदंबिका को विदा करने के लिए हाथ जोड़ने चाहे, उसने देखा उसका हाथ तेल की चाबी पर था। पूछा उसने—"क्यों?"

"चलो, कुछ देर बैठूँगी तुम्हारे साथ। तुम्हारा मन ठिकाने नहीं है।"

लीला को जगदंबिका का रुक जाना बहुत अखरा। दोनों ने भीतर प्रवेश किया। गोपाल बाबू कहीं बाहर गए हुए थे। सुंदरी रसोई-घर में थी। जगदंबिका लीला के अलक्ष्य में कुछ कहना चाहती थी उसकी माता से। "कैसे अवसर मिलेगा?"

अपने कमरे में आकर लीला ने कहा—"मैं शौच जाऊँगी। नहाने की भी इच्छा है।" उसने कपड़े बदलने का नाट्य किया।

जगदंबिका ने कहा—"माताजी रसोई-घर में होगी। मैं उनके पास बैठती हूँ तबतक।"

"हाँ, हाँ।"

जगदंबिका सुंदरी के पास गई, बोली बातों के सिलसिले में—"लीला का मन अस्थिर है। ऐसे उद्वेग में कभी-कभी अविचार उत्पन्न हो जाता है। उस पर निरंतर दृष्टि रखना और उसको आश्वासन देते रहने की आवश्यकता है।"

"हाँ।"

"पहाड़ पर जाने के लिए कुछ कह रही थी ?"

"विशेष कुछ नहीं, व्यग्र है, वहाँ जाने के लिए।"

"मैं भी चाहती थी, चली जाती। पर वह डॉक्टरों की इच्छा के विरुद्ध कुछ करने के लिए तैयार नहीं। ज्योतिषीजी आए थे वह कह रहे थे जा सकती है। कहाँ है लीला ?"

"स्नानागार में।"

रात को एकाएक वसंत को यह विचार आया कि गोपाल बाबू के यहाँ जाकर लीला के पति की स्वास्थ्य-कामना भी कर आऊँ और लीला की गुड़िया भी वापस दे आऊँ। अपने माता-पिता से वह कष्टकर समाचार सुनने के बाद आज ही प्रमोद ने भी उससे कहा था कि बीमार की दशा बहुत चिंता-जनक है।

वह चला।

बँगले में पहुँचकर उसने बैठक में प्रकाश नहीं देखा। अनुमान किया, गोपाल बाबू अभी घूमने से नहीं लौटे। लीला का कमरा उज्ज्वल था। वसंत के मन में कोई विकार नहीं था। उसने निर्भय होकर लीला का द्वार खटखटाया—"लीला ! लीला !"

उसने कुछ देर प्रतीक्षा की। पोर्च में खड़ी मोटर को देखकर पहचाना—"यह तो मिस जगदंबिका की कार है।"

पार्श्व के मार्ग से उसे जगदंबिका आती हुई दिखाई पड़ी, उनके हाथ में एक चिट थी। "नमस्ते।"

"वसंत ! तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो उठे हो।"

वसंत सकुचाकर बोला—"तुमने कई महाद्वीपों की सैर की है। तुम्हारे प्रयोग किए शब्द का अर्थ तुम्हारी कल्पना के समान-व्यापक ही होगा।"

"कई दिन से तुमसे कुछ देर बातें करने की इच्छा थी।

"बैठिए न फिर।"

"कहाँ से !" हाथ की चिट दिखाते हुए उसने कहा—"कई संबंधी

आए हैं, अतिथि होकर मेरे यहाँ। यह उनका पुर्ज़ा दे गया है नौकर। जा रही हूँ इसी से उनके प्रबंध के लिए। जल्दी में हूँ, क्षमा करना इस समय।" वह अपनी कार में जा बैठी।

"लीला कहाँ है?"

"स्नानागार में। बड़ी देर हो गई उसे वहाँ। अब आती ही होगी। उसके पति बहुत बीमार हैं। भगवान् उन्हें शीघ्र आरोग्य कर दें। नमस्ते।" जगदंबिका की मोटर घहराती हुई चली गई।

सुंदरी जगदंबिका को पहुँचाने आ रही थी। किसी को वहाँ खड़ा देखकर लौट गई। जगदंबिका को उसके साथ बातें करते सुन वह रुककर कोने से उनकी बातें सुनने लगी। "अरे यह तो वसंत है।"

जगदंबिका के जाने के बाद नौकर ने आकर वसंत से कहा—माँजी कह रही हैं अगर कोई असुविधा नहीं तो यहीं भीतर आ जाओ।"

सुंदरी को चारबाग़ के वे सब दिन एक साथ ही याद आ गए। "वसंत को बहुत अच्छा समझकर फिर हमने क्यों बहुत बुरा समझा होगा। बड़ा विनम्र लड़का है। उस दिन उतना अपमान इस कोठी में पाकर भी यह आज यहाँ आया है। निःसंदेह लीला के पति की कुशल जानने के लिए।"

"चलो मैं आता हूँ जूता खोलकर।" वसंत ने कहा। वह जूता खोलने लगा।

नौकर दौड़ा-दौड़ा फिर आया—"कोई आवश्यकता नहीं है जूता खोलने की, कह रही हैं।"

"खोल ही चुका हूँ अब।" एक जूता खोल चुका था वसंत तब तक। दूसरा भी खोलकर वह भीतर चला गया, पिछवाड़े के मार्ग से रसोई-घर में, गुड़िया रूमाल में बँधी उसके हाथ में थी। उसे वह बरामदे के एक खंभे की आड़ में वहीं रख गया।

"आओ बेटा, तुम कोई बाहर के थोड़े हो।"

वसंत ने सुंदरी के पैर छुए। नौकर ने लाकर एक कुर्सी रख दी

थी। वसंत उस पर बैठ गया—"कैसा है उनका स्वास्थ्य अब पहाड़ पर ?"

"हाँ बेटा, बड़े कष्ट में हैं हम लोग। डॉक्टरों का कहना है कि इलाज कराने में देर हो गई। बीमारी बहुत बढ़ चुकी है। परिश्रम कर रहे हैं वह। भगवान् के हाथ में है सब कुछ। घर भी गए थे अपने ? माता-पिता से भेंट की ?"

"हाँ।"

"अब तो रुष्ट नहीं है वे तुमसे ?"

"नहीं।"

"सुना है तुमने जूते बनाने का काम छोड़ दिया है ?"

"हाँ बहुत बड़े अंश में। लीला कहाँ है ?"

"नहा रही है। क्या कहना है उससे ?"

"विशेष कुछ नहीं।"

"बैठो फिर जल्दी क्या है। दो-चार बातें धीरज की कह जाना उससे। वह भी आ जावेगी, उनसे भी भेंट हो जावेगी।" पूरी बनाते-बनाते सुंदरी ने कहा—

"अच्छी बात है।"

"खाना खा लो, तबतक। देर हो गई मुझे आज, ऐसा ही हो गया।"

"मैं खाना खाकर ही आया हूँ। बहुत दिन से सोच रहा था यहाँ आने को।"

"बड़ी देर हो गई उसे स्नानागार में।" सुंदरी ने नौकर को बुलाया—"नहा चुकी लीला।"

नौकर ने उत्तर दिया—"नहीं।"

"बिना देखे ही उत्तर दे दिया। जा देख।"

नौकर गया।

जैक अपने मुँह में दबाए कुछ ले आया था। वह आँगन में उसे

पंजों से दबाकर मुख से फाड़ रहा था ! वसंत का ध्यान उधर गया। उसने कुछ पहचाना, वह भागकर कुत्ते के समीप गया।

"क्या है ?" सुंदरी ने पूछा।

वसंत ने देखा, कुत्ता उसकी गुड़िया उठा लाया था और उसने चीरकर उसके कई टुकड़े कर डाले थे। गहरी निराशा वसंत के मुख पर छप गई।

सुंदरी ने फिर पूछा—"क्या है वसंत ?"

"कुछ नहीं। मैंने समझा था यह किसी चूहे को पकड़कर ले आया है।"

नौकर ने आकर कहा—"अभी नहा ही रही हैं।"

"कैसा नहा रही हैं ! बड़ी देर हो गई।" सुंदरी ने पूरी बेलते हुए कहा।

अंतर में बड़ी निराशा लेकर वसंत फिर अपनी कुर्सी पर बैठ गया, आकर।

सुंदरी ने जल्दी-जल्दी पूरियाँ उतारकर रख दीं। वह उठी, उसने कहा—"आओ वसंत, चलो बैठक में।"

दोनों चले। वसंत को मार्ग में ही छोड़कर सुंदरी लीला के कमरे में गई। उसी से लगा हुआ स्नानागार था। दोनों जगह दीपक जल रहे थे। सुंदरी ने स्नानागार का द्वार खटखटाकर पुकारा—"लीला ! लीला !"

कोई उत्तर न मिला। सुंदरी सिर से पैर तक काँप उठी। उसने और भी स्वर के स्पंदन तीव्रतर किए—"लीला ! लीला !"

सर्वत्र शांति वही ! कमरे की दीवाल की घड़ी में का लटकन महा काल की चाल में ताल दे रहा था। सुंदरी ने घबराकर पुकारा—"वसंत ! वसंत !" उसने नौकर को भी बुलाया।

"लीला नहीं नहा रही है वसंत !"

"कहीं और गई होगी माँजी। ऐसे विकल हो जाने की बात ही

क्या है ?"

"उसके कहीं जाने का यह समय नहीं।" वह दौड़कर स्नानागार के बाहरी द्वार पर जा पहुँची।

वसंत और नौकर दोनों ने उसका अनुसरण किया। सुंदरी ने द्वार पर हाथ रक्खा उसे खटखटाने को। द्वार भीतर की ओर खुल गया, वह गिरते-गिरते बची ! लीला नहीं थी वहाँ !

उसका अंचल उसके अधिकार से च्युत हो गया था, उसकी चिंता ही नहीं की उसने, वह हाते में चारो ओर फिर आई। पुकारा उसने—"लीला ! लीला !"

कहीं से कुछ उत्तर नहीं मिला ! उसने नौकर से कहा—"जा देख नौकर-घरों की ओर देख। वह किसी नौकर को बुलाने गई हो !"

नौकर गया उधर।

"नहीं वह वहाँ भी नहीं गई है वसंत ! मिस जगदंबिका मुझे सावधान भी कर गई थी। परंतु मैं मूढ़, न समझ सकी। लीला चली गई वसंत !"

"कहाँ ? बताओ मैं बुला लाऊँगा उसे।"

"कहाँ बताऊँ ?" सुंदरी रोने लगी—"उसे यह विश्वास हो गया था कि उसका पति अब स्वस्थ नहीं हो सकता, इसका उसे भारी दुःख था। वह अपने पति के निकट पहाड़ पर जाने के लिए कितनी आकुल थी, हमने उसे जाने नहीं दिया !"

"आ जायगी वह अभी।"

"मिस जगदंबिका के साथ तो नहीं चली गई ?"

"नहीं।"

नौकर ने आकर कहा—"नहीं हैं वहाँ भी।"

"जा माली को, चपरासी को भेज। दोनों दो तांगे कर जावें। साहब जहाँ भी मिलें उन्हें तुरंत ही बुला लावें।" कहकर सुंदरी फिर स्नानागार के भीतर गई। वहाँ से वह द्वार खोल लीला के कमरे में गई।

वसंत उसका अनुसरण कर रहा था, बोला—"आश्चर्य है।" एक सघन आसन्न दुख की छाया उसे भी घेरने लगी थी।

"जाओ वसंत देखो, तुम उसके बाल-सखा हो। देखो जाओ, उसे समझाकर बुला लाओ। वह तुम्हारा कहना मान जायगी।"

"कहाँ जाऊँ?"

सुंदरी ने सोचा कुछ—"दौड़ो, गोमती की ओर—"

"गोमती की ओर? कहाँ?"

"लोहे के पुल पर। दौड़ो वसंत वह नहीं पहुँची अभी वहाँ तक। दौड़ो वसंत! उसे बचाकर ला दो वसंत!" सुंदरी अत्यंत विकल होकर रोने लगी। उसकी आँखें रक्तिम हो गईं।

"नहीं माँ, लीला पढ़ी-लिखी समझदार है, वह ऐसे हीन विचार की नहीं।" वसंत की दृष्टि लीला की मेज़ पर पेपरवेट से दबाए गए एक पत्र पर पड़ी। "यह क्या है?" वसंत ने उसे उठाया—"लीला लिखकर रख गई है क्या कुछ?"

"क्या लिखा है?"

वसंत ने पत्र उठाकर पढ़ा ज़ोर से—"प्रिय माता-पिता, आप अकारण ही शास्त्र और साइंस के अंधविश्वासों के भय मुझे रोक रहे थे। मैं पहाड़ पर जा रही हूँ, अपने पति के पास। कोई चिंता न होनी चाहिए मेरी। विश्वास है पूरा, मैं इसी गाड़ी को पकड़ लूँगी, अभी। आपकी आज्ञाकारिणी, लीला।"

सुंदरी को कुछ धीरज हुआ—"वह पहाड़ को चली गई। पर अकेले? गाड़ी कितने बजे छूटती है?"

"पौने दस बजे रात।"

दोनो ने घड़ी की ओर देखा। दस बजने में पंद्रह मिनट थे।

"मिल गई होगी गाड़ी अवश्य। अभी छूट रही होगी।" वसंत ने कहा।

"यदि न मिली हो। न पहुँच सकी हो समय पर, न मिल सकी हो

कोई सवारी सरलता से ?"

"तो वह लौट आवेगी यहाँ।" वसंत ने कहा।

"नहीं, तुम जाओ वसंत! जो भी सवारी मिले। यदि वह न गई हो तो उसे बुला लाना।" सुंदरी ने ज़बर्दस्ती वसंत की जेब में पाँच रुपए का एक नोट रख दिया।

वसंत भागा रेल के स्टेशन की ओर। सौभाग्य से वह चौराहे पर एक मोटर को रोक लेने मे समर्थ हुआ। अकेला ड्राइवर ही था उसमें। उसने कहा—"बहुत आवश्यक काम है, अधिक बातों का समय नहीं, जल्दी-से-जल्दी रेल के स्टेशन पहुँचा दो।" उसने वह पाँच रुपए का नोट ड्राइवर की जेब मे रक्खा और द्वार खोलकर बैठ गया, मोटर के भीतर।

एक कुली से पूछा वसंत ने—"गाड़ी आ गई चारबाग़ से ?"

"नहीं, अब आ रही है। सिगनल गिरा है अभी। लेट है आज।"

वसंत स्टेशन के भीतर चला गया और बड़ी घबराहट से गाड़ी की प्रतीक्षा करने लगा। गाड़ी आई। वसंत ने तमाम डिब्बे ढूँढ़े। लीला का पता नहीं।

उसने कुछ विचारकर एक डिब्बे का द्वार खोलना चाहा। किसी ने पुकारा—"यह स्त्रियो का डिब्बा है।"

"मुझे ज्ञात है।" वसंत ने डिब्बा खोला। मुँह ढके हुए, एक कोने में सिमटे उसने किसी को देखा। दो स्त्रिये और दो उनके बालक और भी थे उसमें। हठात् वसंत ने पुकारा—"लीला!"

कुछ उत्तर नहीं मिला उसे।

वसंत ने फिर पुकारा—"लीला!"

वह लीला ही थी। अब अधिक छिपकर रहना उसे ठीक न जान पड़ा। वह घूँघट काढ़े हुए द्वार के पास आई धीरे-धीरे, उसने कहा—"तुमने पहचान लिया मुझे ?"

"हाँ।"

"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।"

"नहीं वसंत।"

"मार्ग में कोई कष्ट होगा।"

"कुछ नहीं। साथ की एक स्त्री पहाड़ ही को जा रही है।"

न जाने कितनी स्मृतियाँ वसंत के उमड़ पड़ीं एक साथ। लीला के मुख ढके रहने पर भी वसंत ने उसके स्वर में अनुमान लगाया वह आर्द्र था। उसने विचार किया, धन हमारे लिए सुख नहीं मोल ले सकता। करुणा से भर उठा वसंत लीला के लिए। "मुझे तुम्हारी माता ने भेजा है।"

"मैं सोच रही थी तुम कैसे आ गए। तुमने मेरा कौतूहल दूर किया।"

"लीला!" वसत मूक हो गया।

"हाँ वसंत!"

"मैं चलूँगा ही।"

"नहीं वसंत, किसी प्रकार नहीं। लोग क्या कहेंगे?"

"तुम्हें विश्वास नहीं है मेरा। मुझे है। मैं इस दीर्घ यात्रा में तुम्हें अकेला न छोड़ दूँगा। माता इस पर अप्रसन्न न होंगी।"

"नहीं वसंत मेरा मन नहीं कह रहा है। सोचती हूँ मैं भी इसमें कोई हानि नहीं है। फिर भी, फिर भी—नहीं वसंत, तुम्हें मेरा इस अकेले में साथ करना किसी प्रकार उचित नहीं है। मैं दोनों पार्श्वों में विपत्ति की घिरी हुई जा रही हूँ। तुम उसे और भी बढ़ा देने के कारण न बनोगे।" उसने घूँघट से वसंत को देखा।

बहुत दिनों बाद आज उसने लीला को देखा—ऐसे करुण एकांत में। वह दया से द्रवीभूत हो उठा—"अपना सर्वस्व, है ही क्या मेरे पास? जीवन? हाँ उसे किसी को देकर भी यदि लीला का कष्ट दूर हो जाय तो मैं प्रस्तुत हो जाता।" खिड़की पर का लोहा पकड़कर

वसंत सोच रहा था।

"जाओ वसंत।" लीला ने फिर मद्र आग्रह किया।

वसंत ने फिर लीला को देखा, वह कुछ कह न सका।

"माता और पिताजी से कह देना—"कोई चिंता की बात नहीं है।"

"कितने दिन में वापस आओगी ?"

"भगवान् के हाथ है।"

"मार्ग-व्यय है तुम्हारे पास ?"

"हाँ।"

"नहीं तो—"

"अब हो गया। वसत, जाओ गाड़ी छूटना चाहती है।"

"देर है अभी। खाना ?'

"खाकर आई हूँ।"

"ओढ़ने को कुछ ?"

"है।"

वसत शंकित होकर गाड़ी के भीतर देखने लगा।

"उस छोटे-से अटेची में एक पशमीना है। अब हो गया वसंत। मेरा जी अच्छा नहीं है।"

"तुम बैठ जाओ अपनी जगह पर लीला !"

लीला अपनी जगह पर फिर पूर्ववत् सिमटकर बैठ गई।

गाड़ी चली। जब उसके अंत का भाग वसंत के निकट से जाने लगा तो उसे एकाएक कुछ विचार हुआ। उसने एक डिब्बे की रेलिंग पकड़ने को हाथ बढ़ाया। गार्ड पीछे ही खड़ा था। उसका हाथ खींच लिया उसने—"गिर पड़ोगे बाबू, चाल तेज़ हो गई गाड़ी की।

वसत हक्का-बक्का-सा खड़ा रह गया प्लैटफ़ॉर्म पर।

चिंता से व्याकुल गोपाल बाबू और सुंदरी को जाकर वसंत ने लीला के समाचार सुनाकर कुछ शांति दी। लीला चली गई,

गोपाल बाबू इस पर इतने क्षुभित नहीं हुए जितना उसके अकेले जाने पर।

"वहीं तक का साथ मिल गया है उसे एक भद्र महिला का।"

गोपाल बाबू ने अपने ड्राइवर को बुलाया और उसी समय रवाना हो गए पहाड़ को। जाते समय वसत से वही रह जाने का आग्रह किया उन्होंने। वही रह गया वह।

पहाड़ पर बीमार की दशा दो-तीन दिन के भीतर बहुत गिर गई। डॉक्टर निराश हो गए। उन्होने कहा उसके पिता से—"बीमार की स्त्री को बुला दो।"

बीमार की माता ने कहा पति से—"शुक्रास्त है आजकल। कैसे बुलाने को कहते हो?"

यह उस दिन की बात है जिस रात को लीला ने लखनऊ छोड़ा था, पहाड़ के लिए।

डॉक्टरों ने बीमार के अच्छे हो जाने की सब आशा छोड़ दी थी। उतनी निराशा की ध्वनि से उन्होने कहा नहीं लीला के ससुर से। ससुर ने कोई भी निराशा का भाव प्रकट नहीं किया अपनी स्त्री से।

"कुछ ही दिन तो महीने के शेष रह गए हैं। उतना और रुक जावे कि मन में कोई व्यर्थ का भ्रम न उपजे।"

"डॉक्टर कह रहे हैं।"

"क्यों अभी कल तक तो वे उसे बुलाने के पक्ष में नहीं थे।"

"कुछ सोचा होगा अब।"

पत्नी के प्राण काँप उठे—"कैसा है मेरा बेटा! क्या कहते हैं डॉक्टर?"

"कौन कह सकता है? कौन जानता है?"

वह और भी निराश हो उठी—"अब अच्छा न होगा वह?" रोने लगी वह।

"भगवान् रूठ गए हैं हम पर। परसों जब से उसने रक्त-वमन

किया है, मैं हताश हो उठी हूँ। किसी और डॉक्टर का इलाज कराते तो कैसा होता?"

"जो उचित जान पड़ा, वही किया है। मैंने पानी की तरह रुपया बहाया है लड़के की बीमारी में। तुम्हें यह एक क्षण को भी नहीं सोचना चाहिए कि धन के लोभ से हमने कोई बात रहने दी हो। यहाँ आने से पहले मैं उसे यूरोप ले जाकर उसका इलाज कराने को भी तैयार हो गया था।"

"अब?"

"अब इतनी लंबी यात्रा संभव है क्या?"

शाम को जब माता बीमार के समीप पहुँची। उसने उसके सिर पर हाथ रखकर धीमे स्वर में पुकारा—"बेटा!"

बीमार ने बड़ी कठिनता से आँखें खोलीं। ऐसा जान पड़ा, जैसे बहुत बड़ा भार उसकी पलकों पर रख दिया गया हो।

"ठीक हो जाओगे बेटा।"

"हूँ।" निराशा-भरी साँस से बीमार बोला। उसने मुख खोला।

कुछ दूध जब उसके मुँह में डालने को ले गए तो उसने मुँह बंद कर दिया। कुछ देर बाद फिर उसने मुख खोला। जल लाए। एक चम्मच पी उसने कहा—"लीला, नहीं आई?"

रातभर में बीमार की हालत एकदम बहुत गिर गई। उसने रात में कई बार रक्त-वमन किया और उसके पेट से भी बहुत रक्त निकला। वह कुछ बोल रहा था। सुबह फिर उसके शब्द भी टूट-टूटकर निकल रहे थे। उसने टूटे-फूटे शब्दों में फिर कहा—"लीला नहीं आई?"

अब विज्ञान का निषेध और शास्त्र की आज्ञा सब तोड़ देने पड़े! बीमार के पिता ने गोपाल बाबू को तार दिया कि लीला को फ़ौरन् ही भेज दें। लड़के की अवस्था अत्यंत चिंता-जनक है।

लीला पहाड़ पर पहुँच गई। दोपहर का समय बीत चुका था। मार्ग के श्रम और दूरी को उसने पुष्प के समान अपने ऊपर लिया

था। वह साहस के साथ वहाँ जा पहुँची जहाँ उसके पति थे। बहुत अधिक उसे पूछना नहीं पड़ा मार्ग में। जैसे किसी डोरे में बँधी हुई वह खिंची जा रही थी।

वह अपने मन में समझ रही थी कोई रोक नहीं सकता मुझे। किसी ने रोका नहीं उसे। वह तीर के वेग से अपने पति के निकट पहुँच गई। जो कुछ देखा उसने वहाँ पर, उसे समझ पछाड़ खाकर अपने पति के पैरो पर गिर पड़ी।

सास ने उसे उठाया—"रो मत बेटी, इतनी अधीर न हो"

"लीला आ गई!" बीमार से कहा गया।

उसने आँखे खोलीं।

"लीला आ गई।" लीला उसके बिलकुल आँख के निकट लाई गई।

"लीला नहीं है यह।" बहुत अस्पष्ट शब्दो में उसने कहा।

"मैं ही हूँ लीला! नहीं पहचानते मुझे?"

"नही।" बीमार ने आँखें बंद कर लीं।

लीला ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। डॉक्टरों ने उसे पकड़कर बाहर ले जाने को कहा—"रोओ मत, इससे बीमार को बहुत कष्ट पहुँच रहा है।"

लीला चुप हुई। वह फिर बीमार के सिरहाने आई। बोली—"मैं आ गई हूँ। नहीं पहचानते?"

बीमार ने फिर आँखे नहीं खोलीं। वह चेतनाशून्य हो गया, उसका हार्ट फ़ेल हो गया।

लीला पर जैसे बिजली गिर पड़ी स्वच्छ तारिकाओं से जड़े आकाश से। वह सारा दृश्य उसे एक नाटक की भाँति प्रतीत हुआ, दुःखांत, जिसकी मुख्य नायिका की भूमिका मिली थी उसे।

गोपाल बाबू की मोटर राह में ख़राब हो गई। वह उस दिन तीसरे पहर वहाँ पहुँचे।

चौथा परिच्छेद

रंग का वैराग्य

एक ओर समय की वज्र-कठोरता है तो दूसरे पक्ष में उसी में हमारे क्षतो को भर देने का अमृत भी। एक के बाद दूसरी आशा की लड़ियाँ गूँथ गूँथ कर वह हमारे वियोग की खाई को भरने लगता है। पति की केवल स्मृति पर ही जीवित रहकर लीला ने विचार किया, जीवन बीत सकता है, कौन-सी बड़ी दीर्घ अवधि है इसकी। वह अपने ससुराल ही में थी। वहीं शेष दिन बिता देने का निश्चय था उसका।

आभास धीरे-धीरे मिला उसे। अंत में वह समझ गई बंधु-बांधवों में वह बहिष्कृत हैं। उसकी छाया में कलुष है, उसके दर्शन में अमंगल और उसके स्पर्श मे परिताप। गृहस्थ के मंगलकार्यों में उसकी दृष्टि पड़ने नहीं दी जाती थी। नव विवाहिता वर-वधू पर से उसकी छाया बचाई जाती थी। अंत में उसने यह भी सुना कि उसके पति की मृत्यु की मूल कारण वही है। धीरे-धीरे परोक्ष की सब बाते उसके सामने आईं।

जो भी व्रत-नियम उसे बताए गए थे उनमें श्रद्धा थी उसकी। सब पूर्ण कर कुछ समय वह साहित्य-चिंता में बिताती थी। जो सहन नहीं हुआ उसके ससुरालवालों को। अंत में लीला को गोपाल बाबू लखनऊ ही बुला ले गए।

लीला के उस दयनीय जीवन को देख-देखकर गोपाल बाबू के मन के सामाजिक भावो में बड़ी उथल-पुथल मचने लगी। दो विरोधी भाव उनके मन में रात-दिन कलह करने लगे। कभी एक विजयी होता, कभी दूसरा। अंत में दूसरा भाव ही प्रबल हुआ।

उन्होंने सुंदरी से कहा—"लीला की दारुण यंत्रणा दिन-दिन

असह्य होती जा रही है।"

"भाग्य की रेखा, भगवान् का कोप।"

"केवल इतना ही सोचकर चुप रह जाना बुद्धिमत्ता नहीं है। अरे, इतना कहकर तो संसार का मूढ़-से-मूढ़ प्राणी भी अपना मन समझा लेता है।"

"फिर ?"

"कुछ बुद्धि को काम में लाना चाहिए न ?"

सुंदरी की समझ में न आया कुछ—"क्या बुद्धि का काम है यहाँ ?"

"है, निःसंदेह।" बहुत गंभीरता से गोपाल बाबू बोले।

"मैं तो नहीं समझती, फूटा हुआ भाग्य किसी से जुड़ सकता होगा।"

"पुरुष एक स्त्री के मरने पर बड़ी सरलता से दूसरा विवाह कर सकता है, और स्त्री, वह नहीं। क्यो ?"

"नियम है यही शास्त्र का, धर्म है यही समाज का।"

"पर वह मनुष्य की रचना है, भगवान् की आज्ञा नहीं।"

"मनुष्य की रचना ?"

"हाँ इसमें क्यों तुम्हें संदेह होने लगा। संसार की प्रत्येक जातियों में विधवा का विवाह प्रचलित है।"

"छोटी जातियों में।"

"हमारे शास्त्रों में विधवा के विवाह के लिए है विधान।"

"छोटी जातियों के लिए होगा।"

"युवती विधवा का विवाह न कर हम प्रकृति की एक प्रबल गति के विरोधक बनते हैं। उसके बुरे उदाहरण कभी-कभी देखने में आते हैं। उनसे मै विधवा के विवाह में पवित्रता देखता हूँ।"

"क्या मलिनता विचारों में तुम्हारे आई है। कल वसंत से तुम इसी विषय पर बातें कर रहे थे ?"

"हाँ, उससे मेरे विचार मिलते हैं।"

"उसके विचार यदि शुद्ध होते तो क्या वह चमार का काम पसंद करता ?"

"मैं भी पहले यही समझता था। उससे कई बार वाद-विवाद करने पर, उसके जीवन को देखकर मैं उसे बहुत शुद्ध समझने लगा हूँ।"

"नहीं, तुम्हें यह बातें नहीं कहनी चाहिए।"

"मुझसे उसका कष्ट नहीं देखा जाता। उसके सिवा, हमारे समाज के बहुत से नियम, पुराने पड़ गए हैं।"

"नियम भी कहीं पुराना पड़ता है ?"

"पड़ता कैसे नहीं ? वेद के काल का हिंदू क्या पौराणिक काल के समान था ? वैसा क्या बौद्धयुग में था ? वही क्या मुग़ल काल में था ? और अब, अब यदि आरंभ के आर्य हमें देखें तो कभी पहचान ही न सकें। नियम पुराना पड़ता गया और जनता का नेतृत्व न कर सकने के कारण उसकी रीति-नीति सबको बदलता गया।"

"न जाने क्या कह रहे हो तुम ? बंधु-बाधवों में तुम वैसे ही विधर्मी के नाम से प्रसिद्ध हो ?"

"क्या हो गया उनके कह देने मात्र से। साहस है उनका, जो मेरे सामने कह सकें कुछ ? जब उनमें से किसी की गाड़ी अटकती है कहीं पर, तो वे क्या गोपाल बाबू के द्वार पर माथा रगड़ने नहीं आते ? तुम जानती ही हो, तब मैं पूरी शक्ति से उनकी सहायता करता हूँ।"

"पर तुम्हारे इस विचार पर वह सहमत न होंगे।"

"सहमत तो होंगे ही। विधवा का यह जटिल प्रश्न किसके सामने नहीं है ? इसके प्रतिकार के लिए भी उनकी इच्छा है। पर साहस नहीं।"

"कुरीति के लिए कैसा साहस ?"

"मैं बताऊँगा तुम्हें सती की प्रथा थी न ?"

"हाँ, सुनती हूँ थी।"

"वह रोक दी गई, मिट गई न ?"

'सब मिलकर करे तो हो सकता है।"

"सब मिलकर ही करेंगे। पहले कोई चलावे तब न। एक-दूसरे का मुख देखता है। उनमें नेता बनने की तेजस्विता ही नहीं है।"

सुंदरी ने कुछ विचार किया। वह घबराकर बोली—"नहीं, आपको न जाने क्या हो गया है। मैं यह सब बातें नहीं सुनना चाहती।"

"वैधव्य का प्रश्न भारतवर्ष का सामाजिक कोढ़ है। उसकी औषधि देश के अनेक विचारशील सुधारकों ने ढूँढ़ निकाली है। केवल साहसी प्रयोजकों की आवश्यकता है। अपनी बिरादरी में मैं आगे बढ़ूँगा।" गोपाल बाबू कहते-कहते आगे को बढ़ने लगे। हाथ ऊँचा कर लिया था उन्होंने।

सुंदरी ने उनका हाथ पकड़ लिया—"नहीं, कदापि नहीं।"

"कोई नहीं रोक सकता मुझे। मैं फिर लीला का विवाह कर देने का विचार—"

बीच में ही सुंदरी ने कहा—"क्या कह रहे हैं आप? जातिवाले आपका बहिष्कार कर देंगे।"

"देख लूँगा उनका साहस।"

"शर्माजी से राय ली आपने इस बारे में?"

"हाँ। तुम नहीं जानतीं, वसंत ने उनके विचारों को बिलकुल उदार कर दिया है। वह कह रहे थे यदि विधवा के लिए पवित्र जीवन बिताना कठिन हो और दूसरे विवाह की वह इच्छा रखती हो, तो विवाह कर देने में कोई हानि नहीं है। शास्त्रों में इनके प्रमाण ही नहीं, अनेक उदाहरण भी हैं।"

"आप समझते हैं, लीला विवाह के लिए—नहीं, मैं इस बात को अपनी जिह्वा पर भी न रक्खूँगी।"

"उसकी सम्मति अवश्य ही ली जायगी। तुम—"

"नहीं वह कदापि तैयार न होगी। और उसे तैयार कर देना महान् पाप है।"

"एक कल्पना है यह तुम्हारी। जगत् मे उसे अंधा कर त्याग देना, इच्छाओं की ज्वाला में उसे जीवन-पर्यंत जलने के लिए छोड़ देना, अच्छा न्याय है यह तुम्हारा। तुम मूर्ख हो मैं कहूँगा फिर। तुम्हें ज्ञान ही नहीं है संसार की प्रगति किस ओर है। अनेक उच्च कुलों में विधवा विवाह चल पड़ा है।"

"हमें और लोगो से क्या मतलब? हमें अपनी बिरादरी की ओर देखना चाहिए।"

"उसके मैं तोड़ूँगा द्वार।"

"सुंदरी गोमती मे कूदकर प्राण त्याग देगी।"

"मुझे इसकी कोई चिंता नहीं। एक सुंदरी के खो जाने से यदि बीस विधवाओ के दुःख दूर होगे तो मुझे वह हानि नही व्यापेगी। मै समझ लूँगा सुंदरी किसी रोग से मर गई।"

"जगदंबिका अच्छी लड़की है। आपने उसे फिर लीला को पढ़ाने के लिए नियुक्त किया है, वह मेरे समझ में नहीं आया। उसे धार्मिक ग्रंथो के ही पढ़ने में लगाया जाता तो श्रेष्ठ था।"

"प्राइवेट परीक्षा देगी वह।"

"उसे नौकरी करनी नहीं है, फिर परीक्षा पास कर ही क्या लाभ?"

"पढ़ना-लिखना भी क्या अधार्मिक वस्तु है। कुछ उद्देश्य रखकर पढ़ा जा सकता है। इसके सिवा बिना उद्देश्य का जीवन अत्यंत भार-रूप हो जाता है। कुछ देर जगदंबिका के साथ बातें कर लेने से उसकी शून्यता में एक परिवर्तन होता है।"

"हे भगवान्! कितनी साध कितने सुख में पली मेरी लड़की, तुमने ऐसा दिन दिखाया उसे। शत्रु को भी ऐसा कष्ट न प्राप्त हो।" सुंदरी उठ गई।

लीला तिलों की गिनती कर रही थी। तुलसी के चबूतरे के पास बैठी हुई आँगन में भगवान् को भेंट देने के लिए। किसी हजार की संख्या-पूर्ति पर वह उठी। उसने माता को आता देखकर कहा—

"माँ !"

"हाँ, बेटी। देर हो गई मुझे ?"

"नहीं।"

दोनों पूजा-घर में गईं।

जगदंबिका की याद आई गोपाल बाबू को। "वह कर सकेगी यह काम। लीला पर अत्यंत स्नेह है उसका। लीला के दुःख की हमारे ही समान पीड़ा पहुँची है उसे। यहाँ उससे बातचीत न हो सकेगी। उसी के घर जाना पड़ेगा। अगले इतवार को।"

उसी दिन गोपाल बाबू ने कुमारी जगदंबिका को पत्र लिखा कि अगले इतवार को मैं तुमसे कुछ आवश्यक बातें करना चाहता हूँ। एकांत में, उचित समय जो ठीक हो सूचित करने की कृपा कीजिए।

संध्या की चाय का निमंत्रण दिया जगदंबिका ने। गोपाल बाबू ठीक समय पर पहुँच गए। उनके एकांत शब्द ने उसके मन में कुछ कौतूहल अवश्य बो दिया था। कुछ देर इधर-उधर की बातें चलने दी गोपाल बाबू ने।

जगदंबिका ने ही पहले लीला का उल्लेख किया—"इतने गों का भरा हुआ जगत् जैसे उसकी पीठ पर साँस ले रहा है।"

"और मैंने इतनी संपत्ति जमा की, किसके लिए ?"

"संपत्ति का तो कभी उपयोग हो सकता है—स्कूल खोल दीजिए किसी उपयुक्त स्थान में।"

"भगवान् कदाचित् इतने निर्दय नहीं हैं विधवा पर, जितना हमारा समाज, हम स्वयम्।"

"पर मुझे उस त्याग में, उस तन्मयता में, उस तपस्या में बड़ी पवित्रता दिखाई देती है।"

"संसार भयानक पशुओं से भरा हुआ है। वे विपथ में खींच लेने को तत्पर रहते हैं।"

"अनुभव-शून्य हृदय प्रभावित होता है केवल।"

"विकार अनुभव को भी विस्मृत कर देता है। हमारा सामाजिक इतिहास क्या इसका साक्षी नहीं है?"

"अग्नि के बीच से होकर ही मैं चल रही हूँ। संसार उँगली उठाता है मुझपर। क्या मैं उससे अजान हूँ?"

"फिर क्यो तुम ऐसे मार्ग से जा रही हो?"

"भाव का बंधन। मैंने कह दी थी अपने मन की पीड़ा आपसे। मैं उसे पीड़ा ही नहीं समझती। वह जो कुछ है—मेरा सुख है।"

"लीला भी क्या सुखी है अपने असह्य भार पर?"

"अभ्यस्त हो जाने पर हो जावेगी।"

"लेकिन उसने क्या सुख उठाया, मेरे घर में जन्म लेकर?"

"मेरा विचार है यदि लीला का पति आज जीवित होता, तो कदाचित् लीला सुखी न होती तब भी?"

"क्यों?"

"ऐसा अनुमान है मेरा। मुझे विवाह के बाद की लीला की बात-चीत स्मरण आती है।"

गोपाल बाबू ने उन बातो को जानने की कोई परवा नहीं की—"बलात् विधवा का जीवन बिता देने के लिए किसी को बाध्य कर देना, क्या समझती हो तुम?"

"हाँ, एक प्रकार का अत्याचार है वह?"

"क्या उसका प्रतिकार विधवा विवाह नहीं है?"

"है।"

"नैतिक साहस की कमी हमारे कई प्रकार के सामाजिक बुराइयों की उत्तरदाता है। मैं समझता हूँ, यदि लीला फिर विवाह के लिए तैयार हो तो, मैं साहस के साथ उसका विवाह कर देने को प्रस्तुत हूँ।"

जगदंबिका ने घबराकर पूछा—"कहाँ ?"

"कोई भी उपयुक्त वर मिल सकता है।"

"बिरादरी के बाहर ?"

"नहीं भीतर ही। मेरा उद्देश्य पवित्र है, सुधार की कामना है।"

"लीला प्रस्तुत है ?"

"मैं नहीं जानता। इसी उद्देश्य से तुम्हारे पास आया हूँ। तुम बता सकती हो ?"

"मैंने इस विचार से उससे कभी बातें ही नहीं की हैं।"

"अब कर सकती हो ?"

बड़ी असमंजस में पड़ी जगदंबिका—"क्या कहूँगी ? मुझे यह अशिष्ट प्रतीत होता है।"

"कौशलपूर्वक, धीरे-धीरे उसका दृष्टि-कोण जानकर ही आगे बढ़ना।"

"उचित है यह बात ?"

"मै उसका पिता—तुमसे कह रहा हूँ न।"

"उसकी माताजी ?"

"वह अपढ स्त्री, उसकी बुद्धि अनुदार है। रूढ़ियों की शृंखलाओं में नख से शिखा पर्यंत वंदिनी नारी। उसकी क्या आज्ञा, क्या अनुमति !"

गोपाल बाबू ने वसंत को निश्चित कर रक्खा था, लीला के वर के लिए। बड़ी सरलता से वह विचार उनके मन में उग आया। एक अवधि तक वह वसंत को लीला के वर के रूप में देख चुके थे न पहले। उनका पक्का विश्वास था कि वह वसंत और उसके माता-पिता को इस संबंध के लिए अनति काल में अनुमत कर लेंगे।

मिस जगदंबिका के मानस में यह विचार उथल-पुथल मचाने लगा। लीला पर उसका स्नेह था। जब से वह विधवा हुई है उसने और भी उसके हृदय में स्थान ले लिया है। लीला के विवाह के दिनों

में एक इच्छा उसे भी वधू बन जाने को खींच रही थी। लीला के वैधव्य के बाद विरह के माधुर्य पर, विषाद की सहचारिता पर और विराग की शांति पर ही उसने उसके साथ बातें की हैं। "वह क्या, विवाह करना चाहती है? कुछ ऐसा विचार मिलने से ही तो गोपाल बाबू ऐसा कह रहे हैं न?" कुमारी जगदंबिका ने मन में सोचा।

"बहुत बड़ी चिंता की बात है यह मेरी। तुम्हें सौंपकर कुछ चैन मिला। बाहर कहीं पर फैला देने का अभी समय नहीं। बड़े धैर्य के साथ, चार-पाँच-सात दिन में ही सही।" गोपाल बाबू ने कहा।

"माताजी से क्या कभी कुछ, विवाह के लिए इच्छा प्रकट की लीला ने?"

"नहीं।"

"यदि वह पूछतीं तो कैसा होता?"

"उसके कौशल के वश की बात ही नहीं है यह। तुम्हें भी लीला प्रिय है, तुम निःसंदेह उसका श्रेय करने में सहायक बनोगी।" गोपाल बाबू ने बड़ी नम्रता से कहा।

"हाँ, हाँ क्यों नहीं?" जगदंबिका ने कहकर सोचा—"क्या मैं यह सच बोली हूँ?"

एक बार फिर लीला के प्रति उस कर्त्तव्य की गंभीरता देकर गोपाल बाबू मिस जगदंबिका से बिदा हुए। वसंत पॉलिश की थैली लिए हुए उन्हें मार्ग में मिला। गोपाल बाबू ने मोटर रोककर कहा—"चलो वसंत हमारे घर, आवश्यक काम है एक।"

वसंत ने हँसकर कहा—"मैं पैदल ही आ जाऊँगा।"

"क्यों क्या मशीन के उपयोग की सोगंध खाई है? चरखा तो बराबर नियम से कातते हो न? वह भी तो मशीन ही है।"

"मशीन?"

"हाँ मशीन ही। जिसमें चक्र-पहिया हो वह मशीन है। हाथ-पैर, बैल-भैंस, भाप-बिजली चाहे जिससे चले वह।" हँसते हुए गोपाल बाबू ने कहा।

"मार्ग में दो-चार जगह पॉलिश करने का वादा है। आप चलिए। मैं शीघ्र आता हूँ।"

"वहाँ भी तो कई जूतों में पॉलिश करनी है।" धीरे-धीरे मोटर बढ़ाते हुए गोपाल बाबू बोले।

"हाँ।" वसंत ने फिर उनके साथ चलने की असमर्थता प्रकट की, जाते-जाते उसने सोचा—"लीला की शेष स्मृति उसे सौंपकर मैंने सोचा था, मैं उसे अपने विचार-जगत से बिलकुल बहिष्कृत कर सकूँगा। सुखपूर्वक लीला-विहीन जगत में जी सकूँगा। ऐसा नहीं हुआ। कभी जीवन की छोटी-से-छोटी घटना में हमें बड़ा गंभीर मतलब मिल जाता है। वह कुत्ता क्यों मेरी धरोहर की गुड़िया को छीन ले गया, छीनना ही कहूँगा मैं इसे। छीनकर क्यों उसने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए!" एक परिचित मकान के सामने वह खड़ा हो गया। उसने पुकार लगाई—"पॉलिशवालाऽऽ!"

कुछ देर खड़ा रहा। कोई उत्तर नहीं मिला। आगे बढ़ा—"फिर वही विचार के क्रम की धारा बही—"केवल हमारी इच्छा-शक्ति का ही खेल नहीं है। एक अदृश्य हाथ है किसी का, हमारे वश से बहुत दूर, सूत्र उसी में सँभले हैं। जितना भुला देना चाहा था उसे, उतनी ही वह सजीव हो उठी है फिर मेरी स्मृति में—पर इस बार अत्यंत ही सित और करुण वेश में!"

मार्ग में का काम पूरा कर वसंत गोपाल बाबू के यहाँ पहुँचा। उसने बरामदे पर से आवाज़ लगाई—"पॉलिशवालाऽऽ!"

गोपाल बाबू कहीं चले गए थे, जाते समय उन्होंने लीला से कहा—"वसंत के आने पर यह जूते, इन सब में पॉलिश करा लेना और यदि मैं न आ सकूँ तो मेरे आनेतक उसे रोक लेना। बैठक में

बिठा लेना।

वसंत ने इधर अनुभव किया है, गोपाल बाबू उसे लीला के साथ बातचीत करने के लिए प्रचुर उत्साह और स्वतंत्रता देने लगे हैं। लीला धीरे-धीरे उससे बातें करने लगी है। वह पुस्तक पढ़ते-पढ़ते वसंत की प्रतीक्षा कर रही थी। उसका शब्द सुनकर उठी। बाहर आई बरामदे में—"आ गए?"

"हाँ लीला, नमस्ते।" सकरुण स्वरों में वसंत ने कहा। उसकी दृष्टि में स्वच्छता थी।

"कुछ पॉलिश करनी है।"

"अच्छी बात है।" वसंत बरामदे में छाया की ओर बैठ गया। "नौकर से कह दो, वह जूते लाकर यहाँ पर रख दे।"

लीला स्वयम् ही ले आई। वसंत के पास उन्हें रखकर चुपचाप जाने लगी। वसंत ने कहा—"लीला!"

लीला जाते-जाते रुक गई। पर उसने प्रत्युत्तर में कुछ भी नहीं कहा।

"लीला! तुम्हारे साथ कुछ बातचीत करना चाहता हूँ, पर जब तुमसे भेंट होती है, भूल जाता हूँ।"

"क्या कहना है?" क्षीण स्वर में उसने कहा।

"बैठ जाओ इस कुरसी पर।"

"ठीक है ऐसे ही।"

"स्वस्थ होकर सुनने की बात है।"

लीला कुछ हिचकिचाई।

वसंत अपने काम में लग गया। "तुम्हें मेरा विश्वास नहीं है लीला!"

"क्यों?"

"उसी से तो तुम्हें कुछ संकोच हो रहा है। हम एक-दूसरे को बहुत दिनों से जानते हैं।"

लीला सिर नीचा किए बैठ गई कुरसी पर, बड़ी व्यथा को लेकर।

"न जाने क्या है वसंत के मन में!"

"निर्भय होकर बैठो लीला! भय अच्छी संपत्ति नहीं है। माथा ऊँचा करो। भाग्य के पदाघात से दलित प्राणी नहीं हो तुम।"

लीला सँभलकर बैठी। उसके अधरों में बहुत फीकी हँसी उठी।

"मृत्यु हमारे संबंध कदापि नहीं तोड़ सकती लीला!" वसंत ने आरंभ किया। "विरह और मिलन ये दोनो हमारे मन की अशुद्ध कल्पनाएँ हैं।"

"क्या है वह शुद्ध कल्पना?" धीरज हो गया था लीला को। वह सावधानी से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी।

"तुम गीता पढ़ती हो?"

"हाँ, कई बार उसे पढ़ा है।"

"उसमें कोई रहस्य मिला?"

"रहस्य?"

"हाँ। दस-बीस बार पढ़ने से न मिलेगा। उसका निरंतर पाठ करो नित्य। तुम्हारा विश्वास है उस पर?"

"उसकी महिमा की सभी ने स्तुति की है।"

"वह एक डरावनी वस्तु बना दी गई—हमारे दुर्भाग्य के दिन थे। मैं उसे संसार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानता हूँ। भारतवर्ष की सभ्यता का सब से उज्ज्वलतम नक्षत्र। उसके रहते हुए हमारा कुछ भी नहीं गया। उसके एक-एक श्लोक में एक-एक पुस्तक, उसके एक-एक शब्द में एक-एक सर्ग और उसकी एक-एक मात्रा में मानो कई-कई छंद हैं।"

"वसंत, तुम विज्ञान के विद्यार्थी हो। क्या अतिशयोक्ति नहीं कर रहे हो? तुम्हारे वाक्यों में मुझे कल्पना खेलती हुई दिखाई दे रही है।"

"तुमने गणित नहीं पढ़ा है। इसी से तुम उसे स्पष्ट-सत्य समझती हो। पर अधिक ऊँचाई प्राप्त कर लेने पर वह भी कल्पनात्मक

हो जाता है और फिर इतना सूक्ष्म कि प्रत्येक मनुष्य की कल्पना से उसका स्पर्श भी नहीं हो सकता। हमारा दुर्भाग्य है, हमने इस पश्चिमी कीमियागरी का नाम विज्ञान रक्खा है। हिंदुओं के भारतवर्ष में यह शब्द कुछ और अर्थ व्यक्त करता था।"

"क्या ?"

"पहले समय में विज्ञान का अर्थ था सब से बड़ा ज्ञान—अध्यात्म। जीव, ब्रह्म और उसके बीच की कड़ी कहो या आवरण—माया, इनकी विवेचना ही विज्ञान नाम से कही जाती थी। क्या यह हमारी मूढ़ता नहीं है हमने सायंस का नाम विज्ञान रक्खा है। इसमें संदेह नहीं है वह हमें कुछ समीप ले गया है, उसने बहुत हमारा समय बचाया है। पर ब्रह्म की ओर नहीं, माया की तरफ़।" कुछ विश्राम देकर वसंत ने कहा—"हम प्रशाखा में चले गए लीला !"

"क्या रहस्य है छिपा गीता में ?"

"वह जीवन-विज्ञान होने के अतिरिक्त उसमें मृत्यु का सत्य भी निहित है।"

"सुद्धू पंडित हमारे यहाँ आते हैं—पर्व और उत्सवों में। उनके मुख से भी मैंने सुना है कि वह नित्य एक आवृत्ति पूरी गीता-पाठ करते हैं। उनका यह नियम पिछले तीस वर्ष से जारी है। मैं उनमें कोई व्यक्तित्व नहीं पाती। वह एक फूल हमें देकर दक्षिणा ले जाते हैं। माली में और उनमें मैं अधिक भेद नहीं देखती। यदि कुछ है भी तो वह राशि का है गुण का नहीं।"

"कर्म के साथ विचार की संधि होनी आवश्यक है। केवल कर्म हो, उसके साथ विचार का असहयोग हमें पाखंडी बना देता है। केवल विचार ही आरंभिक दशा में हो नहीं सकता उसके साथ कर्म भी चाहिए कुछ-न-कुछ, यदि न होगा तो हमारे मस्तिष्क में विकृति उत्पन्न हो जावेगी।"

लीला समझी या नहीं, पर उसने कहा—"हाँ।"

"समझा कोई किसी को नहीं सकता, भाषा में उतनी शक्ति नहीं। संकेतों में कुछ है, पर उनकी जटिलता दुरूह। जल की निरंतर धारा पड़ने से जैसे कठिन पाषाण में गढ़हा पड़ जाता है, वैसे ही दूसरी चीज़ जो हमें चाहिए वह है अभ्यास, निरंतर अभ्यास।"

भीतर सुंदरी को कुछ ऐसा बोध हुआ, मानो लीला नहीं है अपने कमरे में। गई वहाँ, नहीं पाया उसे। बरामदे में बोल रहा था कोई। उधर जाकर मालूम किया उसने, वसंत है। वह लीला को वसंत के साथ ऐसी स्वतंत्रता से बातचीत करने देने के पक्ष में बिलकुल नहीं थी। नौकर को भेजा उसने तुरंत ही।

नौकर ने जाकर कहा लीला से—"माताजी बुला रही हैं आपको।"

नौकर के संदेश का मानो कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा।

"गीता का मार्ग बहुत स्पष्ट और सुलझा हुआ है।" वसंत ने कहा।

"स्पष्ट?"

"हाँ, क्योंकि वह मध्य का है। क्या किसी वस्तु का मध्य बिंदु एक सुंदर और स्पष्ट वस्तु नहीं है?"

"है।"

"बाहर मध्य बिंदु और भीतर भ्रूसंधि!"

"मैं नहीं समझी वसंत!"

"समझने के लिए आकुल पिपासा—अटूट तैल-धारा पर जलने-वाले अखंड दीप की भाँति!—समझा देगी कभी।"

लीला मन में विचारने लगी, उसे याद आया—"यह सोडा बाई-कार्ब में, टारटरिक एसिड मिलाकर झाग उठानेवाला वसंत—इतना जटिल और ऐसा गंभीर हो गया!"

"द्वैत में एक की कल्पना—उस एक का निवास है बिलकुल बीच में सूत-भर भी इधर-उधर नहीं। दुविधा में एकता! दुविधा बहुत आवश्यक है उस मध्यमई एकता के लिए। एक ओर प्रकाश दूसरे

सिरे पर अधकार—बीच में वह प्रकाश की संधि—कितनी ललित, मधुर ! एक पक्ष में मिलन दूसरे में विरह, बीच मे वह न जाने क्या ? यह भी नहीं, वह भी नही !" वसत उल्लास में भर उठा, उसका मुख चमकने लगा, हाथ का जूता भी।

लीला ने सोचा—"भावुकता बढ़ गई है वसंत की। इसी को लोग कभी-कभी इसके मस्तिष्क की विकृति कह देते हैं। मै नही समझती, यह विकृति है ?"

नौकर खड़ा ही रह गया था एक ओर को। सुंदरी ने बैठक से पुकारा—"लीला !"

वसत ने कहा—"माताजी पुकार रही हैं।"

लीला भीतर गई। सुंदरी ने कहा—"भीतर बैठो लीला ! वसंत से इस प्रकार बातचीत अशोभनीय है।"

"पिताजी कह गए हैं। वसंत को मेरे आने तक रोक रखना।"

"बैठक में बिठा दो।"

"अभी वह पॉलिश कर रहा है। कह आती हूँ उससे पिताजी का संदेश। पर वसंत को उच्छृंखल नहीं समझना चाहिए हमें। उसके बहुत ऊँचे विचार हैं।"

"कुछ भी हो। वह एक अविवाहित है। लोग विपरीत विचार करने मे विलंब नहीं लगाते।"

"तुम सुनो न यहीं से। जितना मलिन उसके हाथ का काम है उतने ही उज्ज्वल और ऊँचे उसके मन के विचार हैं। इस प्रकार एकाएक भीतर आ जाने से वह न जाने क्या सोचने लगे। आ जाऊँगी कुछ ही देर में।"

माता वहीं पर से सुनने लगी।

लीला फिर वहीं पर चली गई। फिर बातों की शृंखला जोड़ी उसने—"तुम रंग का अन्वेषण कर रहे थे वसंत !"

"हाँ।" उदासीनता से उसने उत्तर दिया।

"क्या हुआ ? मिली कुछ सफलता ?"

"अन्वेषण जारी तो है अभी। पर वह मेरा केवल अहंकार है। मैं समझता हूँ, प्रकृति के उस रहस्य को जानकर बहुत-कुछ जान लूँगा। एक के बाद दूसरे अनंत स्तरों में ढकी हुई है वह !"

"पिताजी नहीं आए अभीतक !" लीला ने कहा।

वसंत का काम समाप्ति पर था। "गीता का नित्य पाठ करने की इच्छा होती है क्या तुम्हें ?"

"हाँ।" लीला ने उत्तर दिया।

भीतर सुंदरी कहने लगी, मन में—"बाते तो अच्छा करता है वसंत। सभी इसके चरित्र की प्रशंसा करते हैं। पर, पर—"

"गीता के पाठ पर यदि द्वंद व्यापने लगे तो पाठ की अपूर्णता है। समझना पाठ के साथ-साथ मन नहीं चल रहा है। बड़ा विकट है यह मध्यम मार्ग। धीरे-धीरे ही खुल उठेगा मानस में। प्रकट होकर छिप जायगा—बिलकुल भूला जायगा, फिर स्वतः भी समय-असमय जाग उठेगा। लो मेरा कार्य समाप्त हो गया।"

लीला ने कहा—"पर पिताजी अभी नहीं आए।

"मैं प्रतीक्षा करूँगा उनकी।"

"भीतर बैठक में।"

"नही लीला यहीं पर।"

"नहीं वसंत।" लीला ने आग्रह किया।

"पॉलिशवाले को कोई बैठक में आसन नहीं देता।"

"हम उससे घृणा नहीं करते।"

"मलिन काम है न मेरा।"

"मैं साबुन ला देती हूँ। हाथ धो लो। दुराग्रह ठीक नहीं है किसी प्रकार का। तुम्हारा लक्ष्य ऊँचा है। तुम्हें फ़र्श पर, भूमि पर बैठने में संकोच नहीं है, तुम्हें कुरसी पर सोफ़े पर बैठने में भी कोई हिचक न होनी चाहिए। यदि होगी तो क्या तुम्हें मध्य का मार्ग मिला होगा ?"

"ला दो, साबुन ला दो लीला।" हँसकर वसंत ने कहा—"इस नल पर धो लूँगा हाथ।"

हाथ धोकर वसंत आया ही था कि गोपाल बाबू की कार आ पहुँची—"मुझे देर हो गई वसंत!"

"नहीं।"

दोनों ने बैठक में प्रवेश किया। लीला भीतर चली गई। कुछ देर साधारण बातचीत के अनंतर गोपाल बाबू ने कहा—"मैं तुम्हारा सिद्धांत समझा न था वसंत आरंभ में।"

वसंत ने विनम्र भाव दिखाया।

"अहंकार को दलित करने के लिए यह तुम्हारा प्रयास—बहुत उत्तम है। अहंकार ही हमारा सब से बड़ा रिपु है। लेकिन तुम्हारे इस प्रयोग को व्यवहार में लाने के लिए प्रचुर नैतिक साहस चाहिए। सब के वश की बात नहीं। मैं भी चाहता हूँ तुम्हारा-जैसा जीवन।"

"यह कोई नया सिद्धांत नहीं है। ऐसे कई प्रयोग हमारे भारतवर्ष में व्यवहृत थे पहले। पाँच-सात घरों से भिक्षा माँगकर निर्वाह करना और एक दिन से अधिक एक स्थान पर न रहना, उनमें से एक है। भिक्षा के अन्न में पवित्र कर देने की भारी शक्ति है। पर अब भिक्षा का वह उच्च आदर्श भूला गया अब तो वह माँग-रखाना है।"

"लेकिन एक बात है वसंत!" कहकर कुछ सोचा गोपाल बाबू ने।

"क्या?"

"प्रत्येक काम के लिए समय है न?"

"हाँ।"

"मैं समझता हूँ, तुम्हारी यह अवस्था नहीं है कि तुम इस प्रकार के कठिन व्रतों का पालन करो।"

"यह मन के वेगों का समय है। मन का निग्रह होना चाहिए ही सदैव। पर यदि हठ-पूर्वक उसका दमन किया जायगा तो कदाचित् उसका फल ठीक न हो।"

"हम भिन्न-भिन्न प्रकृतियों को लेकर जन्मते हैं।"

"ठीक है।"

"नियम का साथी अपवाद भी है।"

"इसे भी मैं मानता हूँ। तीसरी-चौथी अवस्था में हम प्रत्यावर्तन के पथ में हों, कितनी स्वाभाविक बात है। यही शास्त्रों का नियमन है, बहुत मनन और अनुभव और विचार से यह उद्भूत हुई।"

"मैंने सोचा है इसे भी।"

"उद्वेग शांत पड़ने लग जाते हैं और इंद्रियाँ श्रांत-शिथिल। वह सहज अवस्था है वैराग्य के साधन के लिए।"

"यदि अभी से तैयारी न की जायगी तो उस समय हमारा मन भी दुर्बल हो जाता है।"

"हाँ ऽ" गोपाल बाबू ने उत्तर में कहा—"चलो बाहर फुलवारी में, धूप में अब वैसी तीव्रता नहीं रही।"

दोनो फुलवारी में चले गए। वहाँ टहलने लगे।

"मेरा विचार है, तुम यदि विवाह कर लो तो कुछ भी हानि नहीं है।"

"मैं विवाह का विरोधी नहीं हूँ।"

"यही चाहिए भी। तुम्हारे पिताजी की भी यह एकांत इच्छा है। समय बिलकुल नहीं खोना है अब।"

वसंत को जगदंबिका की याद आई—"शांत, सुंदर और सुसंस्कृत! मेरे जीवन से समवेदना तो है उसकी। लेकिन एक ही बात है अवस्था में अंतर? बहुत अधिक न होगा।"

वसंत को चुप देखकर गोपाल बाबू ने कहा—"क्यों वसंत!"

"हाँ।"

"जिस प्रकार तुमने एक स्थिर पग बढ़ाया था रूढ़ि पर आघात करने के लिए, वैसा ही एक मार्ग मैं भी लेना चाहता हूँ।"

घबराकर वसंत ने पूछा—"कैसा?"

"एक मार्ग जिस पर न चलने से घास उग आई और वह उसमें खो गया। उसे खोल देना चाहता हूँ।"

गोपाल बाबू की ओर देखने लगा वसंत, मुख पर जिज्ञासा और कौतूहल को लिए हुए।

"मै लीला का विवाह कर देना चाहता हूँ।"

"विधवा का विवाह ?"

"हाँ, यह पहले के भारतवर्ष में प्रचलित था। प्रमाण मौजूद हैं पुराण और इतिहास मे। समाज का संस्कार तुम्हारा उद्देश्य है वसंत ! विधवा का विवाह ये शब्द तुम्हे चकित न करेंगे। तुमने ब्राह्मण होकर शूद्र का कर्म लिया, और मै उसे ठीक समझता हूँ। भारत में विधवा का जो दुःख-भरा जीवन है, वह तुम्हें द्रवित नहीं करता वसंत ?"

"करता है।"

"फिर उसके लिए जो प्रतिकार है, उसमें तुम्हें शंका है ?"

"नहीं।"

"मै तुम्हारे साथ लीला का विवाह कर देने की इच्छा करता हूँ। कहो कि तुम इसके लिए तैयार हो ?"

फिर वसत के मन में नया वसंत अपने रंग और विकास को भर देने के लिए दिखाई दिया। उसके धूसर स्वप्न की रेखाएँ फिर परिपूर्णता से चमक उठीं ! जैक के द्वारा वह टुकड़े-टुकड़े कर डाली गई गुड़िया फिर साकार हो उठी ! वह विचारने लगा—"क्या लीला सम्मत है ? होगी ही।"

"बहुत विचार की बात यह नहीं। तुम एक प्राणी की उजड़ी दुनिया बसा दोगे, तुम एक बालिका की टूटी हुई प्रतिमा फिर जोड़ दोगे।" गोपाल बाबू ने कहा।

उसे फिर याद आई, प्रतिमा की—उस गुड़िया की—"वह जुड़ सकती है।"

"कहो तैयार हूँ।"

"तैयार हूँ।" वसंत ने कहा।

"चिरंजीवी रहो। तुमने मेरे शुद्ध हृदय का आशीर्वाद प्राप्त किया है। लीला का विवाह तुम्हारे साथ ही कर देने की मेरी इच्छा थी। अज्ञानवश ठीक मार्ग नहीं सूझा मुझे। तुमने मेरे प्राणों पर का बहुत बड़ा भार हलका किया वसंत।"

"पर एक बात है।"

"क्या?" चिंता के साथ उन्होंने पूछा।

"इसमें मेरे पिताजी की अनुमति मुझसे पहले है।"

"हाँ मैं उन्हें राज़ी कर लूँगा।"

"और भी एक बात है।"

"उसे भी स्पष्ट करो।"

"आप मुझे यह पॉलिश करने का काम छोड़ देने के लिए बाध्य न करेंगे।"

"कदापि नहीं। यह एक ही प्रकार का सिद्धांत है। चलो, भीतर चलें कहकर गोपाल बाबू कोठी की ओर बढ़े।

गोपाल बाबू का अनुसरण किया वसंत ने। उसका हृदय-स्पंदन त्वरित हो उठा था—"अब लीला को किसी और दृष्टि से देखूँगा। और वह यदि इस बात को जानती है तो फिर वही संकोच ग्रहण करेगी। अब जब मैं उससे मिला था, उसे देखकर कहा जा सकता है, यह सब बातें उस पर प्रकट नहीं की गई हैं।"

दोनों बैठक में गए। गोपाल बाबू ने एक ही सोफ़े पर बैठ जाने को वसंत से कहा। वह बैठ गया। "कुछ भी संकोच करने की ज़रूरत नहीं है वसंत। जो कुछ मेरा है, वह सब तुम्हारा हुआ।"

"पर स्पष्ट बात—" वसत रुक गया।

"मैं स्पष्टता पसंद करता हूँ। तुम बिना किसी हिचक के अपने विचार प्रकट करो।"

"बात यह है, मैं बिना किसी लोभ के ही तैयार हो रहा हूँ। समाज-संस्कार की ही विशेष प्रेरणा पर। आप जानते ही हैं, मैंने अपनी तमाम आवश्यकताएँ लघुतम कर रक्खी हैं। विशाल धन-संपत्ति का मेरे पास न कोई उपयोग है न मूल्य।"

"लीला!" गोपाल बाबू ने पुकारा।

"हाँ।" लीला ने अपने कमरे में से उत्तर दिया। उसकी माता भी वहीं थीं।

"यहाँ आओ लीला! वसंत बाबू आए हैं—तुम्हारे बाल-सहचर। कुछ लाओगी नहीं इनके लिए?"

लीला उठी। सुंदरी भी। दोनो भीतर के कमरे में गए।

"शर्माजी तुम्हारे विचारो के विरोधक नहीं हैं अब। तुम्हें वहीं आकर रहना चाहिए न अब। नहीं तो यहीं आ जाओ। प्रशस्त स्थान है इस कोठी में।"

"जबतक मेरा अनुसंधान पूरा नहीं हो जाता, मैं विवश हूँ। गणेश-गंज के घर-भर में मेरे प्रयोग का आधार स्थिर है। प्रायः साल-भर से उसे वहाँ से हटा देने से मेरे मस्तिष्क में का तमाम विचार तितर-बितर हो जायगा।"

लीला दो चाँदी की थालियों में फल लेकर आई। वसंत ने देखा इस बार उसके मुख पर कुछ घूँघट का भाग खिचा हुआ था। फल रखकर लीला जाने लगी थी। "तुम भी बैठो लीला! यहीं पर।" गोपाल बाबू ने कहा।

पिता की आज्ञा टालने का स्वभाव न था लीला का।

हठात् गोपाल बाबू उठ खड़े हुए, जाने लगे—"मैं अभी आता हूँ लीला!" वह चले गए। लीला जैसे किसी व्याध के जाल में पड़ गई! वह अपनी कुरसी में अस्थिर और असुखी हो उठी!

"लीला।" कोमल-मंद्र स्वर में वसंत ने कहा।

"हाँ।" साँस बाहर छोड़ने के प्रयास में ही कुछ स्वर भर दिया था

उसने।

"तुम अभी कल्ह देर पहले विकास-पूर्वक बोल रही थी मुझसे ?"

लीला चुप रही। उसने सिर नीचा कर लिया। वह उठकर द्रुतगति से चली गई। वसत ने देखा उसने नेत्रो मे आँसू छलक उठे थे। लीला ने स्नानागार मे प्रवेश किया।

गोपाल बाबू ने सुंदरी से कहा—"अब मै तुम्हारे पैर पड़ता हूँ तुम कुछ बाधा न देना। मैंने वसंत को सम्मत कर लिया है।"

"शर्माजी कदापि इस अनरीति को पसंद न करेंगे।"

"उनकी इच्छा के विरुद्ध न होगा कुछ।"

"लीला कहाँ है ?"

"बैठक में, चलो तुम भी।"

मुख पोछती हुई चली आई लीला फिर बैठक में।

वसंत ने कहा उससे—"तुम्हें यदि कष्टकर होता है मेरा यहाँ आना तो मै न आऊँगा।"

"नहीं, ऐसा कैसे कहते हो तुम ?"

"विना कुछ कहे-सुने ही चली गईं तुम। क्या इससे तुम्हारी उपेक्षा के भाव की सूचना नहीं मिली ?"

"दुख रही है मेरी आँख सुबह से आज।"

"लोशन नहीं डाला ?" गोपाल बाबू ने पूछा।

"उससे कुछ नही हुआ।"

"सुंदरी को द्वार के पास देखकर वसंत ने उठकर उन्हे प्रणाम किया। आज्ञा माँगते हुए बोला—अब मैं जाऊँगा।"

"तुमने तो कुछ भी नहीं लिया इसमे से ?"

वसंत हँसा, उसने हाथ जोड़े और चलने लगा। गोपाल बाबू उसके साथ ही फाटक तक गए।

थैला लेकर वसंत चला गया। फाटक पर एक बार फिर गोपाल बाबू ने वसंत की कृतज्ञता स्वीकार की, खुले शब्दों में।

दूसरे दिन जब कुमारी जगदंबिका लीला को पढ़ाने को आई तो उसने एक नया ही अध्याय लीला के जीवन में खोला। लीला को यद्यपि पहले दिन पिता और वसंत की बातचीत होती देखकर कुछ आभास मिल गया था। तथापि इतना प्रकट जगदंबिका ने ही किया। "साइकिक सेंटर से कोई उत्तर नहीं आया कल भी। विदेशी डाक का दिन था और मुझे विश्वास था आवेगा।"

"अगले सप्ताह आ जावेगा।"

"तुम्हारे पति की फोटो और उनके हस्ताक्षर की पहुँच भी तो नही आई। इसी से मुझे कुछ संशय होता है कि पत्र डाक में कही खो तो नही गया। दूसरा चित्र है उनका तुम्हारे पास?"

"नहीं।"

"ससुराल में होगा?"

"हाँ।"

"पर मैं समझ रही हूँ—तुम्हारा विचार बदल रहा है।"

"कैसा?"

"तुम सुधारवादिनी होना चाहती हो।"

"कुछ और स्पष्ट कहो।"

"तुम्हारी इच्छा फिर विवाह के लिए—"

"किसने कहा?"

"सुना मैंने।"

"किसने? कहो भी तो।"

"किसी ने नहीं, मैने अनुमान लगाया है।"

"तुम छिपा रही हो। कहो।" हाथ पकड़ लिए लीला ने जगदंबिका के। आग्रह के साथ उसने कहा—"किसने कहा?"

"स्वयम् ही कह रही हूँ मैं लीला। उत्तर दो क्या मैंने सच कहा?"

"तुम्हारे विचार क्या हैं इस संबंध में?"

"अपनी ही भावना और विश्वास की बात है।"

"कोई धार्मिक हानि इसमें ?"

"कुछ नहीं।"

"सामाजिक ?"

"वह भी नहीं।"

"फिर विधवा-विवाह इतने आंदोलनों पर भी क्या प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता है ?"

"मैं नहीं जानती। तुम्हारी इच्छा है विवाह के लिए ?"

"मेरे पिता की इच्छा का कोई मूल्य हो सकता है या नहीं इस बारे में ?" लीला ने पूछा।

"हो सकता है।"

"मेरा विवाह यदि उनको सुखी कर सकेगा तो मैं अपनी इच्छा की बलि दे दूँगी उनकी आज्ञा पर।"

"यदि उनकी आज्ञा कुछ न हो, वह तुम्हारी इच्छा को देखें तो ?"

"तो तुम न कहना किसी से कि लीला फिर विवाह की अभिलाषिणी है। वसंत ने कुछ समझाया है मुझे और मेरा विश्वास उस पर हुआ है।"

"परमात्मा तुम्हें अपने निश्चय पर अचल करें।"

"क्या है मेरा निश्चय ? समुद्र के विस्तार पर पड़ा हुआ एक सूखा तिनका, जिधर लहरें ले गईं उधर ही जिसका पथ।"

"तुम फिर विरोधाभास देती हो। एक ही निश्चय पर चला जानेवाला कुछ प्राप्त करता है। जो आरंभ में ही एक बिंदु पर से हटा उसे फिर कोई स्थान नहीं मिलता।"

"तुम वसंत को अपने पूर्वजन्म का पति कहती हो! यह भी क्या सच बात हो सकती है ?"

"मैंने तुम्हें साइकिक सेंटर की पूरी फ़ाइल दिखाई है।"

"उन्होंने कहीं भी वसंत का नाम नहीं लिखा है।"

"लक्षण तो ठीक-ठीक दिए हैं न ? रोमन नाक, गोरा रंग, चौड़ा माथा, बड़े-बड़े कान, बिलकुल काले बाल—यह एक-एक बात वसंत से मिल जाती है।"

"बहुत व्यापक यह लक्षण हैं। मैं नहीं करती इस बात पर विश्वास।"

"तुमने भाव ही अंतरित कर दिया। तुम कुछ और विचारती हो इस समय ?"

"तुम बताओ मुझे कुछ। तुम मुझे प्यार करती हो। मुझे बड़ी मानसिक व्यथा है। मेरी सहायता करो।"

"मै क्या बताऊँ। यह प्रश्न बिलकुल व्यक्तिगत है। इसमें अपना ही विचार मार्ग दिखा सकता है।"

"मैं जब तुम्हारा भरोसा करती हूँ तब—"

"बेलजियम से अपने पत्र का उत्तर आ जाने दो।"

कुमारी जगदंबिका कुछ देर बाद चली गई। उसी संध्या को, गोपालबाबू को वह मिली घूमते हुए। स्वयम् उसने बात छेड़ी—"उसके हृदय की थाह नहीं मिल रही है मुझे।"

"बिलकुल सीधा प्रश्न किया होगा तुमने।"

"नहीं।"

"फिर निराश होने की बात नहीं। हम धीरज रक्खेंगे।"

"पति का नाम बता ही देना उचित होगा मेरी समझ में। बिना उसके मैं सफल न हो सकूँगी।"

"पति का नाम ?" गोपाल बाबू ने मन में सोचा—"क्या हानि हो सकती है बता देने में। वह राज़ी हो ही चुका है।"

"आपने निश्चित किया ही होगा कोई ?"

"हाँ।" धीरे-धीरे गोपाल बाबू ने कहा—"और किसी से न कहना। वह वसंत है।"

"वसंत !" बलपूर्वक यह शब्द कुमारी जगदंबिका के मुख से निकल गया। वह न जाने क्या कुछ और भी कहना चाहती थी। होठ सी लिए उसने, दाँत पीसकर रह गई वह।

अपनी ही धुन में गोपाल बाबू का उसके भावों पर ध्यान नही गया—"हाँ, और प्रसन्नता की बात यह है, मैंने उसे और उसके पिता दोनो को राज़ी कर लिया है। ज्योतिषीजी ने भी राय देकर लग्न ढूँढ़ निकाला है विवाह का।"

मानो शत-शत बिच्छू दंशित करने लगे जगदंबिका को। एक बार यह कह देने को साहस हुआ कि वसंत मे मेरे विगत पति की आत्मा है। फिर मन मसोसकर रह गई वह।

"और तो कोई बात नहीं है न ?"

"नही।" जगदंबिका ने अपना भाव अच्छी तरह अब छिपा लिया था।

जगदंबिका उसके बाद ही गणेशगंज पहुँची, वसत के पास। एक छोटा-सा पहिया घुमा रहा था वह। "क्या कर रहे हो वसंत ? मैं समझती थी चरखा कात रहे हो।"

"बिजली का प्रवाह उपजा रहा हूँ।"

"क्यों ?"

"रंग तोड़ने के लिए।"

"कैसा रंग तोड़ना ?"

"एक सिद्धात रंग का यह भी है—अणु में परमाणु की विशेष-विशेष स्थितियो पर वे सूर्य की किसी विशेष किरण को प्रतिफलित करते हैं शेष को ग्राह्य कर लेते हैं। जो किरण प्रतिफलित होती है वही उसका रग होता है। मैं बिजली की सहायता से उनकी स्थिति में परिवर्त्तन करना चाहता हूँ।"

"कर नहीं सके अभीतक ?"

"नही—तिल की ओट में पहाड़ छिपा हुआ। किसी समय-

असमय का कोई भी विचार आवरण हटा सकता है। इससे कभी अतिथि मेरे यहाँ आ जाता है तो मुझे अशिष्ट समझने लगता है।"

"क्यो ?"

"मेरा पूरा ध्यान अपनी ओर न पाकर।"

जगदंबिका हँसती है—"यदि तुम्हें अवकाश नहीं है तो मै जाती हूँ। फिर जब तुम्हें अयुक्त देखूँगी तो सही।"

"नहीं मै सदैव युक्त ही रहता हूँ। लो मैंने छोड़ दिया।" वसत ने अपना हाथ चक्र पर से उठा लिया। उसने जगदंबिका की ओर ही अपना पूरा ध्यान दिया।

"मेरा कुछ आवश्यक काम है वसत !"

वसत ने चिंता के साथ पूछा—"क्या ?"

"कहती हूँ। तुम्हारा पूर्वजन्म मे विश्वास है ?"

"हाँ, क्यो नहीं।"

"तुम मेरे पूर्वजन्म के पति हो।"

"पूर्वजन्म का पति ?" होंठो पर ही गुनगुनाया वसंत ने।

"हाँ तुम्हारे ही वियोग में मैं विरक्त होकर सूखी हूँ।"

"कैसे कहती हो ? मैं नहीं समझता ऐसा।"

"तुम्हारी स्मृति जागी नही है।" कहकर जगदंबिका ने एक फ़ाइल वसंत के सामने रक्खी—"लो इसे पढ़ो।"

वसंत फ़ाइल को उलटने लगा। जगदबिका को कुछ याद आया—"अपनी दाहनी हथेली तो दिखाओ।

वसंत ने हाथ बढ़ाया—"क्या है इसमे ?"

"तुम्हारी दाहिनी हथेली मे एक स्वस्तिक है।" जगदबिका ने हथेली को देखना आरभ किया—"यह, नहीं यह, कितना स्पष्ट और सही है यह।"

"हुआ क्या फिर ? सभी की हथेलियों में ढूँढ़ने से निकल आवेगा कोई-न-कोई।" वसत ने कहा।

"लिखा है इसी में तुम्हारी पहचान के लिए। बहुत ध्यान से पूरी फ़ाइल पढ़ जाओ।"

वसंत ने ध्यान से अवलोकन किया। जगदंबिका भी उसके साथ-साथ फिर एक बार पढ़ती गई।

"तुमने मुझसे कहा था कि वसंत विज्ञान के विद्यार्थी होने पर भी तुम्हारा विश्वास अलौकिकता में बहुत है?"

"हाँ।" वसंत ने अंतिम पत्र पढ़ा। हँसते हुए उसने फ़ाइल लौटा दी। "हाँ सायंस, दर्शन हो चला है माइक्रोस्कोप से भी दूर।"

"फिर?" चिंता-पूर्वक जगदंबिका ने पूछा।

"तुम्हारे पति की मृत्यु के समय मेरा जन्म हो चुका था।"

"क्या होता है इससे। भूतलोक और हमारे इस मर्त्यलोक की काल-गणना एक सी नहीं है।"

"इस बात को जानते हुए भी तुम्हारी बात जम नहीं रही है मेरे मन में। जबतक तुम कोई साक्षी नहीं दोगी, मैं नहीं मान सकता। क्या मतलब है तुम्हारा?"

"यही, तुम मेरी वस्तु हो तुम्हारे लिए मैंने अनेक दुःख सहे हैं। मैं नहीं चाहती कोई तुम्हें अपना बना ले।"

"अर्थात्?"

"तुम एक विधवा से विवाह करने जा रहे हो?"

"तुम भी तो विधवा हो जगदंबिका, तुमने मुझसे भी एक बार यही कहा था।"

"नहीं जानते वसंत तुम कौन हो। यदि इस प्रकार मेरी आत्मा को कष्ट दोगे तो ठीक न होगा।"

"स्वार्थ के कारण तुम ऐसा समझ रही हो। मेरा उद्देश्य ही नहीं है कि मैं किसी को दुःख पहुँचाऊँ।"

"तुम्हारे पास फोटो होगी तुम्हारी, मुझे दो मैं उसे भेजकर पुछवाती हूँ साइकिक सेंटर से।"

"मेरे पास फोटो नहीं है कोई। मुझे यह सेंटर कोई बोगस मालूम पड़ता है। लोगों से रुपया ठगना इसका उद्देश्य जान पड़ता है।"

"लीला ने अपना एक पत्र वहाँ भेज रक्खा है, उसके उत्तर आने-तक ठहर जाओ।"

"लाभ ?"

"इस विचार पर कदाचित् कुछ प्रकाश पड़े।"

दूसरे दिन कुमारी जगदंबिका जब लीला के पास गई तो उसने उसको कुछ परिवर्तित पाया। वेश-भूषा में भी और भाव-वाणी में भी।

जगदंबिका ने जाते ही कहा—"क्यों लीला क्या बात है ?"

"कुछ भी तो नहीं।" ईषत हास्यमई होकर उसने कहा।

"नहीं, कहना चाहिए तुम्हें। समान दुःख ने हमारे बीच की दूरी को हटा दिया। हमने स्वच्छ हृदय से एक-दूसरे की मैत्री पाई है। गुरु-शिष्या का नाता स्थिर रहकर भी हमारे सखीत्व में बदल गया है। अब तुम्हारा कुछ मुझसे छिपाना तुम्हारा दोष बन जायगा।"

"क्या छिपाया है तुमसे मैं नहीं जानती। तुम अपने प्रश्नों के प्रकाश से मेरा हृदय टटोल लो।"

"तुम्हारी वसंत पर सुदृष्टि है ?"

"उसका-मेरा परिचय कब हुआ ? मेरी स्मृति के इतिहास में उसकी कहीं सीमा नहीं है। जहाँ से मेरी स्मृति आरंभ होती है वहीं से उसकी मित्रता भी।"

"तुम बड़ी काव्यमय भूमिका बाँध रही हो।"

"तुम कवयित्री, इसीलिए तुम्हारे निकट सबसे अधिक प्रोत्साहन पाने के लिए।"

"तुम वसंत से विवाह करने को तैयार हो गई हो ?"

लीला गभीर हो उठी—"जन्मदाता पिता की आज्ञा पर क्या मुझे अपना मस्तक नहीं विनत कर देना चाहिए ? अपना जीवन, अपना

जगत—अपना उद्देश्य अपना विधेय ? सब कुछ ?"

"तुम सयानी लड़की हो। विवाह के बाद तुमने पति का अनुराग पाया है। शास्त्र में विधवा-विवाह का विधान उन अबोध कन्याओं के लिए है, जो विवाह के समय पति को एक खिलौना, और विवाह को एक खेल समझती हैं।"

"पर यदि मैं अपने उस विवाह को ही विधवा-विवाह कहूँ तो क्या तुम इसे कुतर्क समझती हो ?"

"क्या ? क्या ?" असंबद्ध होकर जगदंबिका ने पूछा।

"वचन और कर्म में एकसा बर्त्ताव ही क्या मनुष्यता की पहचान नहीं है ?" लीला रुक गई।

"कहती जाओ।"

"नहीं, पहले तुम्हारा उत्तर पाकर फिर आगे बढ़ूँगी। अपने वचन में दे दिया तो दे दिया न ?"

जगदंबिका ने अर्धस्फुट स्वर में कहा—"हाँ।"

"मेरी माता ने वसंत की माता से वसंत के ही साथ मेरा विवाह कर देने को कहा था।"

चकित होकर जगदंबिका ने पूछा—"कब ?"

"अनेक बार। दोनों माताओं से तुम पूछ सकती हो। कई साल तक मैं यही समझती रही वसंत ही मेरा पति है।"

"तुम उसे दे दी गई थीं, फिर विवाह क्यों नहीं हुआ ?"

"भगवान् की इच्छा। जब मेरे विवाह की तिथि निकट आई तो मुझे अपने स्मृति-पटल में से वसंत की प्रतिमा खुरच-खुरच कर मिटा देनी पड़ी। तुम भाव-जगत में बहुत विचरण करती हो। कहो क्या वह मेरा विधवा हो जाना नहीं हुआ ?"

"यह भूल तुम्हारी ही हुई। यदि तुम इसका फल भोगने के लिए दूसरे का जन्म समझती हो तो यह तुम्हारा दूसरा अपराध होगा। गृहस्थ का कर्त्ता पुरुष है—उसी का वचन निर्णायक है।"

"उस भूल का दुःख मैंने ही सहन नहीं किया क्या ? और अब क्या पिता के निर्णय पर ही मैं विनीत नहीं हुई हूँ।"

"साइकिक सेंटर से अपने पत्र का उत्तर आ जाने दो अगली डाक से।"

"उससे क्या होगा ?"

"तुम कहती थीं, तुम्हारा उन पर बहुत विश्वास है।"

"नहीं बिलकुल ऐसा तो कभी नहीं कहा। आत्म-विद्या पर विश्वास है कहा था।"

"साइकिक सेंटर पर नहीं ?"

"नहीं। मैंने उनकी बहुत व्यापक कल्पना पाई—जो सत्य को ढकती है, प्रकट नहीं करती उतना।"

"तुम्हारा स्वार्थ आ पड़ा है न अब।"

"तुम्हारा स्वार्थ भी वहीं पर है कहूँ, तो क्या अनुचित है ?"

"तुम्हारी जब सोने की घड़ी खो गई थी, तो सेंटर ने सही नहीं बताया था ?"

"बताया तो था।" कुछ संशय-शिथिल वाणी में कहा लीला ने।

"उन्होंने कहा था, एक मास के भीतर ही मिल जायगी। मिल गई थी न ? उस समय तुम्हारी बड़ी भक्ति उपजी थी सेंटर के लिए।"

"हाँ, मैं अपने संदूक में रखकर भूल गई थी। एक दिन खोला तो मिल गई।"

"कुछ भी हो। समय भी कितना सच्चा बताया उन्होंने। एक महीने के भीतर ही मिली थी न ?"

"तारीख़ और घंटा कहाँ बताया उन्होंने ?"

"मैंने अपनी आँखों से उस सेंटर के कई अधिवेशनों में भाग लिया था। कितनी विशाल उनकी अपनी इमारत है। महाद्वीप के कई बड़े-बड़े धनी और विद्वान् उसके मेंबर हैं। उसका उत्तर आ जाने में

तुम्हें क्या आपत्ति है ?"

कुछ विचारा लीला ने—"कुछ नहीं।"

"फिर अपना विचार स्थगित करो। दो-चार दिन के लिए।"

"विचार मेरा ही कहाँ है, तुम समझकर भी क्यों फिर मुझे उलझन में डाल रही हो ? ठहर जाऊँगी मैं दो-चार दिन।"

पाँचवें दिन आ गया सेटर का पत्र लीला के पास। पूरे एक पौंड का पोस्टल ऑर्डर भेजा था लीला ने। कई प्रकार के छोटे-बड़े रंग-बिरंगे पत्रों के साथ एक बड़े लिफ़ाफे में उसे चार पेज टाइप किए हुए फुलस्केप के पत्र मिले। वही लीला से व्यक्तिगत संबंध रखता था। शेष सब उनके प्रचार-विभाग के परचे थे, जो उनका विज्ञापन करने और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से भेजे गए थे।

लीला ने कौतूहल के साथ सब पृष्ठ उलटे। टाइप मैटर दो-तीन बार पढ़ा। वह समझती थी, न-जाने क्या लिखकर आ जावेगा। उसका सारा भय दूर हुआ। जगदंबिका के आने पर सब पत्र उसने उसे सौंपे—"लो यह उत्तर भी आ गया उनका।"

"क्या लिखते हैं ?" जगदंबिका पढ़ने लगी।

लीला ने कहा—"इन्होंने मेरे लिए भी यही लिखा है कि मेरे मृत पति का जन्म फिर इस संसार में हो चुका।"

"कहाँ ?"

"स्थान का निर्देश नहीं है स्पष्ट। केवल 'पूर्व में' लिखा है। भारत वर्ष पूर्वीय देश कहा जाता है।"

"चीन-जापान, रूस का एक भाग, जावा, सुमात्रा, मलाया यह सारा द्वीप-समूह भी तो ?"

"लिखा है वह धार्मिक विचार का है। उसके माता-पिता दोनों जीवित हैं। क्या यह दोनों बातें वसंत पर लागू नहीं होतीं ?"

उत्तेजित होकर जगदंबिका बोली—"उसके माता-पिता जीवित हैं, लेकिन वह धार्मिक विचार का कहाँ ?"

"क्यों ? मैं तो मानती हूँ उसके धार्मिक विचार हैं। गीता का वह कैसा अनन्य भक्त है ?"

"पर अपने कुल-परंपरा से चली हुई मर्यादा को उसने शूद्र का काम कर तोड़ा है।"

"पश्चिमवाले इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था नहीं मानते। उनके यहाँ जूता छू लेने से किसी का धर्म नहीं जाता। और देखो, वह किसी धातु के व्यापार से अपनी जीविका चलाता है।"

"हाँ, धातु का व्यापार कहाँ करता है वह ?"

"करता कैसे नहीं ? उसकी कटन्नी, राँपी, हथौड़ा, पैर यह सब धातु के ही तो हैं।"

"यह तर्क उपयुक्त नहीं, चमड़े का व्यापार हो सकता है उसका।"

"वह नए जूते बनाता तब न ?"

जगदंबिका ने पढ़ते हुए कहा—"तैरने से और घोड़े की सवारी से उसे बहुत प्रीति है।—ज़रा भी नहीं, यह बिलकुल सफ़ेद झूठ है।"

"सभी बातें तुम्हारे पत्र की भी नहीं मिलती हैं।" लीला ने कहा।

जगदंबिका ने बिना सेंटर के पत्र को पूरा पढ़े ही, सारा लिफ़ाफ़ा लीला को लौटा दिया। कुछ रोष और कुछ विषाद से उसके होंठ काँपने लगे। वह उठकर खड़ी हो गई।

"क्यो ?" लीला ने आग्रह किया।

"कुछ आवश्यक काम है, जाती हूँ इस समय।"

"इतनी जल्दी !"

जगदंबिका ने सुनी-अनसुनी की। वह चली गई।

पाँचवाँ परिच्छेद

दीवार पर का लेख

कई-कई दिन से कहने लगी थी चुनिया भीखू से कि जाकर वसंत के औज़ार लौटा आओ। उसे साहस ही नहीं था। अवस्था और नशे ने उसको मन तथा बुद्धि में बहुत कृश कर दिया था। उसकी नैतिक और आर्थिक दोनो अवस्थाओं में सुधार नहीं हुआ था। कष्टो की छाया उसपर और भी सघन होने लगी थी। मन में अवश्य समझता तो था कभी-कभी वह कि वसंत न था मेरे दुर्भाग्य का कारण। पर कह नहीं सकता था इस बात को अपनी गृहिणी के सामने। कोई उसपर कहाँ तक दया करता। संसार उठने-वाले ही का साथ देता है, गिरनेवाले को तो धक्का भी पहुँच जाता है उसमे।

उस दिन वह चुनिया की आँख बचाकर वसंत के थैले को उलट-कर कुछ ढूँढ़ रहा था।

"तुम फिर इसमे से चमड़ा चुराने लगे न?" चुनिया आ पहुँची थी।

"कटन्नी का मुख टूट गया कल मेरा। इसमे से ले जाता हूँ शाम को लाकर रख दूँगा।"

"नहीं।" चुनिया ने वसत से सामान पर हाथ रखकर कहा।

"तेरे हाथ जोड़ता हूँ चुनिया। मज़दूरी में हर्ज़ हो जायगा।"

"कुछ भी हो। मुझे भूखी ही सो रहना पसंद है। लोहार के यहाँ बनवा लेना उसका मुख।"

"मेरी कटन्नी नहीं मिल रही है।"

"मिनट के बदलते ही तुम्हारी ज़बान भी बदल जाती है।" चुनिया ने वसंत की चीज़े थैले में समेट ली थीं—"एक रोंपी निकाली थी तुमने इसमें से, फिर रखने का नाम लिया नहीं।"

"वह क्या थी, अभी सँभाली जो तुमने ?"

"दो थीं।"

"रक्खी थीं !"

"यह सामान दे आओ उन्हें।"

"मुझे क्या पड़ी है ? मेरे कहने से रख गया वह यहाँ ? जैसे रख गया वैसे ही ले जावेगा। मैं उसका नौकर हूँ क्या ?"

"रख गए थे तुम्हारे मन का वहम मिटाने के लिए।"

"मिट गया वह ?"

"और नहीं तो क्या ? जिस दिन से यह सामान यहाँ रक्खा है, मैने एक दिन भी तो तुम्हारे हाथ वह पहले की सी मज़दूरी नहीं देखी।"

"तुम भी तो अब वह पहले की नहीं रही, मै भी नहीं। एकसा न रहना ही तो संसार है।"

"जितना तुम पहले एक वक्त में ही ले आते थे उसका आधा भी अब दोनो जून फेरी करने पर भी नहीं कमा सकते।"

"तक़दीर ! कुछ मेरी और आधी तुम्हारी। अरे उनको देख जो एक ही दिन मे लाख से ख़ाक में मिलते हैं। भीखू पर तो धीरे-धीरे मुसीबत पड़ी। एक नए कष्ट का आदी हो जानेतक उसे पुराना सुख भूल गया।"

"फिर क्यो तुमने एक भले आदमी के लड़के को उस दिन अपने दुःखों का कारण बताया ?"

"वह है अब भी। राँपी, कटन्नी और धागा रखकर चलता है अपनी फेरी में। जहाँ अवसर मिला गाँठने लगता है जूता।"

"देखा तुमने ?"

"देख पाता तो क्या छोड़ देता ? वही फटा जूता उसके हाथ से लेकर हजामत न बना देता उसके सिर की ? दे दे चुनिया ला दे दे। तेरे सिर की क़सम नहीं तो आज टूट जायगी मज़दूरी।"

"अच्छा आज शाम को तुम यह सामान दे आओ उन्हें। कितनी झूठ बोल रहे हो तुम ? मैंने देखा है उस लड़के को, वह कभी तुमसे झूठ न बोलेगा ?"

"रोज़ फेरी में जाता है वह। पूछ ले चाहे जिससे।" भीखू थैले में हाथ डालने लगा—"दे दो लाओ, देर हो रही है।"

"अच्छा वचन दो, कहो आज शाम यह लौटा आऊँगा।"

"क्या कहूँगा जाकर ?"

"कह देना मेरे ही कर्म मेरे भाग्य के कारण हैं।"

"अरी, अगर वह फिर जूतों की मरम्मत करना आरंभ कर देगा तो फिर ज्वार-बाजरा भी न जुड़ सकेगा। सोच ले फिर अच्छी तरह। मेरी समझ में पड़ा रहने दे यह सब इसी तरह। वह आवे तो ले जावे हम कौन हैं उसे मना करनेवाले ?"

"नहीं मैं अपने घर के कोने में इस घरोहर को देख-देखकर घबरा उठी हूँ। यह किसी के शाप की दिन में मुझे याद दिलाता है। रात को भयानक-भयानक सपने मेरी नींद तोड़ देते हैं। मै समझती हूँ इसे लौटा देने पर शायद हमें इतना दुःख न रहेगा।"

"लौटा दूँगा तो कह रहा हूँ। ला कटन्नी दे।" कुछ तीक्ष्ण होकर भीखू ने कहा।

"आज ही शाम को।"

"शाम को फेरी में न जाऊँगा ? रात को लौटा आऊँगा। इक्के के लिए पैसे देगी न ?"

"हाँ दूँगी।" कहकर चुनिया ने उसे कटन्नी दे दी।

आठ बजे रात को भीखू चला वसंत का सामान लौटाने को। मन में एक हज़ार मनसूबे बन और बिगड़ रहे थे उसके—"क्या कहूँगा जाकर उससे कि तूने मेरी रोटी नहीं चुराई। यह तो न कहूँगा, मुझे झूठ बोलने से मतलब ? मेरा महल बिगाड़ा रामदीन ने जब उसने मेरे कारख़ाने की नौकरी छोड़, मेरे कई कारीगर तोड़ अपनी दूकान अलग

खोली थी। मैं झोपड़ी में ही दिन बिताने लगा—मेरी झोपड़ी में आग लगाई इस लौंडे ने। मैं चुपचाप इसका सामान उसके घर में रखकर चला आऊँगा। वह कुछ कहेगा भी तो मुझे क्या मतलब, जवाब ही न दूँगा।"

किसी ने उसकी पीठ पर हाथ रक्खा बग़ल से। उसका एक जात भाई था, बोला—"घर नहीं गए अभी? और आगे ही बढ़े जा रहे हो? न्यौता है क्या कहीं?"

"न्यौता है तो सही मौत के घर का, पर अकेले डर लगता है!"

"ताड़ी पियोगे?"

"सोच तो रहा हूँ। पिलाओगे?"

"चलो। यह बोझ तो कहीं रख देते।"

"उसी लौंडे का है यह बबाल। उसी को देने जा रहा हूँ।"

"कौन लौंडा?"

"वही गणेशगंजवाला। बाबू का लौंडा जो जूते गाँठता था। तुमने बताया नहीं यार आख़िर उसे यह बीमारी क्यों लगी?"

"अरे हाँ, अब तो वह जूतों की मरम्मत नहीं करता। कभी-कभी पॉलिश करते दिखाई देता है। कई रोज़ से अब देखने में भी नहीं आता। क्या सूझी उसे भी? अब चला पता कि इस धंधे में क्या रक्खा है।"

"चलो फिर।"

"तुम कहाँ से उठा ला रहे हो इसे।"

"मेरे यहाँ रख गया एक दिन। दूसरे की चीज़, मैं नहीं रखता यह बबाल किसी का। चलो फिर, है पैसा?"

"हो जायगा।"

भीखू ने ख़ूब ताड़ी पी अमीनाबाद जाकर। जब उसको नशा चढ़ने लगा, वसंत उसके विचार में जमा हुआ था। उसने अपने साथी से कहा—"अरे वह एक मेरा ही दुश्मन न था। वह था सारी

जात का बैरी। पहचाना उसे अकेले मैंने ही। लड़ा उससे अकेले मैं ही।"

साथी बोला—"अब क्यो लौटा दे रहे हो फिर उसके औज़ार ? वह फिर तुम्हारी जड़ काटना शुरू करेगा ?"

"सरासर चुनिया की मूर्खता।"

"पुल पर जाकर छोड़ दो गोमती में।"

"हाँ, कहा तो ठीक।" फिर कुछ सोचने लगा भीखू तमाखू पीते-पीते। "ले जाकर तुम फेंक दो।"

"नहीं, मैं क्यो फेकूँ, रोज़ी की चीज़।"

"एक रुपया दूँगा—इक्के का भाड़ा और तुम्हारी मिठाई के लिए।"

"ऊँहूँ, किसी भाई को दे दो, कमा-खावेगा।"

"किसे दे दूँ ?" कुछ सोचा फिर भीखू ने—"उसे ही दे आता हूँ। तुम भी चलो साथ। देखें कहता क्या है।"

"मुझे एक जगह काम से जाना है।"

"कहाँ ?"

"नरही पर। छोटू की सगाई, फिर अटक गई है। सुना होगा तुमने ?"

"उधर ही से चलो।"

"गणेशगंज से ?"

"हाँ।"

"पागल हो गए क्या नशे में ? मेरा रास्ता अलग, तुम्हारा दूसरा।"

"तो जाओ फिर। चल दो तुम।"

साथी चला गया। भीखू ने मन में विचारा "एक चिलम भरकर और पी लूँ। अभी अपने घर पर आ गया हो
नहीं बजा अभी।"

तमाखू पीने लगा फिर भीखू। जेब में पैसे देखे। सामने पत्ते में एक छोटा-सा टुकड़ा पकौड़ी का शेष बचा हुआ था, उसे मुँह में रखकर वह उठा। कुछ और ताड़ी ख़रीदकर उसने पी। वसंत के सामान के पास बैठ गया वह एक ओर को बिलकुल अकेले ही।

दिन-भर का हारा-थका। अभी तक वसंत के वहाँ जाने का साहस एकत्र न हो सका था उससे। पलकें भारी होकर पड़ गईं एक-दूसरी पर। विचारों ने काया धारण की स्वप्न की। देखा उसने—

वसंत के द्वार पर जाकर पुकारा भीखू ने—"बाबूजी!"

"कौन है?" उसने आवाज़ सुनी भीतर से वसंत की।

"लो, यह तुम्हारा सामान पड़ा था मेरे यहाँ, इसे सँभालो।"

वसंत उसके पास आया। अपने सामान को पहचानकर उसने ज़ोर से सीटी दी, तीन बार!

पाँच-छ पुलिस-कास्टेबिलों ने आकर उसे घेर लिया।

"इसने चुराया था मेरा सामान।" वसंत ने कहा।

"बहुत परेशान किया इस मुलज़िम ने।" पहला सिपाही बोला।

"आज मय सामान के धर लिए गए।" दूसरे ने कहा।

"चलो बेटा, अब बड़े घर।" तीसरे ने उसका हाथ खींचा।

रोता-चिल्लाता भीखू बोला—"अरे भइया, मुझे नहीं पहचानते क्या? मैं भीखू हूँ। कभी मेरा बड़ा भारी जूतों का कारख़ाना चलता था लखनऊ में। मैं क्या चोरी करूँगा, इन दो-चार लोहे के टुकड़ों की। यह सोने के होते तो भी भीखू उस ओर थूक देता।"

लेकिन पुलिसवाले बलपूर्वक उसे घसीट ले चले।

"दया करो अरे। मैं बालबच्चेवाला हूँ। ऐसा काम हरगिज़ नहीं कर सकता।"

पुलिसवालों ने कुछ हाथ ढीलेकर आपस में सलाह की। वे फिर और ज़ोर से पकड़कर उसे कोतवाली की ओर ले चले।

"मेरे इन सफ़ेद बालों की ओर देखो। मैं मरते समय क्या इनमें

दाग़ लगाऊँगा। चार भले आदमियों से पूछ तो लो शहर के ?"

एक ने बड़ी ज़ोर से चपत मारा भीखू के—"चुप रह चोट्टे। तू दसनबरिया है पुराना। क्या हमारी आँखों में धूल झोकेगा तू ?"

दूसरे ने अपनी जेब से एक बहुत बड़ी तसवीर निकालकर भीखू के सामने की—"यह देख यह तेरी तसवीर, बड़े साहब के दफ़्तर से आई है। हर चौकी में यह एक-एक भेजी गई है, ताकि तुझ पुराने पापी के पकड़ने में फिर भूल न हो, है न यह तेरा ही चित्र ?"

भीखू ने देखा वह ठीक उसी का चित्र था। पुलिसवालों ने ले जाकर उसे हवालात में बंद कर दिया। उन्होंने उसके जेबों की तालाशी लेकर सब चोज़ें छीन लीं। हवालात के भीतर एक कोने में एक बड़े संदूक़ में अफ़ीम-भरी रक्खी थी। उसे भी उन्होने वहाँ से हटा दिया। भीखू पड़ा-पड़ा छटपटाने लगा।

ताड़ीख़ाने के नौकर ने भीखू का हाथ पकड़कर जगाया—"घर नहीं जाओगे क्या ?"

"वह तसवीर किसी और की होगी। एक ही शकल के दो आदमी भी तो होते ही हैं। यह भीखू भीखू है लखनऊ शू फ़ैक्टरी का पुराना मालिक ! वह भीखू कोई और होगा।"

नौकर बोला—"लेकिन मेरा मतलब इसी भीखू से है जो यहाँ पर सो रहा है। उठो और अपने घर को जाओ। मैं ताड़ीख़ाना बंद कर रहा हूँ। समय हो गया।"

भीखू ने भूमि पर उठकर कहा—"जाऊँ फिर ?"

"हाँ, हाँ तो कह दिया।"

भीखू उठकर जाने लगा। उसे धक्का लगा वह भूमि पर गिर पड़ा! उसका स्वप्न टूट गया, पर नशा नहीं। वसंत का लोहे का पैर उसकी पसली का केवल स्पर्श कर रह गया। उसे याद आई वसंत के सामान की। वह उसे उठाकर चला, किसी प्रकार गिरते-पड़ते गणेशगंज की ओर।

कुमारी जगदंबिका अपनी मेज़ पर पत्र लिख रही थी। सामने ही उसके, एक रूमाल में बँधे हुए डिब्बे में कुछ आभूषण रक्खे हुए थे। उसकी दासी आकर सामने खड़ी हुई। जगदंबिका ने कहा—"कोठी देखी है न तुमने?"

"हाँ, एक दिन मोटर पर मैं भी तो आपके साथ गई थी।"

लिखते लिखते जगदंबिका को याद आई—"हाँ, कुछ क्षण और ठहर जाओ। इस पत्र को पूरा करने में अभी कुछ देर है। खाना नहीं खाऊँगी मैं आज। सिर में पीड़ा है। नहीं जानती, शायद ज्वर भी आवे।"

दासी वहाँ पर से चली गई।

जगदंबिका पत्र पूरा करने लगी—"बीमारी की अवस्था में ही मैं तुम्हारे लिए यह पत्र लिख रही हूँ। तुम्हारे विवाह के इस अवसर पर अनुपस्थित रहना, मेरी कदापि इच्छा न थी। विवशता को क्षमा करना मेरी। थोड़े-से आभूषण मैंने तुम्हारे लिए अपने उपहार भेजे हैं, इन्हें स्वीकार करना। वसंत—मेरे पूर्वजन्म का पति, इससे बढ़कर मेरा और कोई धन नहीं, वह भी मैंने तुम्हें उपहार में दिया। इस बात को अच्छी तरह समझना और विश्वास रखना मेरे मन में तुम्हारे लिए कोई भी अन्य विचार नहीं है। वसंत को सुखपूर्वक रखना। उसकी प्रसन्नता में अपने तमाम स्वार्थों की बलि देना, इसका ध्यान रखना, तभी तुम प्रकृत सुख पा सकोगी। उसके साथ तुम्हें चिरसुख प्राप्त हो, यही मेरी आशीर्वाद-कामना है।"

दासी आकर फिर खड़ी हो गई थी उसके सामने। पत्र मोड़कर जब उसने लिफ़ाफ़े में रखकर पता लिखा तो न जाने क्यों उसका विचार बदल गया—"अच्छा रहने दो तुम।"

पर दासी वहीं पर खड़ी ही रही।

"मैं स्वयम् ही जाऊँगा रहने दो तुम। जाओ।"

दासी गई। जगदंबिका ने वह पत्र एक बार पढ़ा, फिर फाड़कर

फेंक दिया। वह उठी और बाल समेट कपड़े बदलकर मोटर पर जा पहुँची लीला के विवाह में। फाटक पर से ही वह एक अजीब शून्यता का अनुभव करने लगी। सजावट और प्रबंध में उसे पूरी तैयारी दिखाई दी, पर मनुष्यों का कहीं पता न था। मोटर ठिकाने से लगाकर जगदंबिका भाँति-भाँति के सोच में पड़ी मकान के भीतर को चली—"कोई बीमार तो नहीं हो गया ?"

दो-चार आदमी इधर-उधर चलते-फिरते दिखाई दे रहे थे। झुकी रीढ़ और ढीले पगो से। असमंजस में पड़ गई जगदंबिका। नौ बजे विवाह का लग्न था। साड़े आठ बजा था उस समय। उसने सोचा बरात आ गई होगी। द्वारपूजा हो चुकी होगी। लेकिन अतिथियों के मनोरंजन, चाय-पान के लिए जो शामियाना तना था, वहाँ कुरसियों पर कुछ बालक खेल रहे थे। जगदंबिका के हृदय में एक पीड़ा उठी, वह एक पार्श्व मे उजली थी दूसरी तरफ तमोमई !

"बरात आ गई क्या ?" मार्ग में जाते हुए पहले मनुष्य से जगदंबिका का प्रश्न था।

"नहीं।"

"क्यो ?"

"मालूम नहीं। कोई कह रहा है दूल्हा बीमार हो गया।"

"हैं ?" घबराकर जगदंबिका ने कहा।

उदास असाम्य में बाजा बज रहा था। द्रुत पगो से जगदंबिका ने बैठक मे प्रवेश किया। उसने अपने हाथ में लिए हुए आभूषणों के डिब्बे को साड़ी के आवरण में कर लिया।

गोपाल बाबू अभी शर्माजी के यहाँ से आए हैं। बड़ी देरतक संध्या-समय बरात की प्रतीक्षा की गई। संध्या का समय बीतने लगा तो उन्होने शर्माजी के यहाँ आदमी भेजा मोटर पर। उसने लौटकर कहा—"कई कारणों से देर हो गई है, बरात अभी आती है। आधा घंटा और बीत गया, बरात का कोई चिह्न भी आता न दिखाई दिया।

गोपाल बाबू घबराए, स्वयम् शर्माजी के यहाँ को चले।

बराती जमा थे, पर उनमें कुछ कानाफूसी हो रही थी। गोपाल बाबू ने उनके बीच में जाकर कहा—"बड़ी देर कर दी!"

एक बराती बोला—"शर्माजी ने ही कर रक्खी है।"

"कहाँ हैं वह?"

"अंदर ही।"

भीतर जाकर भी उन्होंने शर्माजी को नहीं पाया—"कहाँ हैं वह?"

किसी ने भी स्पष्ट उत्तर नहीं दिया।

"वसंत?"

"वह भी साथ ही हैं शायद।"

एक अजीब कुहासे में गोपाल बाबू पड़ गए थे कि उनको देखकर प्रमोद आता हुआ दिखाई दिया। एक ओर को ले जाकर प्रमोद बोला धीरे-धीरे—"वसंत न जाने कहाँ चला गया, कुछ पता नहीं दे गया। किसी ने उसे जाते हुए नही देखा।"

"मेरे पास अभीतक यह सही समाचार क्यों नहीं भेजा?" कुछ रुष्ट होकर गोपाल बाबू ने कहा—"शर्माजी कहाँ हैं?"

"उसी की खोज में गए हैं।"

"उसे क्या खो जाने के लिए यही समय था?"

"समझ ही में नहीं आ रही है बात। दो परिक्रमा सारे शहर की मैं कर आया हूँ। उसके परिचित और परिजनो के, सबके यहाँ पूछ आया हूँ—केवल निष्फल!"

"मुझे चालाकी मालूम दे रही है, शर्माजी की।"

"नहीं, नहीं।" प्रमोद ने स्थिर शब्दों में कहा।

"यदि उन्हें विवाह न करना था तो स्पष्ट ही पहले कह देते। मैंने कोई दबाव उन पर नहीं डाला। उन्होंने मेरे हज़ारों रुपयो की हानि की इसकी मुझे कुछ भी चिंता नहीं। लोगों में मेरी हँसी उड़ी, यह

मुझे असह्य है और मैं इसका पूरा-पूरा बदला लिए बिना न रहूँगा। अवश्य ही उन्होने विवाह का विचार छोड़ दिया है। ठीक विवाह के समय पिता-पुत्र दोनों मंत्रणा कर अंतर्ध्यान हो गए हैं!" गोपाल बाबू ने अत्यत तीक्ष्ण होकर कहा।

प्रमोद समझाने लगा उन्हें शात भाव से—"नहीं, नहीं ऐसी बात नहीं है। मैं अपने स्त्री-पुत्र सहित यहाँ आया हूँ आज चार दिन हो गए। तब से मेरा अधिक समय वसत के ही साथ बीता है। वह मेरा अंतरंग मित्र है। उसके मन में ऐसा कोई विचार होता तो वह कदापि न छिपाता मुझसे।

"मैं मानने को तैयार नहीं।"

"आज ही सुबह पूर्वांग के समय मैंने देखा था वसंत के मन में विवाह के लिए पूरा-पूरा उत्साह था।"

"विचार एक क्षण में बदलता है प्रमोद! मैं कहूँगा तुम बहुत भोले-भाले हो।"

"भीतर वसंत की माता ने रोना-धोना आरंभ कर रक्खा है। शर्माजी भी बड़ी देरतक उसके लौट आने की घड़ी गिनते-गिनते अभी अमीनाबाद गए हैं।"

"एक अभिनय रच दिया गया। अच्छी बात है।" पैर पटककर गोपाल बाबू लौटने लगे।

प्रमोद ने उनका हाथ पकड़ लिया—"शर्माजी के आने तक तो कृपापूर्वक आप प्रतीक्षा कीजिए।" गोपाल बाबू को उसने एक कुरसी पर बिठाया।

गोपाल बाबू स्थिर न बैठ सके। बार-बार घड़ी देख रहे थे। बड़े वेग से विचार उनके मन मे प्रवाहित था। वह कमरे से बाहर निकल आए। वहीं टहलने लगे। प्रमोद भी उनके साथ-ही-साथ चला आया था।

शर्माजी भूले-खोए-से लौटे। हाथ-पैर छोड़कर भूमि पर ही बैठ

गए—"इस लड़के ने मुझे सदैव ही दुःख दिए।"

"कहाँ है वह?" गोपाल बाबू ने कर्कश स्वर में पूछा।

"मैं भी यही प्रश्न कर रहा हूँ, घंटे-भर से।"

"आपको मालूम है।"

"भगवान् जानते हैं!" शर्माजी ने हाथ जोड़ आकाश को दृष्टि कर कहा।

"आपने अंतिम बार उसे कब देखा था?"

"वहाँ उसके कमरे में। वह विवाह के कुछ छूटे हुए स्थानीय निमंत्रण-पत्र भिजवा रहा था।"

"विवाह की अनिच्छा का कोई विचार?"

"कुछ भी नहीं था उसके मन में प्रकट रूप से। अंतरमन की भगवान् जानते हैं।"

"क्या होगा अब?"

"क्या बताऊँ? बड़ा धोका दिया उसने।"

"समाज में मुझे मुँह दिखाने योग्य नहीं रक्खा आपने। लोग न-जाने क्या-क्या अर्थ लगावेंगे इस घटना के।"

"आपका क्या बिगड़ा? आपकी कन्या का विवाह तो फिर भी किसी के साथ हो सकता है। यदि मेरा पुत्र न लौटा तो?"

देवकी वहीं पर चली आई थी, पुत्र के समाचार जानने को। ऊँचे स्वर से ढाड़ मार-मार कर रोने लगी।

गोपाल बाबू फिर नहीं रुके वहाँ। सीधे अपने घर आ गए। बात-चीत और स्थिति से यह भासमान हुआ उन्हें कि अब वसंत लौटकर नहीं आवेगा आज। विवाह न होगा आज। भविष्य में भी होगा या नहीं, उन्हें संशय होने लगा।

पत्नी से सब कुछ कहा उन्होंने। कुमारी जगदंबिका ने भी सुना। सुनकर सन्न रह गई सुंदरी। उसके मुख से कोई शब्द नहीं निकला।

बंधु-आत्मीय अनेक लोग दूर-दूर से कई-कई दिन पहले ही आ

जुटे थे वहाँ। पुरुष गोपाल बाबू को और स्त्रियाँ सुंदरी को घेरकर समझाने लगे।

टेलीफोन लेकर गोपाल बाबू ने जहाँ तक उनका प्रभाव पहुँच सकता था, वहाँ तक वसंत की खोज की, खोज का प्रबंध किया। एक आदमी शर्माजी के यहाँ भेज दिया गया कि यदि वह लौट आवे तो तुरंत ही वह समाचार लेकर आवे।

दूसरी ओर वह समस्त प्रबंध को अनिश्चित काल के लिए स्थगित करने लगे। बाजेवाले विदा कर दिए गए। रसोईघर की प्रगति उच्छिन्न कर दी गई। अत्यधिक प्रदर्शन के बल्ब सब बुझा दिए गए।

उत्सव बिना चरम में पहुँचे ही इस प्रकार कुम्हला गया, कली ही में। स्थानीय निमंत्रित सब विदा हो गए धीरे-धीरे। नौ बज गये। तब गोपाल बाबू पूरे निश्चय पर आए कि अब कुछ न होगा।

सुंदरी के दुःख का पारावार न था। उसने ज्योतिषी से पूछा—"और कोई लग्न नहीं है आज।"

"परिश्रम और अनुसंधान कर लग्न निकाला जा सकता है। वह कुछ अधिक समय की बात नहीं। भगवान् वर को सुमति देकर भेजे तो सही।"

गोपाल बाबू ने लीला को सात्वना दी, कई प्रकार से। लीला के मुख पर कोई कष्ट प्रतिबिंबित न था। गोपाल बाबू ने फिर साहस किया उस दुःख को सहने के लिए।

लीला ने माता को समझाया—"मेरे लिए कोई दुःख करना उचित नहीं है तुम्हें माँ। बहुत छोटी-सी बात है। आराम करो। आज कई दिन से तुमने घोर श्रम किया है।"

सुंदरी ने समझा—"लीला कितनी समझदार है। भाग में होता जब शर्मा-कुटुंब के। तब उस तरह नाक रगड़ रहे थे।"

जगदंबिका ने लीला के कमरे में जाकर कहा—"लीला, ईश्वर साक्षी हैं। मैं वसंत के ऊपर अपने सब अधिकार तुम्हारे हाथों में

छोड़ने को आई थी। पर उसे कुछ और ही स्वीकार था।"

लीला हँसी ऐसे मानों उसने कुछ भी कष्ट अनुभव नहीं किया है। जगदंबिका ने उसकी हँसी को बहुत अप्राकृतिक देखा। "मुझे तो कोई दुख नहीं है।" लीला ने कहा।

"तुम यह न समझना लीला कि मेरी इसमें कोई प्रेरणा है।"

"नहीं, नहीं।"

"यदि तुम आरंभ में मेरी बात मान जाती तो—"

"जो हुआ सो हुआ।" लीला ने उस दैनिक पत्रों के ढेर की ओर देखा, जो चार-पाँच महीने का जमा था उसके कमरे के एक कोने में, सावधानी से की गई हुई तहों में। लीला ने फिर देखा उधर, उसमें पर्याप्त ऊँचाई उपज गई थी।

"यदि वसंत कल को आ जाय और तुम्हारे संतोष के लिए अपने अंतर्ध्यान होने का कोई कारण दे सके तो क्या तुम फिर उसके साथ विवाह करने के लिए अनुमत हो जाओगी?" जगदंबिका ने पूछा।

"नहीं।" हँसकर लीला ने कहा।

"नहीं?" आश्चर्य के साथ जगदंबिका ने प्रश्न किया।

"हाँ।"

"हाँ?" उसने फिर पूछा।

"पहले के समान मैं अब भी पिताजी की इच्छा पर ही इस निर्णय को छोड़ती हूँ।"

लीला की समवयस्का कुछ अतिथियों की कन्याएँ चली आई थीं उसके कमरे में। उन दोनों ने वह बात वहीं छोड़ दी।

"नियमित समय पर सदा की भाँति कल आवेगी ही आप?"

"हाँ।" जगदंबिका ने कहा संकोच के साथ। उसने अपना उपहार छिपा रक्खा था।

जगदंबिका विदा हुई। लीला और उसकी संगिनियों ने उसे विदा किया। वे सब फिर लीला के कमरे में आईं। वह अख़बारों का ढेर

उठाकर लीला ने अपने कमरे से जुड़े हुए स्नानागार में ले जाकर रख दिया। उसका बाहरी प्रवेश भी खोल दिया उसने।

एक सगिनी के कौतूहल को लीला ने यह कहकर मिटा दिया—"बहुत बुरा दिखाई दे रहा है यहाँ। अनावश्यक है, व्यर्थ ही स्थान अधिकृत कर रक्खा है।" कुछ देर के लिए लीला ने विदा ली। वह देख आई पिता बैठक में बैठे दो-चार संबधियो से परामर्श कर रहे थे। माता रसोई में पके हुए खाने के बटवारे का प्रबंध कर रही थीं। लीला मोटर गैरेज तक गई, वह खुला ही था। लीला अपने स्नानागार मे गई। लीला फिर अपने कमरे में आई। उसने फाउंटेनपेन और एक कागज का टुकड़ा अपनी जेब में रक्खा और सखियो के साथ बातों में मिल गई। सखियाँ खा-पीकर ताश खेलने लग गई थीं।

जगदंबिका घर नही गई। उसके मन में यो ही एक विचार आया कि चलकर गणेशगंज जाना चाहिए। मोटर से उतरकर वह वसंत के कमरे की ओर बढ़ी। कमरे के भीतर था घोर अधकार और बाहर द्वार पर ताला। वह खड़ी रही वहीं पर कुछ देर। एक बड़ी महीन दरज ढूंढ़ निकाली उसने द्वार में। उसमें आँख लगाकर उसने कमरे के भीतर दृष्टि फेंकी—शून्यता और अंधकार! अचानक एक कोने में उसने बिजली की बहुत छोटी चिनगारियाँ उड़तीं देखीं। वह बीच में चमककर बुझ रही थीं। उसके हृदय में विश्वास हुआ—"वसंत है, यहीं भीतर।" वह कुछ देर और चुपचाप खड़ी रही वहीं पर। अब वे बिजली के स्पार्क नहीं उड़ रहे थे। जगदंबिका ने धीरे-धीरे पुकारा—"वसंत!"

कुछ उत्तर नहीं मिला।

फिर कहा उसने—"तुम भीतर ही हो। अभीतक तुम अपना डायनेमो चला रहे थे हाथ से। मैने खूब स्पष्ट उसकी आवाज़ सुनी और बिजली के स्फुलिग उड़ते हुए देखे। प्रकट होओ।"

फिर वही शून्यता।

"देखो तुम मुझे नहीं छल सकते। मैं तुम्हारे विचार का प्रवाह बदलने नहीं आई हूँ। तुम मेरे हो। तुम मुझसे प्रवंचना कर दूसरे के होने जा रहे थे। किसी अदृश्य शक्ति ने तुम्हें रोक लिया। चुपचाप मुझे आने दो भीतर, मै तुम्हारा भेद सुरक्षित ही रक्खूँगी।"

फिर भी द्वार नहीं खुला!

जगदंबिका को अब संशय होने लगा कि ज्योति के कण अपने आप किसी बैटरी के कनेक्शन पर उड़ रहे होंगे। उसने एक बार फिर कहा—"मेरे साथ कोई नही है, मैं अकेली ही हूँ। मुझे आने दो भीतर, नहीं तो मैं अभी किसी को भेजकर शर्माजी और गोपाल बाबू दोनों को यहाँ बुलाती हूँ।"

कोई जैसे चला उसकी ओर। वह वसंत था। द्वार के समीप आकर उसने कहा—"जगदंबिका!" बहुत धीरे-धीरे।

"हाँ।"

"बड़ी दुष्टा हो तुम। बहुत धीरे-धीरे बोलो।"

"द्वार खोलो। क्यों यहाँ छिपे हो?"

"रंग के अनुसधान के लिए।" बाहर का ताला खोलने के लिए वसंत ने ताली फेंकी बाहर।

"यही समय था क्या?" जगदंबिका ने ताला खोल दिया।

"हाँ विचार के प्रवाह का विशेष समय होता है, बहुत संभव है विवाह आदि के लग्न के ही समान।" वसंत ने धीरे से द्वार खोले, जगदंबिका ने भीतर प्रवेश पाया और उसी प्रकार वसंत ने द्वार ढक दिये।

"यहाँ छिपकर बैठे हो अंधकार में तुम?"

"चुपो, धीरे धीरे बोलो।"

"केवल विवाह का लग्न टालने के लिए?"

"नहीं, कदापि नहीं, मैं रंग की खोज में हूँ और मैंने अंशतः उसके रहस्य को जान लिया। विवाह फिर भी हो सकता है और कदा-

चित् यह खोज फिर न हो सकती।"

"तुम झूठ बोल रहे हो। तुम्हारी इस खोज में कुछ भी रक्खा नहीं है, एक ढकोसला-मात्र। सच-सच कहो, तुम्हारी विवाह के लिए अनिच्छा क्यों हुई?"

"अनिच्छा? कौन कहता है?"

"मैं। प्रकाश करो।"

"कुछ देर धीरज रक्खो। चुपचाप बैठी रहो यहाँ पर, मुझे अपना काम समाप्त कर लेने दो।" वसंत फिर अपना डायनेमो चलाने लगा। बीच में एक दो-बार उसने एक छोटी-सी टॉर्च अपने प्रयोग पर चमकाई। अंतिम बार बिजली चमकाकर वह बोला, इस बार ऊँचे स्वर में कुछ—"देखो, जगदंबिका!"

"क्या देखूँ?"

"देखो कौनसा रंग है इस ट्यूब में?"

"पीला।"

उसने उस टॉर्च को बुझा दिया फिर। अंधकार में न-जाने क्या किया। फिर टॉर्च जलाकर पूछा अब?"

"कुछ नारंगी मिला हुआ लाल।"

उसी प्रकार फिर वसंत ने समय के कुछ अंतर पर पूछा—"अब?"

"नीला।"

"देखा तुमने जगदंबिका।" वसंत ने मानो प्रकृति के बहुत बड़े रहस्य को अनावृत कर कहा।

"मैं नहीं समझी। क्या बड़ी बात तुमने यह कर दिखाई!"

"ये तीनों आदि रंग एक बहुत ही सस्ती—मिट्टी के मोल की वस्तु में से निकालकर मैंने तुम्हें दिखाए हैं।"

"यह सत्य अप्रकट नहीं है विज्ञान में। यही रंग का अनुसंधान था तुम्हारा?"

"बहुत स्पष्ट नक्शा उभरा मेरे मन में कुछ प्रयोग एक विशेष क्रम मे करने के लिए—उन्हे मै याद भी न रख सकता फिर, लिख भी न सकता। केवल उसी कारण मैं दौड़ा हुआ यहाँ चला आया।"

"छिपकर चोरी से आने की यह क्या ऐसी बात थी?"

"वे अवश्य मुझे रोक लेते, बलपूर्वक, हठपूर्वक।"

"लेकिन तुम्हारे इस अनुसंधान मे मुझे अभीतक कोई विशेषता नहीं मिली।

"क्यो? रग के सिद्धात मे मैं एक नवीनता जोड़ दूँगा।"

"कैसी?"

"अब तक आदि रग केवल तीन माने जाते हैं—पीला, लाल और नीला। मै पाँच आदि रंग सिद्ध कर दूँगा। श्वेत और कृष्ण को भी दोनो सिरो में स्थित साबित कर दूँगा। इसका एक भाष्य यह भी होगा कि किसी रंग मे कोई भी रंग मौजूद है।"

"केवल सिद्धात से क्या?"

"प्रयोग सिद्ध कर चुका हूँ।"

"लाभ क्या हुआ तुम्हें?"

"अरे लाभ हुआ कैसे नहीं? रंग की बहुत बड़ी फ़ैक्टरी विकसित की जा सकती है बहुत ही अल्प मूलधन पर।"

"फिर क्या होगा?"

"होगा क्या नहीं? देश के हज़ारो बेकार उसमें साकार हो जावेंगे, देश का लाखो रुपया बच जायगा, देश में रंग के दाम सस्ते हो जावेंगे।"

"फिर क्या होगा वसत! आकांक्षा कहाँ तक बढ़ेगी?"

"आकांक्षा कहाँ तक बढ़ेगी? ठीक कहती हो कवयित्री!" वसत ने दीवार पर का बिजली का बटन दबा दिया। प्रकाश सारे कमरे में फैल गया। "आकांक्षा कहीं तक नहीं बढ़ेगी। इसे बंधन कहने पर यदि संसार मुझसे आलसी और अकर्मण्य कहेगा तो मैं उस अपमान को

सह लूँगा, बड़ी ही सरलता से—मैं अभ्यस्त हो चुका हूँ।" वसंत अपने प्रयोग की संधियाँ उखाड़ देने लगा।

"क्यो यह क्या करने लगे ?"

"कुछ है नहीं यह, एक पाखंड ! इसे तोड़-फोड़ देता हूँ कि कोई दूसरा इसका संग्रह न करे। चलो जगदंबिका काम समाप्त हो गया यहाँ का। सब ऐसे ही छोड़ जाऊँगा—है ही क्या, कूड़े में फेंक दिया जायगा। कपड़े-बर्त्तन फिर आदमी भेजकर मँगवा लेंगे। चलो।" वसंत ताला उठाने को बढ़ने लगा।

किसी की अस्तव्यस्त चापें सुनाई पड़ीं प्रवेश-द्वार पर। आवाज़ आई—"कहाँ हो जी, वसंत बाबू !"

वसंत उधर बढ़ा। भीखू कंधे पर लोहा, हाथ में थैला और बग़ल में एक छोटा-सा टुकड़ा चमड़े का लेकर आ धमका भीतर। सब चीज़े वसंत के आगे पटककर बोला—"वाह बाबू ! ख़ूब !"

"क्या हो गया भीखू !" वसत ने पूछा।

"यह सामान रख आए हमारे यहाँ, फिर लौटकर भी नहीं देखा। लो सँभालो इसे रात में बड़ा परेशान होना पड़ा मुझे।" भीखू की दृष्टि जगदंबिका पर पड़ी, मन में सोचने लगा, कौन होगी यह ?

"भीखू मुझे नहीं चाहिए यह अब, मैं तो पॉलिश करना भी छोड़ दे रहा हूँ अब।"

"क्यों ?"

"हो गया काम। केवल एक अभ्यास था वह। स्वभाव में शामिल कर लिया उसे, हो गया बस।"

"बस ? भीखू की ही कमर तोड़नी थी।"

"ऐसा क्यों सोचते हो भीखू ! हम अपना ही बोया हुआ खाते हैं। विचार ही बीज है।"

"बिलकुल नहीं करोगे जूते का काम ?"

"नहीं।" वसंत ने कानस पर से एक जूते का जोड़ा उठाकर उसे

दिखाया—"यह मेरे अज्ञात गुरु का जूता—भरत के खड़ाऊँ की भाँति यह मेरे आदर का धन है। यह सब सामान तुम्हारा हो हुआ भीखू, वह पॉलिश का थैला भी उठा ले आओ।" कहता हुआ वसंत ताला लिए बाहर को जाने लगा।

"ऊँहूँ, मुझे क्या करना है इससे।"

"चलो फिर हमे देर हो रही है।"

सब बाहर आए। वसंत ने ताला लगाकर चाबी मुंशीजी को दी—"किराया मैं स ल भर का दे चुका हूँ। साल समाप्त होने में अभी एक महीने से अधिक ही शेष है। मैं जा रहा हूँ, इसी समय मकान छोड़ कर। कल को अपना सामान लेने आऊँगा।"

"विवाह हो गया आपका?" मुंशीजी ने कहा।

"नही, अब जा रहा हूँ कुछ देर हो गई है। दस बज गया। दूसरा लग्न मिल जायगा कोई।"

भीखू चला गया अकेले ही, लड़खड़ाता हुआ।

जगदंबिका और वसंत मोटर पर सवार होकर चारबाग़ को चले।

वसंत के आ जाने से शर्माजी के सारे घर-भर मे फिर उल्लास छा गया। गोपाल बाबू का नौकर इस समय की प्रतीक्षा करते-करते सो गया था। जल्दी से साइकिल का लैंप जलाकर भागा सिविल लाइंस को यह शुभ समाचार शीघ्रातिशीघ्र उनके पास पहुँचाने।

शर्माजी कहने लगे—"बड़ी नादानी की तुमने वसंत! परमेश्वर की कृपा है। तुम्हें सकुशल पाकर मेरा सारा क्रोध भूला गया। एक लग्न और ग्यारह बजे का मिला है। गोपाल बाबू ने कहला भेजा था, तुम यदि लौट आओ तो उपयोग कर लेने के लिए। आशा किसे थी तुम लौटोगे? शीघ्र तैयार होओ। मैं अभी बरात ले चलता हूँ, मैंने आदमी भेज दिया है इस आशय का संदेश लेकर, उनके पास।"

जगदंबिका ने कहा—"इस समय?" वह उदार होने लगी। उसे प्रसन्नता हुई कि उसके आभूषण फिर काम में आ जावेंगे।

"हाँ।" शर्माजी ने कहा—"मुख्य कार्य तो विवाह का है। बाजा बरात खाना-पीना यह सब प्रदर्शन की चीज़ें हैं।"

फिर सारा घर गूँज उठा। वसंत तैयार होने लगा, गीत-वाद्य, चहल-पहल की कोमल-तीव्र स्वरावलि में।

अचानक गोपाल बाबू के यहाँ से कोई संदेश लाया। उसने उस उत्सव को एक फूक मारकर बुझा दिया। उसने कहा—"गोपाल बाबू की लड़की ने स्नानागार में बंद होकर अपने कपड़ों में पेट्रोल छिड़ककर आग लगा ली और वह मर गई!

शर्माजी—"शिव-शिव" कहकर रह गए।

देवकी कहने लगी—"मैं पहले ही से कहती थी न? माना ही नहीं तुमने।"

वसंत ने सोचा मन में—"किसने मुझे इस नौ बजे के लग्न से दूर खींच लिया स्थानांतरित कर?" उसे बड़ा दुःख और पश्चाताप हुआ। उसी समय उसे दूसरा सिरा दिखाई दिया, आशा और मिलन का—नहीं यह भी इष्ट नहीं है। बीच में, बीच में—यही सुंदर स्थान है।"

देवकी ने कहा—"उतार दो वसंत, यह विवाह की साज-सज्जा।"

जगदंबिका बोली—"यह सब साज-सज्जा उपयोग में लाई जा सकती है। माँ!"

"कैसे?"

"वसंत तुम्हारा-मेरा पूर्वजन्म का संबंध है।"

वसंत ने कोई ध्यान नहीं दिया।

जगदंबिका ने देवकी से कहा—"माँ! मैं अविवाहिता हूँ अभी-तक। मैं कुलीन घर की लड़की हूँ।"

सोकर जागा हुआ उत्सव फिर सो गया और भी गहरी नींद में इसके बाद!

शर्माजी देवकी को साथ लेकर तुरंत ही गोपाल बाबू के यहाँ चले गए। उनके दुसह शोक में सांत्वना देने।

"तुम्हारे अपने पूर्वजन्म के संबंध को प्रकट करने का यह अवसर नहीं है। जाओ तुम भी गोपाल बाबू के यहाँ। लीला पर तुम्हारा भी स्नेह था।"

"तुम न चलोगे ?"

"नहीं, कहीं और जाना है मुझे।"

"कहाँ ?"

"रेज़ीडेंसी की उस शून्य-स्तब्धता में। मुझे पहुँचा दोगी वहाँ ?"

"हाँ, क्या करोगे वहाँ ?"

"ऐसे ही, वहीं जाने को मन कर रहा है।" वसंत ने एक टॉर्च उठाकर जेब में रक्खी।

"चलो।"

फाटक पर वसंत ने कहा—"यहीं उतर जाऊँगा।"

जगदंबिका ने उसे उतार दिया। वह फिर मोटर के लौट जाने का नाटक कर रुक गई थोड़ी ही दूर पर। उसने मोटर बंद कर दी, रोशनी बुझा दी। वह तेज़ी के साथ वसंत के पीछे-पीछे छिपकर चली। यह देखने को कि वह कहाँ जाता है।

खंडहरों में टॉर्च चमकाता हुआ वसंत आगे बढ़ा। जगदंबिका ने जूता खोल दिया, वह नंगे पैर दबाए उसके पीछे-पीछे चलने लगी। एक स्थान पर वह दीवाल, उस पर वसंत का लिखा हुआ अभी लुप्त नहीं हुआ था। उसने उन अक्षरों पर टॉर्च चमकाई।

जगदंबिका भी पढ़ सकी उसे, लिखा था—"लीला।"

वसंत ने जेब से चाकू निकालकर छील डाले वे दोनों अक्षर। टॉर्च बुझा दी उसने वह बैठ गया निकट ही। कुछ खटका हुआ, उधर दृष्टि की उसने। कुछ सफ़ेद-सफ़ेद दिखाई दिया। वह गतिवान् हुआ, उसमें एक रमणी का आकार ऊपर को उठा। वसंत ने सोचा—"किसी रमणी का भूत उठा है !" उसकी कल्पना ने उसमें रेखा भर-दी—"लीला ! वही !" वह धीरे-धीरे, डरते-साहस भरते उधर बढ़ा। उसने

उसका हाथ पकड़ लिया—"लीला!" उसने दूसरे हाथ से उसके मुख पर प्रकाश डालकर कहा—"नहीं, जगदंबिका!" भूल सही कर हाथ छोड़ दिया वसंत ने उसका।

समाप्त